भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला. पुष्प-५७

मानव जीवन का महाकर्त्तव्य

सम्यग्दर्शन

[पूज्य श्री कानजी स्वामीके प्रवचनों में से सम्यग्दर्शन संबंधी अनेक प्रकारके लेखोंका संग्रह]

जगतके जीवोंको धर्म करनेके लिये सर्वप्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शनके समान महान उपकारी तीनकाल तीनलोकमें अन्य कोई नहीं है। सम्यग्दर्शन ऐसी वस्तु है कि यदि जीव उसे एक क्षणमात्र भी प्रगट करे तो उसके भव का अन्त हो जाये। सम्यग्दर्शन किसी गुट (फिरका) की वस्तु नहीं है, किंतु वह तो स्वभावकी वस्तु है। अनंत संसारके अभावका मूल कारण सम्यग्दर्शन है।

卐

सर्व प्रथम

हे जीवो ! यदि आत्मकल्याण करना चाहते हो तो पवित्र सम्यग्दर्शन प्रगट करो ! वह सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये सत्समागमसे स्वतः शुद्ध और समस्त प्रकारसे परिपूर्ण आत्मस्वभावकी रुचि और विश्वास करो, उसीका लक्ष और आश्रय करो। इसके अतिरिक्त जो कुछ है उस सर्वकी रुचि, लक्ष और आश्रय छोड़ो ! त्रिकाली स्वभाव सदा शुद्ध है, परिपूर्ण है और वर्तमानमें भी वह प्रकाशमान है; इससे उसके आश्रयसे—लक्षसे पूर्णताकी प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। यह सम्यग्दर्शन स्वयं कल्याणस्वरूप है और वही सर्व कल्याणका मूल है। ज्ञानी सम्यग्दर्शन को कल्याण की मूर्ति कहते हैं। इसलिये **हे जीवो ! तुम सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका अभ्यास करो !**

निवेदन

संसार में मनुष्यत्व दुर्लभ है; मनुष्यभव अनंतकालमें प्राप्त होता है, किन्तु सम्यग्दर्शन तो इससे भी अनंतगुना दुर्लभ है। मनुष्यत्व अनंतबार प्राप्त हुआ है किन्तु सम्यग्दर्शन पहले कभी प्राप्त नहीं किया। मनुष्यत्व प्राप्त करके भी जीव पुनः संसारमें परिभ्रमण करता है किन्तु सम्यग्दर्शन तो ऐसी वस्तु है कि यदि एकबार भी उसे प्राप्त करले तो जीवका अवश्य मोक्ष हो जाय। इसलिये मनुष्यभवकी अपेक्षा भी अनंतगुना दुर्लभ—ऐसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका प्रयत्न करना ही इस दुर्लभ मानवजीवनका महानकर्त्तव्य है। सम्यग्दर्शनके बिना सच्चा जैनत्व नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन महान दुर्लभ और अपूर्व वस्तु होने पर भी वह अशक्य नहीं है, सत्समागमद्वारा आत्मस्वभावका प्रयत्न करे तो वह सहज वस्तु है, वह आत्माकी अपने घरकी वस्तु है।

इस कालमें इस भरतक्षेत्रमें ऐसे सम्यग्दर्शनधारी महात्माओंकी अत्यन्त ही विरलता है; तथापि अभी बिल्कुल अभाव नहीं है। इस समय भी खारे जलके समुद्रमें मीठे कुएँकी भाँति सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा इस भूमिमें विचर रहे हैं। ऐसे एक पवित्र महात्मा पूज्य श्री कानजी स्वामी अपने स्वानुभवपूर्वक भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शनका स्वरूप समझा रहे हैं, उनके साक्षात् समागममें रहकर सम्यग्दर्शनकी परम महिमा और उसकी प्राप्तिके उपायका श्रवण करना यह मानवजीवनकी कृतार्थता है। पूज्य स्वामीजी अपने कल्याणकारी उपदेशद्वारा सम्यग्दर्शनका जो स्वरूप समझा रहे हैं उसका एक अत्यन्त ही अल्प अंश यहाँ दिया गया है।

जिज्ञासु जीव एक बात खास लक्षमें रखें कि सम्यग्दर्शन प्रगट होने के पहले देशनालब्धि अवश्य होती है। छह द्रव्य और नवपदार्थोंके उपदेशका नाम देशना है और ऐसी देशनासे परिणत आचार्य आदिकी उपलब्धि तथा उनके द्वारा उपदिष्ट अर्थके श्रवण-ग्रहण-धारण और विचारणाकी शक्तिके समागम को देशनालब्धि कहते हैं (देखो षट्खंडागम पुस्तक ६ पृष्ठ

२०४) इसलिये सत्यरुचि पूर्वक सम्यग्ज्ञानीके निकटसे उपदेशका साक्षात् श्रवण किए विना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। मात्र शास्त्र पढ़नेसे सम्यग्दर्शन नही हो सकता, इसलिये जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करके इस संसारके जन्म-मरणसे छूटना हो, पुनः नवीन माताके पेटमें बंदी न होना हो उसे सत्समागमका सेवन करके देशनालब्धि प्रगट करना चाहिये। मात्र एक क्षणका सम्यग्दर्शन जीवके अनंत भवोंका नाश करके उसे भव-समुद्रसे पार ले जाता है।

जिज्ञासु जीवों! इस सम्यक्त्वकी दिव्य महिमाको समझो और सत्समागमसे उस कल्याणकारी सम्यक्त्वको प्राप्त करके इस भवसमुद्रसे पार होओ!—यही इस मानव जीवनका महान कर्त्तव्य है।

वीर सं० २४८७

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख—
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर, सोनगढ़

[नोट—सम्यग्दर्शन भाग २ गुजराती भाषा में छपा है गुजराती के जानकार अवश्य वह पुस्तक मंगालें]

विषय सूची

विष पृष्ठ

मानव जीवन का महान कर्तव्य
सम्यग्दर्शन

भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प. ५७

मानवजीवन का महाकर्तव्य

सम्यग्दर्शन

* दंसण मूलो धम्मो *

१. सम्यक्त्वको नमस्कार

हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यन्त भक्तिपूर्वक [न]मस्कार हो।

इस अनादि संसार में अनन्तानन्त जीव तेरे आश्रय के विना अनन्तानन्त दुःखोंको भोग रहे हैं।

तेरी परम कृपासे स्व-स्वरूपमें रुचि हुई, परम वीतराग स्वभावके प्रति दृढ निश्चय उत्पन्न हुआ, कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ।

हे वीतराग जिनेन्द्र ! आपको अत्यन्त भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। आपने इस पामरके प्रति अनन्तानंत उपकार किये हैं।

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान के लिये इस पामरको परम उपकारभूत हुये है। इसलिये आपको परम भक्तिपूर्वक नमकार करता हूँ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्तिके विना जन्मादि दुःखोंकी आत्यंतिक निवृत्ति नहीं हो सकती। (श्रीमद् राजचन्द्र)

२. सम्यक्त्व का माहात्म्य

(१) सम्यक्त्वहीन जीव यदि पुण्य सहित भी हो तो भी ज्ञानीजन उसे पापी कहते हैं। (गो० सार, जीवकाण्ड गा. ६२३) क्योंकि पुण्य-पाप रहित स्वरूपकी प्रतीति न होने से पुण्यके फलकी मिठासमें पुण्य का व्यय करके स्वरूपकी प्रतीति रहित होनेसे पापमें जायगा।

(२) सम्यक्त्व सहित नरकवास भी भला है और सम्यक्त्वहीन होकर देवलोकका निवास भी शोभास्पद नहीं होता।

(परमात्म प्रकाश)

(३) संसाररूपी अपार समुद्रसे रत्नत्रयरूपी जहाजको पार करनेके लिये सम्यग्दर्शन चतुर खेवटिया (नाविक) के समान है।

(४) जिस जीवके सम्यग्दर्शन है वह अनन्त सुख पाता है और जिस जीवके सम्यग्दर्शन नहीं है वह यदि पुण्य करे तो भी अनन्त दुःखों को भोगता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनकी अनेकविध महिमा है, इसलिये जो अनन्त सुख चाहते हैं उन समस्त जीवोंको उसे प्राप्त करनेका सर्व प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

श्रीमद् राजचन्द्रने भी आत्मसिद्धिके प्रथम पदमें कहा है कि—

"जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनन्त,
समजाव्युं ते पद नमूं, श्री सद्गुरु भगवंत ॥ १ ॥

जिस स्वरूपको समझे विना अर्थात् आत्म प्रतीति के विना यानी सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये विना अनादि कालसे केवल अनन्त दुःख ही भोगा है उस अनन्त दुःखसे मुक्त होनेका एक मात्र उपाय सम्यग्दर्शन है, दूसरा नहीं।

यह सम्यग्दर्शन आत्माका ही स्व-स्वभावी गुण है।
सुखी होनेके लिये सम्यदर्शन को प्रगट करो॥

३. आत्म स्वरूपकी यथार्थ समझ सुलभ है।

अपना आत्मस्वरूप समझना सुगम है किन्तु अनादिसे स्वरूप के अनभ्यासके कारण कठिन मालुम होता है। यदि कोई यथार्थ रुचिपूर्वक समझना चाहे तो वह सरल है।

चाहे जितना चतुर कारीगर हो तथापि वह दो घड़ी में मकान तैयार नहीं कर सकता किन्तु यदि आत्मस्वरूपकी पहिचान करना चाहे तो वह दो घड़ीमें भी हो सकती है। आठ वर्षका बालक एक मनका बोझा नहीं उठा सकता किन्तु यथार्थ समझके द्वारा आत्माकी प्रतीति करके केवलज्ञानको प्राप्त कर सकता है। आत्मा परद्रव्यमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता किन्तु स्वद्रव्यमें पुरुषार्थके द्वारा समस्त अज्ञानका नाश करके सम्यग्ज्ञानको प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। स्व में परिवर्तन करनेके लिये आत्मा संपूर्ण स्वतंत्र है किन्तु परमें कुछ भी करनेके लिये आत्मामें किंचित् मात्र सामर्थ्य नहीं है। आत्मामें इतना अपार स्वाधीन पुरुषार्थ विद्यमान है कि यदि वह उल्टा चले तो दो घड़ीमें सातवें नरक जा सकता है और यदि सीधा चले तो दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो सकता है।

परमागम श्री समयसारजीमें कहा है कि—'यदि यह आत्मा अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको पुद्गल द्रव्यसे भिन्न दो घड़ीके लिये अनुभव करे (उसमें लीन होजाय) परिषहोंके आने पर भी न डिगे तो घातिया कर्मोंका नाश करके केवलज्ञानको प्राप्त करके मोक्षको प्राप्त हो जाय। आत्मानुभवकी ऐसी महिमा है तो मिथ्यात्वका नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्तिका होना सुलभ ही है, इसलिये श्री परम गुरुओंने यही उपदेश प्रधानतासे दिया है।'

श्री समयसारप्रवचनोंमें आत्माकी पहिचान करनेके लिये बारंबार प्रेरणा की गई है कि—

(१) चैतन्यके विलासरूप आनन्दको जरा पृथक् करके देख, उस आनन्दके भीतर देखने पर तू शरीरादिके मोहको तत्काल छोड़ सकेगा। 'झगिति' अर्थात् झटसे छोड़ सकेगा, यह बात सरल है क्योंकि यह तेरे स्वभावकी बात है।

(२) सातवें नरककी अनन्त वेदनामें पड़े हुओंने भी आत्मानुभव प्राप्त किया है तब यहां पर सातवें नरकके बराबर तो पीड़ा नहीं है। मनुष्य भव प्राप्त करके रोना क्या रोया करता है। अब सत्समागमसे आत्माकी पहिचान करके आत्मानुभव कर। इस प्रकार समयसार प्रवचनोंमें बारंबार—हजारोंबार आत्मानुभव करने की प्रेरणा की है जैनशास्त्रोंका ध्येयबिन्दु ही आत्मस्वरूपकी पहिचान कराना है।

अनुभव प्रकाशग्रन्थमें आत्मानुभवकी प्रेरणा करते हुये कहा है कि कोई यह जाने कि आजके समयमें स्वरूपकी प्राप्ति कठिन है तो समझना चाहिये कि वह स्वरूपकी चाहको मिटानेवाला बहिरात्मा है ······ ··· जब वह निठल्ला होता है तब विकथा करने लगता है। यदि वह तब स्वरूपकी प्रेरणा अनुभव करे तो उसे कौन रोक सकता है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि वह पर परिणामको तो सुगम और निजपरिणामको विषम बताता है। स्वयं देखता है जानता है तथापि यह कहते हुये लज्जा नहीं आती कि देखा नहीं जाता, जाना नहीं जाता ·· ·· ··· जिसका जयगान भव्य जीव गाते है जिसकी अपार महिमाको जाननेसे महा भव भ्रमण दूर होता है ऐसा यह समयसार (आत्मस्वरूप) अविकार जान लेना चाहिये।

यह जीव अनादि कालसे अज्ञानके कारण परद्रव्यको अपना करनेके लिये प्रयत्न कर रहा है और शरीरादिको अपना बनाकर रखना चाहता है किन्तु पर द्रव्य का परिणमन जीवके आधीन नहीं है इसलिये अनादिसे जीवके परिश्रम के फलमें अज्ञात हुआ लेकिन एक परमाणु भी जीवका नहीं हुआ। अनादिकालसे देह दृष्टि पूर्वक शरीरको अपना मान रक्खा है किन्तु अभी तक एक भी रजकण न तो जीवका हुआ है और न

होनेवाला है दोनों द्रव्य त्रिकाल भिन्न हैं। जीव यदि अपने स्वरूपको यथार्थ समझना चाहे तो वह पुरुषार्थके द्वारा अल्पकालमें समझ सकता है। जीव अपने स्वरूपको जब समझना चाहे तब समझ सकता है, स्वरूप के समझनेमें अनन्त काल नहीं लगता, इसलिये यथार्थ समझ सुलभ है।

यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी रुचिके अभावमें ही जीव अनादि काल से अपने स्वरूपको नहीं समझ पाया इसलिये आत्मस्वरूप समझनेकी रुचि करो और ज्ञान प्राप्त करो।

४. द्रव्यदृष्टिकी महिमा

जो कोई जीव एकबार भी द्रव्यदृष्टि धारण कर लेता है उसे अवश्य मोक्षकी प्राप्ति होती है।

(१) द्रव्यदृष्टिमें भव नहीं:—आत्मा वस्तु है। वस्तुका मतलब है—सामर्थ्यसे परिपूर्ण, त्रिकालमें एकरूप अवस्थित रहनेवाला द्रव्य। इस द्रव्यका वर्तमान तो सर्वदा उपस्थित है ही। अब यदि वह वर्तमान किसी निमित्ताधीन है तो समझलो कि विकार है अर्थात् संसार है। और यदि वह वर्तमान स्वाश्रय स्थित है, तो द्रव्यमें विकार न होनेसे पर्यायमें भी विकार नहीं है अर्थात् वही मोक्ष है। दृष्टिने जिस द्रव्यको लक्ष्य किया है उस द्रव्यमें भव या भवका भाव नहीं है इसलिये उस द्रव्यको लक्षित करनेवाली अवस्थामें भी भव या भवका भाव नहीं है।

यदि आत्मा अपनी वर्तमान अवस्थाको "स्वलक्ष्य" से रहित धारण कर रहा है तो वह विकारी है। लेकिन फिर भी वह विकार मात्र एक समय (क्षण) पर्यन्त ही रहनेवाला है, नित्य द्रव्यमें वह विकार नहीं है। इस वास्ते नित्य-त्रिकालवर्ती द्रव्यको लक्ष्य करके जो वर्तमान अवस्था होती है उसमें कमीपना या विकार नही है। और जहां कमीपना या विकार नहीं है वहाँ भवका भाव नहीं है। और भवका भाव नहीं, इसलिये भव भी नहीं है। इसलिये द्रव्य स्वभावमें भव न होने से द्रव्य स्वभावकी दृष्टिमें भवका अभाव ही है। अर्थात् द्रव्यदृष्टि भवको स्वीकारती नहीं है।

आत्माका स्वभाव निःसंदेह है, इसलिये उसमें १ संदेह, २ रागद्वेष या ३ भव नहीं है। अतः सम्यग्दृष्टिको निजस्वरूपका १ संदेह नहीं २ राग-द्वेष का आदर नहीं, ३ भवकी शंका नहीं। दृष्टि मात्र स्वभावको ही देखती है। दृष्टि पर वस्तु या पर निमित्तकी अपेक्षासे होने वाले विभाव भावोंको भी स्वीकारती नहीं है। इसलिये विभाव भावके निमित्तसे होने वाले भव भी द्रव्यदृष्टिके लक्ष्यमें नहीं होते। दृष्टि मात्र स्ववस्तुको ही देखती है, इसलिये उसमें परद्रव्य संबन्धी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक संबन्धके सिवायका अकेला स्वभावभाव ही द्रव्यदृष्टिका विषय है। स्वभाव भावमें यानी द्रव्यदृष्टिमें भव नहीं। इस तरह स्वदृष्टिका जोर नये भवके बन्धनको उपस्थित नहीं होने देता। जहाँ द्रव्यदृष्टि नहीं होती वहाँ भव का बन्धन उपस्थित हुये बिना नहीं रह सकता। क्योंकि उसकी दृष्टि द्रव्य पर नहीं, पर्याय पर है तथा रागयुक्त है। ऐसी दृष्टि तो बन्धन का ही कारण हो ी है।

२. द्रव्यदृष्टि भवको बिगड़ने नहीं देती—

द्रव्य दृष्टि होनेके बाद चारित्र में कुछ अस्थिरता रह भी जाय और एक दो भव हो भी जाय तो भी वे भव बिगड़ते नहीं हैं।

द्रव्यदृष्टिके बाद जीव कदाचित् वैरियोंको संहारार्थ युद्धमें तत्पर हो, बाणके ऊपर बाण छोड़ रहा हो, नील, कापोत लेश्याके अशुभ भाव कभी कभी आते भी हों तो भी उस वक्त नये भवकी आयुका बन्ध नहीं होता। क्योंकि अन्तरंगमें द्रव्यदृष्टिका जोर बेहद बढ़ा हुआ रहता है। और वह जोर भवको बिगड़ने देता नहीं है। तथैव भव-अवस्थाको बढ़ने देता नहीं है। जहां द्रव्य स्वभाव पर दृष्टि पड़ी कि स्वभाव अपना कार्य बिना किये न रहेगा, इसलिये द्रव्यदृष्टि होनेके बाद नीचगतिका बंध या संसारवृद्धि नहीं हो सकती, ऐसा यह द्रव्यस्वभावका वर्णन है।

(२१-६-४४ की चर्चाके आधारसे—सोनगढ़)

(३) द्रव्य दृष्टिको क्या मान्य है ।

द्रव्यदृष्टि कहती है कि "मै मात्र आत्माको ही स्वीकार करती हूँ"। आत्मामें परका संबन्ध नही हो सकता अतः पर संबंधी भावोंको यह दृष्टि स्वीकारती नही है। अरे! चौदह गुणस्थानके भेदोंको भी पर संयोगसे होनेके कारण यह दृष्टि स्वीकारती नही है। इस दृष्टिको तो मात्र आत्मस्वभाव ही मान्य है। जो जिसका स्वभाव है, उसमें उसका कभी भी किंचित् भी अभाव नहीं हो सकता और जो किंचित् भी अभाव या हीनाधिक हो सके यह वस्तुका स्वभाव नहीं है। अर्थात् जो त्रिकालमें एकरूप रहे वही वस्तुका स्वभाव है। यह दृष्टि इसी स्वभावको ही स्वीकारती है। द्रव्यदृष्टि कहती है कि मैं जीवको मानती हूँ, परन्तु जीव जितना कि पर संयोगरहित हो अर्थात् पदार्थों के संबंधसे नितान्त रहित जो अकेला स्वतन्त्र रहे, उसे ही यह दृष्टि ग्रहण करती है। अपने लक्ष्यकी-चैतन्य भगवानकी, पहिचान करके निमित्तसे कराऊं तो चैतन्य स्वभावकी हीनता प्रदर्शित होती है। मेरे चैतन्य स्वभावको परकी अपेक्षा नही। एक समयमें परिपूर्ण द्रव्य ही मुझे मान्य है।

(१८-१-४५ के दिन व्याख्यानसे समयसार गाथा ६८)

(४) मोक्ष भी द्रव्यदृष्टिके आधीन है ।

जो कोई जीव एकबार भी द्रव्यदृष्टि को धारण कर लेता है वह जीव अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है। द्रव्य दृष्टिके बिना जीव अनंतानंत उपाय करे तो भी मोक्ष नही पा सकता। श्रीमद् राजचन्द्रजी "सम्यक्त्वकी प्रतिज्ञा" के विवरणमें कहते हैं कि सम्यक्त्वको ग्रहण करने से ग्रहणकर्ता की इच्छा न हो तो भी ग्रहणकर्ताको सम्यक्त्वकी अतुल शक्तिकी प्रेरणा से मोक्ष जबरदस्ती प्राप्त करना ही पड़ता है तथा वे आगे कहते हैं कि सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति बिना जन्म मरणके दुःखकी आत्यंतिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती। इसलिये जो मोक्षका अभिलाषी हो उसे अवश्य द्रव्यदृष्टि

धारण करनी चाहिये। जिस जीवको द्रव्यदृष्टि प्राप्त होगई उसकी मुक्ति होगी ही, और जिसे यह दृष्टि प्राप्त नहीं हुई उसको मुक्ति हो ही नहीं सकती इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति दृष्टिके आधीन है।

(५) ज्ञान भी दृष्टिके आधीन है।

जिस जीवको द्रव्यदृष्टि नहीं, उसका ज्ञान सच्चा नहीं। भले ही जीव ग्यारह अंगका ज्ञान प्राप्त करले, परन्तु यदि द्रव्यदृष्टि प्राप्त नहीं तो वह सर्वज्ञान मिथ्या है। और भले ही नव तत्त्वोंके नाम भी न जानता हो, परन्तु यदि उसे द्रव्य दृष्टि प्राप्त है तो उसका ज्ञान सच्चा है। सम्यग्दर्शनको नमस्कार करते हुये श्रीमद् राजचन्द्रजी फरमाते हैं कि "अनन्तकालसे जो ज्ञान भवका कारण होता था उस ज्ञानको एक क्षणमें जात्यंतर करके जिसने भव निवृत्तिरूप परिणत कर दिया उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार हो।" द्रव्यदृष्टि रहित ज्ञान मिथ्याज्ञान है और संसारका कारण है। द्रव्य दृष्टि प्राप्त करते ही वह ज्ञान सम्यक्पना प्राप्त करता है। इसलिये ज्ञान भी दृष्टिके आधीन है।*

(६) विपरीतदृष्टि की विपरीतताका माहात्म्य

जिन जीवोंको उपर्युक्त द्रव्यदृष्टि नहीं होती उन्हें विपरीत दृष्टि होती है। (विपरीतदृष्टिके अन्य अनेक नाम हैं—जैसे कि मिथ्यादृष्टि, व्यवहारदृष्टि, अयथार्थदृष्टि, झूठीदृष्टि, पर्यायदृष्टि, विकारदृष्टि, अभूतार्थदृष्टि, ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं।) यह विपरीतदृष्टि एक समयमें अखंड परिपूर्ण स्वभावको नहीं मानती है। अर्थात् इस दृष्टिमें अखंड परिपूर्ण वस्तुको न माननेकी अनन्त विपरीत सामर्थ्य भरी हुई है। पूर्ण स्वभावका निरादर करनेवाली दृष्टि अनन्त २ संसारका कारण है। और ऐसी दृष्टि

---

* नोट—द्रव्यदृष्टि कहो या आत्मस्वरूपकी पहिचान कहो एक ही बात है। इसीतरह सम्यग्दृष्टि, परमार्थदृष्टि, वस्तुदृष्टि, स्वभावदृष्टि, यथार्थदृष्टि, भूतार्थदृष्टि ये सब एकार्थ वाचक हैं।

निरन्तर समयमें महान पापका कारण है। हिंसा, चोरी, झूठ, शिकार आदि सात व्यसनोंके पापोंसे भी बढ़कर अनन्त गुना महापाप यह दृष्टि है।

(७) द्रव्यदृष्टि ही परम कर्तव्य है।

अनादिकालसे चले आये इन महान दुःखोंका नाश करनेके लिये उनके मूलभूत बीजको यानी मिथ्यात्वको आत्मस्वरूपकी पहिचानरूप सम्यक्त्व के द्वारा नाश करना यही जीव (आत्मा) का परम कर्तव्य है। अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हुये इस जीवने दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा आदि सर्व शुभकृत्य अपनी मान्यता के अनुसार अनन्तबार किए हैं और पुण्य करके अनन्तबार स्वर्ग का देव हुआ है, तो भी संसार परिभ्रमण टला नहि, इसका मात्र कारण यही है कि जीवने अपने आत्मस्वरूप को जाना नहीं, सच्ची दृष्टि प्राप्त की नहीं। और सच्ची दृष्टि किए विना भवका अंत नहीं आ सकता। इसलिये आत्मकल्याणार्थ द्रव्य दृष्टि प्राप्त कर सम्यग्दर्शन प्रगटाना यही सब जीवोंका कर्तव्य है। और इस कर्तव्य को स्वलक्षी पुरुषार्थ द्वारा प्रत्येक जीव कर सकता है। इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से जीवका अवश्यमेव मोक्ष होता है।

५. सम्यक्त्वकी प्रतिज्ञा

(श्रीमद् राजचन्द्र)

"मुझे ग्रहण करनेसे, ग्रहण करनेवाले की इच्छा न होने पर भी मुझे उसको बलात् मोक्ष ले जाना पड़ता है, इसलिये मुझे ग्रहण करनेसे पहले यदि वह विचार करे कि मोक्ष जाने की इच्छा को बदल देंगे तो भी उससे काम नहीं चलेगा। मुझे ग्रहण करने के बाद, मुझे उसे मोक्ष पहुंचाना ही चाहिये।

कदाचित् मुझे ग्रहण करनेवाला शिथिल हो जाय तो भी यदि हो सका तो उसी भवमें अन्यथा अधिकसे अधिक पंद्रह भवमें मुझे उसे मोक्ष पहुँचा देना चाहिये।

कदाचित् वह मुझे छोड़कर मुझसे विरुद्ध आचरण करे अथवा

प्रबलसे प्रबल मोहको धारण करे तो भी अर्ध पुद्गल परावर्तनके अन्दर मुझे उसे मोक्ष पहुंचा देना चाहिये, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है ”

६. अविरत सम्यग्दृष्टिका परिणाम ।

अविरत सम्यग्दृष्टि के भी अज्ञानमय राग-द्वेष-मोह नहीं होते। मिथ्यात्व सहित रागादिक हों वही अज्ञान के पक्ष में गिने जाते हैं। सम्यक्त्व सहित रागादिक अज्ञान के पक्ष में नहीं हैं।

सम्यग्दृष्टि के निरन्तर ज्ञानमय ही परिणमन होता है। उसे चारित्र की अशक्ति से जो रागादि होते हैं उनका स्वामित्व उसे नहीं है। रागादिक को रोग समान जानकर वह वर्तता है और अपनी शक्ति अनुसार उन्हें काटता जाता है। इसलिये ज्ञानी को जो रागादिक होते हैं वे विद्यमान होने पर भी अविद्यमान जैसे हैं, वह आगामी सामान्य संसारका बंध नहीं करता, मात्र अल्पस्थिति-अनुभागवाला बंध करता है। ऐसी अल्पबंधको गौण करके बन्ध नहीं गिना जाता।

(समयसार-आश्रव अधिकार)

७. आत्महिताभिलाषीका प्रथम कर्तव्य

तत्त्वनिर्णय

तत्त्व निर्णयरूप धर्म तो, बालक, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान, निर्धन सुक्षेत्री तथा कुक्षेत्री आदि सभी अवस्थामें प्राप्त होने योग्य है, इसलिये जो पुरुष अपना हित चाहता है उसे सबसे पहले यह तत्त्व निर्णयरूप कार्य ही करना योग्य है। कहा है कि:—

न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशांतरे प्रार्थना।
केषांचिन्न बलक्षयो न तु भयं पीड़ा न कस्माश्च न ॥
सावद्यं न न रोग जन्म पतनं नैवान्य सेवा न हि।
चिद्रूपं स्मरणे फलं बहुतरं किन्नाद्रियंते बुधाः ॥

अर्थ—चिद्रूप (ज्ञान स्वरूप) आत्माका स्मरण करने में न तो क्लेश होता है, न धन खर्च करना पड़ता है, न ही देशांतरमें जाना पड़ता है, न कोई पासमें प्रार्थना करनी पड़ती है, न बलका क्षय होता है, न ही किसी तरफसे भय अथवा पीड़ा होती है; और वह सावद्य भी (पापका कार्य) नहीं है, उससे रोग अथवा जन्म मरणमें पड़ना नहीं पड़ता, किसीकी सेवा नहीं करनी पड़ती, ऐसी विना किसी कठिनाईके ज्ञान स्वरूप आत्माके स्मरणका बहुत फल है तब फिर समझदार पुरुष उसे क्यों नहीं ग्रहण करते ?

और फिर जो तत्त्व निर्णयके सन्मुख नहीं हुये हैं, उन्हें जागृत करनेके लिये उलाहना दिया है कि—

साहीणे गुरु जोगे जेण सुणंतीह धम्मवयणाई ।
ते धिट्ठदुट्ठ चित्ता अह सुहडा भवभय विहुणा ॥

अर्थ—गुरुका योग स्वाधीन होने पर भी धर्म वचनोंको नहीं सुनते वे धृष्ट और दुष्ट चित्तवाले हैं अथवा वे भवभय रहित (जिस संसार भयसे तीर्थंकरादि डरे उससे भी नहीं डरनेवाले उल्टे) सुभट है।

जो शास्त्राभ्यासके द्वारा तत्त्व निर्णय नहीं करते और विषय कषायके कार्योंमें ही मग्न रहते है वे अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि हैं तथा जो सम्यग्दर्शनके विना पूजा, दान, तप, शील, संयमादि व्यवहार धर्ममें (शुभभावमें) मग्न हैं वे शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि है। इसलिये भाग्योदय से जिनने मनुष्य पर्याय पाई है उनको तो सर्व धर्मका मूल कारण सम्यग्दर्शन और उसका कारण तत्त्व—निर्णय तथा उसका भी जो मूल कारण शास्त्राभ्यास है वह अवश्य करना चाहिये।

किंतु जो ऐसे अवसरको व्यर्थ गँवाते है उन पर बुद्धिमान करुणा करके कहते है कि:—

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने ।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यंति ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥

(आत्मानुशासन गाथा—९४)

अर्थः—संसारमें बुद्धिका होना ही दुर्लभ है और फिर उसमें भी परलोक के लिये बुद्धिका होना तो और भी दुर्लभ है, ऐसी बुद्धि पाकर जो प्रमाद करते हैं उन जीवों को ज्ञानी बहुत ही शोचनीय दृष्टि से देखते हैं।

इसलिये जिसे सच्चा जैनी होना है उसे तो शास्त्रके आधार से तत्त्व निर्णय करना उचित है किन्तु जो तत्त्व निर्णय तो नहीं करता और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य संयम, संतोष आदि सभी कार्य करता है उसके यह सब कार्य असत्य हैं।

इसलिये आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परंपरासे गुरुओं के उपदेश और स्वानुभवके द्वारा तत्त्वका निर्णय करना चाहिये। जिन वचन तो अपार है उसका पार तो श्री गणधर देव भी प्राप्त नहीं कर सके इसलिये जो मोक्षमार्ग की प्रयोजनभूत रकम है उसे निर्णय पूर्वक अवश्य जाननी चाहिये। कहा भी है कि—

अंतोणत्थि सुईणं कालो थोआवयं च दुम्मेहा।
तंणवर सिक्खियव्वं जिं जर मरणक्खयं कुणहि॥

(पाहुड दोहा ६८)

अर्थः—श्रुतियों का अन्त नहीं है काल थोड़ा है और हम निर्बुद्धि (अल्पबुद्धिवाले) हैं इसलिये हे जीव! तुझे तो वह सीखना चाहिये तू जन्म मरण का नाश कर सके।

आत्महितके लिये सर्व प्रथम सर्वज्ञका निर्णय करना चाहिये।

तुम्हें यदि अपना भला करना हो तो सर्व आत्महित का मूलकारण जो आप्त है उसके सच्चे स्वरूप का निर्णय करके ज्ञान में लाओ क्योंकि सर्व जीवोंको सुख प्रिय है। सुख भावकर्मों के नाशसे प्राप्त होता है, भाव कर्मोंका नाश सम्यक्चारित्रसे होता है, सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान पूर्वक होता है, सम्यग्ज्ञान आगमसे होता है, आगम किसी वीतराग पुरुष की वाणीसे उत्पन्न होता है और वह वाणी किसी वीतराग पुरुषके

आश्रित है इसलिये जो सत्पुरुष हैं उन्हें अपने कल्याणके लिये सर्व सुखका मूलकारण जो आप्त—अरहंत सर्वज्ञ है उनका युक्तिपूर्वक भलीभांति सर्व प्रथम निर्णय करके आश्रय लेना चाहिये।

अब जिनका उपदेश सुनते है और जिनके कहे हुये मार्ग पर चलना चाहते हैं तथा जिनकी सेवा पूजा, आस्तिकता, जाप, स्मरण, स्तोत्र, नमस्कार और ध्यान करते हैं ऐसे जो अरहंत सर्वज्ञ हैं उनका स्वरूप पहले अपने ज्ञानमें जो प्रतिभासित हुआ ही नहीं है तब फिर तुम निश्चय किये बिना किसका सेवन करते हो।

लोक में भी इसी प्रकार—अत्यत निष्प्रयोजन बात का निर्णय करके प्रवृत्ति की जाती है और इधर तुम आत्महितके मूल आधारभूत अरहंतदेवका निर्णय किये बिना ही प्रवृत्ति कर रहे हो यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

और फिर तुम्हें ही निर्णय करने योग्य ज्ञान भी प्राप्त हुआ है इसलिये तुम इस अवसर को वृथा मत गंवाओ। आलस्य आदि छोड़कर उसके निर्णयमें अपनेको लगाओ, जिससे तुम्हे वस्तुका स्वरूप, जीवादिका स्वरूप, स्वपरका भेद विज्ञान, आत्माका स्वरूप, हेय उपादेय और शुभ-अशुभ-शुद्ध अवस्थारूप, अपने पद अपदका स्वरूप सर्वप्रकारसे यथार्थ ज्ञात हो सके। इसलिये सर्व मनोरथ सिद्ध करनेका उपाय जो अर्हंतसर्वज्ञ का यथार्थ ज्ञान है वह जिस प्रकार से सिद्ध हो वह प्रथम करना योग्य है।

सबसे पहले अर्हंत सर्वज्ञका निर्णय करने रूप कार्य करना चाहिये यही श्री गुरुकी मूल शिक्षा है।

सच्चा ज्ञान सम्यग्दृष्टि के होता है।

अपने अपने प्रकरणमें अपना अपना ज्ञेय सम्बन्धी यथार्थ जाननेका अल्प अथवा विशेष ज्ञान सर्वज्ञके होता है क्योंकि लौकिक कार्य तो सभी जीव यथार्थ ही करते हैं इसलिये लौकिक सम्यग्ज्ञान सभी जीवोंके

थोड़ा बहुत बना ही रहता है किन्तु मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत जो आप्त आगम आदि पदार्थ हैं उनका यथार्थ ज्ञान सम्यग्दृष्टिको ही होता है तथा सर्वज्ञेय का ज्ञान केवली भगवानके ही होता है, यह जानना चाहिये।

जिनमत की आज्ञा

कोई कहता है कि सर्वज्ञकी सत्ताका निश्चय हमसे नहीं हुआ तो क्या हुआ? यह देव तो सच्चे हैं, इनकी पूजन आदि करना निष्फल थोड़े ही जाता है?

उत्तर—जो तुम्हारी किंचित् मंद कषायरूप परिणति होगी तो पुण्य बन्ध तो होगा किन्तु जिनमतमें तो देवके दर्शनसे आत्मदर्शनरूप फल होना कहा है वह तो नियमसे सर्वज्ञकी सत्ता जाननेसे ही होगा अन्य प्रकार से नहीं; यही श्री प्रवचनसारमें कहा है।

और फिर तुम लौकिक कार्योंमें तो इतने चतुर हो कि वस्तुकी सत्ता आदि का निश्चय किये बिना सर्वथा प्रवृत्ति नहीं करते और यहाँ तुम सत्ताका निश्चय भी न करके सयाने अनध्यवसायी (बिना निर्णय के) होकर प्रवृत्ति करते हो यह बड़ा आश्चर्य है? श्री श्लोकवार्तिकमें कहा है कि—जिसके सत्ता का निश्चय नहीं हुआ, परीक्षकको उसकी स्तुति आदि कैसे करना उचित है? इसलिये तुम सर्व कार्यों से पहले अपने ज्ञान में सर्वज्ञकी सत्ताको सिद्ध करो, यही धर्मका मूल है और यही जिनाम्नाय है।

आत्मकल्याणके अभिलाषियोंसे अनुरोध

जिन्हें आत्मकल्याण करना है उन्हें पहले जिनवचन के आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, परंपरा गुरुका उपदेश, तथा स्वानुभव इत्यादि के द्वारा प्रमाण नय निक्षेप आदि उपायसे वचनकी सत्यताका अपने ज्ञान में निर्णय करके गम्यमान हुये सत्यरूप साधनके बलसे उत्पन्न जो अनुमान है उससे सर्वज्ञकी सत्ताको सिद्ध करके उसका श्रद्धान ज्ञान-दर्शन पूजन भक्ति और स्तोत्र नमस्कारादि करना चाहिये।

अपना भला बुरा अपने परिणामोंसे ही होता है इस प्रकार मानने वाला भगवानका सच्चा सेवक है ।

जो यह मानता है कि अपना भला बुरा होना अपने परिणामों पर निर्भर है और उसी रूप स्वयं प्रवृत्ति करता है तथा अशुद्ध कार्यों को छोड़ता है वही जिनदेवका सच्चा सेवक है ।

जिसे जिनदेवका सच्चा सेवक होना हो तथा जिनदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गरूप प्रवृत्ति करना हो उसे सबसे पहले जिनदेवके सच्चे स्वरूप का अपने ज्ञानमें निर्णय करके उसका श्रद्धान करना चाहिये, उसका यही कर्तव्य है ।

८. श्रावकों का प्रथम कर्तव्य

श्रावक को प्रथम क्या करना चाहिये ?

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं ।
तंझाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ॥ ८६ ॥

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरेरिव निष्कंपम् ।
तत् ध्याने ध्यायते श्रावक ! दुःखक्षयार्थे ॥ ८६ ॥

अर्थः—प्रथम तो श्रावक को, सुनिर्मल कहने से भलीभांति निर्मल और मेरुवत् निष्कंप, अचल और चलमलिन तथा अगाढ़—इन तीन दूषणों से रहित अत्यन्त निश्चल—ऐसे सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसे (सम्यक्त्वके विषय भूत एकरूप आत्मा को) ध्यान में ध्याना चाहिये, किसलिये ध्याना चाहिये ?-दुःख के क्षय के लिये ।

भावार्थः—श्रावक को प्रथम तो निरतिचार निश्चल सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसका ध्यान करना चाहिये कि जिस सम्यक्त्व की भावना स गृहस्थ को गृहकार्य सम्बन्धी आकुलता, क्षोभ, दुःख हो वह मिट जाये। कार्य के बिगड़ने—सुधरनेमें वस्तु के स्वरूपका विचार आये उस समय

दुःख मिट जाता है। सम्यग्दृष्टि को ऐसा विचार होता है कि सर्वज्ञ ने जैसा वस्तु का स्वरूप जाना है, वैसा ही निरन्तर परिणमित होता है और वही होता है; उसमें इष्ट-अनिष्ट मानकर दुःखी–सुखी होना वह निष्फल है, ऐसे विचार से दुःख दूर होता है वह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है; इससे सम्यक्त्व का ध्यान करना कहा है।

सम्यक्त्व के ध्यान की महिमा

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेई दुट्ठट्ठ कम्माणि ॥ ८७ ॥

सम्यक्त्वं यः ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति सः जीवः।
सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षपयति दुष्टाष्ट कर्माणि ॥ ८७ ॥

अर्थः—जो जीव सम्यक्त्व की आराधना करता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है, और वह सम्यक्त्वरूप परिणमित होने से, जो दुष्ट आठ कर्म है उनका क्षय करता है।

भावार्थः—सम्यक्त्व का ध्यान ऐसा है कि—यदि पहले सम्यक्त्व न हुआ हो, तथापि उसके स्वरूप को जानकर उसका ध्यान करे तो वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है। और सम्यक्त्व प्राप्त होने पर जीव के परिणाम ऐसे होते हैं कि संसारके कारणरूप जो दुष्ट आठ कर्म हैं उनका क्षय होता है, सम्यक्त्व होते ही कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा होती जाती है। अनुक्रम से मुनि हो उस समय चारित्र और शुक्लध्यान उसके सहकारी होने पर सर्व कर्मों का नाश होता है।

सम्यक्त्व का माहात्म्य

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे भविया तं जाणइ सम्मत्तं माहप्पं ॥८८॥

किं बहुना भणतेन ये सिद्धाः नरवराः गते काले।
सेत्स्यांति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्व माहात्म्यम् ॥८८॥

अर्थः—भगवान सूत्रकार कहते हैं कि:—"अधिक कहने से क्या साध्य है ? जो नरप्रधान भूतकाल में सिद्ध हुए हैं तथा भविष्य में सिद्ध होंगे वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो।"

भावार्थः—इस सम्यक्त्व का ऐसा माहात्म्य है कि आठ कर्मोंका नाश करके जो भूतकालमें मुक्तिको प्राप्त हुए है और भविष्य में होंगे, वे इस सम्यक्त्व से ही हुए है और होंगे। इससे आचार्य देव कहते हैं कि विशेष क्या कहा जाये ? संक्षेप में समझ लो कि मुक्तिका प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है। ऐसा मत समझो कि गृहस्थों का क्या धर्म होता है! यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है कि जो सर्व धर्म के अंग को (श्रावक धर्म और मुनिधर्म को) सफल करता है।

अब ऐसा कहते है कि—**जो निरन्तर सम्यक्त्वका पालन करते हैं वे धन्य हैं**:—

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ।। ८९ ।।
ते धन्याः सुकृतार्थाः ते शूराः तेऽपि पंडिता मनुजाः।
सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेपि न मलिनितं यैः ।। ८९ ।।

अर्थः—जिस पुरुषको मुक्तिका करने वाला सम्यक्त्व है, और उसे (सम्यक्त्व को) स्वप्नावस्थामें भी मलिन नहीं किया है—अतिचार नहीं लगाया है वह पुरुष धन्य है, वही मनुष्य है, वही कृतार्थ है, वही शूरवीर है और वही पंडित है।

भावार्थः—लोक में कोई दानादिक करे उसे धन्य कहते हैं; तथा विवाह यज्ञादिक करता है उसे कृतार्थ कहते है, युद्धसे पीछे न हटे उसे शूरवीर कहते हैं, अनेक शास्त्र पढ़े हों उसे पंडित कहते हैं—यह सब कथनमात्र है। मोक्षका कारण जो सम्यक्त्व है उसे मलिन न करे,

निरतिचार पाले वही धन्य है, वही कृतार्थ है; वही शूरवीर है, वही पंडित है, वही मनुष्य है। इस (सम्यक्त्व) के विना मनुष्य पशु समान है;— ऐसा सम्यक्त्व का माहात्म्य कहा है।

सम्यक्त्व ही प्रथम धर्म है और यही प्रथम कर्तव्य है। सम्यग्दर्शन के विना ज्ञान, चारित्र और तपमें सम्यक्पना नहीं आता, सम्यग्दर्शन ही ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तपका आधार है। जिसप्रकार नेत्रों से मुख को सौंदर्य प्राप्त होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनसे ज्ञानादिक में सम्यक्पने की प्राप्ति होती है।

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि—

न सम्यक्त्वसमं किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यतनूभृताम् ॥ ३४ ॥

अर्थः—सम्यग्दर्शनके समान इस जीवको तीनकाल तीनलोक में कोई कल्याण नहीं है और मिथ्यात्वके समान तीनलोक तीनकालमें दूसरा कोई अकल्याण नहीं है।

भावार्थः—में कहा है कि—अनन्तकाल तो व्यतीत होगया, एक समय वर्तमान चल रहा है और भविष्य में अनन्तकाल आयेगा। इन तीनों काल में और अधोलोक, मध्यलोक तथा ऊर्ध्वलोक—इन तीनों लोक में जीव को सर्वोत्कृष्ट उपकारी, सम्यक्त्व के समान न तो कोई है, न हुआ है और न होगा। तीन लोक में विद्यमान—ऐसे तीर्थंकर, इन्द्र, अहमिन्द्र, भुवनेन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र आदि चेतन और मणि, मंत्र, औषधि आदि जड़—यह कोई द्रव्य सम्यक्त्व के समान उपकारी नहीं हैं; और इस जीव का सबसे महान अहित—बुरा जैसा मिथ्यात्व करता है वैसा अहित करने वाला कोई चेतन या जड़ द्रव्य तीनकाल तीनलोक में न तो है, न हुआ है, और न होगा। इससे मिथ्यात्व को छोड़ने के लिये परम पुरुषार्थ करो। संसार के समस्त दुःखों का नाशक

और आत्म कल्याण को प्रगट करने वाला एक सम्यक्त्व ही है, इसलिये उसे प्रगट करने का ही पुरुषार्थ करो!

समयसार-नाटकमें कहा है कि—

"प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव-बन्ध है और मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व ही संवर, निर्जरा तथा मोक्ष है।"

—समयसार-नाटक पृष्ठ ३१०

जगत के जीव अनन्त प्रकार के दुःख भोग रहे हैं, उन दुःखों से सदैव के लिये मुक्त होने अर्थात् अविनाशी सुख प्राप्त करने के लिये वे अहर्निशि उपाय कर रहे हैं; परन्तु उनके वे उपाय मिथ्या होने से जीवोंका दुःख दूर नहीं होता; एक या दूसरे प्रकार से दुःख बना ही रहता है। यदि मूलभूत भूल न हो तो दुःख नहीं हो सकता, और वह भूल दूर होनेसे सुख हुए विना नहीं रह सकता—ऐसा अबाधित सिद्धान्त है; इससे दुःख दूर करनेके लिए सर्वप्रथम भूलको दूर करना चाहिये, इस मूलभूत भूलको दूर करनेके लिए वस्तुके यथार्थ स्वरूपको समझना चाहिए।

यदि जीवको वस्तुके सच्चे स्वरूप सम्बन्धी मिथ्यामान्यता न हो तो ज्ञानमें भूल नहीं हो सकती। जहाँ मान्यता सच्ची हो वहाँ ज्ञान भी सच्चा ही होता है। सच्ची मान्यता और सच्चे ज्ञानपूर्वक ही यथार्थ वर्तन होता है, इससे सच्ची मन्न्यता और सच्चे ज्ञानपूर्वक होनेवाले सच्चे वर्तन द्वारा ही जीव दुःखोंसे मुक्त हो सकते है।

"स्वयं कौन है?" इस सम्बन्धी जगतके जीवोंकी महान भूल अनादिसे चली आरही है। अनेक जीव शरीर को अपना स्वरूप मानते हैं, अथवा तो शरीर अपने अधिकारकी वस्तु है—ऐसा मानते हैं, इससे शरीर की संभाल रखनेके लिये वे अनेक प्रकार से सतत् प्रयत्न करते रहते हैं। शरीरको अपना मानता है इससे, जिन जड़ या चेतन पदार्थोंकी ओरसे शारीरिक अनुकूलता मिलती है, ऐसा जीव माने उनके प्रति राग होगा ही; और जिस जड़ या चेतनकी ओरसे प्रतिकूलता मिलती है-ऐसा

वह माने उसके प्रति उसे द्वेष होगा ही। जीवकी यह मान्यता महान भूलयुक्त है इससे उसे आकुलता बनी ही रहती है।

जीव की इस महान भूलको शास्त्रमें मिथ्यादर्शन कहा जाता है। जहाँ मिथ्यादर्शन हो वहाँ ज्ञान और चारित्र भी मिथ्या ही होते हैं; इससे मिथ्यादर्शनरूप महान भूलको महापाप भी कहा जाता है। मिथ्यादर्शन यह महान भूल है और सर्व दुःखोंका महा बलवान मूल वही है—ऐसा लक्ष जीवोंको न होनेसे, वह लक्ष कराने और उस भूलको दूर करके वे अविनाशी सुखकी ओर अग्रसर हों इस हेतुसे आचार्य भगवन्तोंने सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका उपदेश बारम्बार दिया है। जीवको सच्चे सुख की आवश्यक्ता हो तो उसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करना ही चाहिए।

संसाररूपी समुद्रसे रत्नत्रयरूपी जहाजको पार करनेके लिये सम्यग्दर्शन चतुर केवट-नाविक है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करता है वह अनन्त सुखको प्राप्त होता है, और जिस जीवको सम्यग्दर्शन नहीं है वह पुण्य करे तो भी अनन्त दुःखोंको प्राप्त होता है; इसलिये यथार्थ सुख प्राप्त करनेके लिये जीवोंको तत्त्वका यथार्थ स्वरूप समझ कर सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए।

वंदन हो सम्यक्त्वको !

६. मोक्षका उपाय—भगवती। १२॥

(१) भगवती प्रज्ञा

आत्मा और बंध किसके द्वारा द्विधा किये जाते हैं? ऐसा पूछने पर उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि:—

जीव बन्ध दोनों नियत निज निज लक्षण से छेदे जाते हैं।
प्रज्ञाछैनी द्वारा छेदे जाने पर दोनों भिन्न भिन्न हो जाते हैं॥
॥ २९४ ॥

जीव और बंध भावको भिन्न करना आत्मा का कार्य है और उसे करने वाला आत्मा है। मोक्ष आत्माकी पवित्र दशा है और उस दशा रूप होनेवाला आत्मा है। परन्तु उसरूप होनेका साधन क्या है, उसका उपाय क्या है? उसके उत्तर में कहते कि उस भगवती प्रज्ञाके द्वारा ही आत्मा के स्वभावको और बन्धभावको पृथक जानकर छेदे जाने पर मोक्ष होता है। आत्माका स्वभाव बंधन से रहित है, इसप्रकार जानने वाला सम्यक्ज्ञान ही बंध और आत्मा को पृथक् करने का साधन है। यहाँ (भगवती) विशेषण के द्वारा आचार्य देवने उस सम्यक्ज्ञान की महिमा बताई है।

(२) चेतक–चेत्य भाव

आत्मा और बन्धके निश्चित लक्षण भिन्न हैं, उनके द्वारा उन्हें भिन्न भिन्न जानना चाहिये। आत्मा और बन्धमें चेतक–चेत्य सम्बन्ध है, अर्थात् आत्मा जानने वाला चेतक है और बन्ध भाव उसके ज्ञान में मालूम होता है इसलिये वह चेत्य है। बन्ध भाव में चेतकता नहीं है और चेतकता में बन्धभाव नहीं है। बन्ध भाव स्वयं कुछ नहीं जानते किन्तु आत्मा अपने चेतक स्वभाव के द्वारा जानता है। आत्मा का चेतक स्वभाव होने से और बन्ध भावों का चेत्य स्वभाव होने से आत्मा के ज्ञान में बन्ध भाव मालूम तो होता है, किन्तु वहाँ बन्ध भाव को जानने पर अज्ञानी को भेदज्ञान के अभाव के कारण ज्ञान और बन्धभाव एक से प्रतिभासित होते हैं। चेतक-चेत्य भाव के कारण उनमें अत्यन्त निकटता होने पर भी दोनों के लक्षण भिन्न भिन्न हैं। (अत्यंतनिकट) कहते ही भिन्नता आ जाती है।

चेतक-चेत्यपने के कारण अत्यंत निकटता होने से आत्मा और बन्ध के भेदज्ञान के अभावके कारण उनमें एकत्व का व्यवहार किया जाता है, परन्तु भेदज्ञान के द्वारा उन दोनों की भिन्नता स्पष्ट जानी जाती है,

पर्याय में देखने पर बन्ध और ज्ञान एक ही साथ हों ऐसा दिखाई देता है, लेकिन द्रव्य स्वभावसे देखने पर बंध और ज्ञान भिन्न भिन्न दिखाई देते है। ज्ञान तो आत्माका स्वभाव है और बन्ध बाहर जाने वाली विकारी भावना है।

(३) बन्धभाव और ज्ञान की भिन्नता।

बन्धभाव आत्मा की अवस्थामें होता है, वह कहीं पर में नहीं होता। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि बन्ध भाव की लगन आत्मा के स्वभाव के साथ मानों एकमेक हो रही है। अन्तरंग स्वरूप क्या है और बाहर होने वाली लगन क्या है–इसके सूक्ष्म भेदके अभानके कारण ज्ञानके मथन में वह लगन मानों एकमेक हो रही है ऐसा अज्ञानी को दीखता है और इसीलिये बन्धभाव से भिन्न ज्ञान अनुभव में नहीं आता तथा बन्ध का छेद नहीं होता। यदि बन्ध और ज्ञान को भिन्न जाने तो ज्ञान की एकाग्रता के द्वारा बन्धन का छेद कर सकता है।

राग अनेक प्रकार का है और स्वभाव एक प्रकार का है। प्रज्ञाके द्वारा समस्त प्रकार के राग से आत्मा को भिन्न करना सो मोक्ष का उपाय है।

यहाँ यह कहा गया है कि राग और आत्मा भिन्न हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि आत्मा यहाँ है और राग उससे दस फुट दूर है, और इस प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा से भिन्नता नहीं है, परन्तु वास्तव में भावसे भिन्नता है। रागादिक बन्धभाव आत्माके ऊपर ही ऊपर रहते हैं भीतर प्रवेश नहीं करते। अर्थात् क्षणिक राग भाव के होने पर भी यह त्रिकाल स्वभाव रागरूप नहीं है इसलिये यह कहा है कि विकार, स्वभावके ऊपर ही ऊपर रहता है। विकार और स्वभावको भिन्न जाननेमें ही मोक्ष होता है और उसके लिये प्रज्ञा ही साधन है। प्रज्ञाका अर्थ है सम्यग्ज्ञान।

(४) प्रज्ञाछैनी

समयसार-स्तुति में भी कहा है कि प्रज्ञारूपी छैनी उदय की संधि की छेदक होती है। ज्ञान का अर्थ है आत्मा का स्वभाव और उदय का [illegible]

है बन्धभाव। स्वभाव और बन्धभाव की समस्त संधियों को छेदने के लिये आत्मा की प्रज्ञारूपी छैनी ही साधन है। ज्ञान और राग दोनों एक पर्याय में वर्तमान होने पर भी दोनों के लक्षण कभी एक नहीं हुये, दोनों अपने अपने निज लक्षणों में भिन्न २ है-इस प्रकार लक्षण भेद के द्वारा उन्हें भिन्न जानकर उनकी सूक्ष्म अन्तर संधि में प्रज्ञारूपी छैनी के प्रहार से वह अवश्य पृथक् हो जाते हैं।

जैसे पत्थर की संधि को लक्ष्य में लेकर उस संधि में सुरंग लगाने से शीघ्र ही बड़े भारी धमाके के साथ टुकड़े हो जाते हैं उसी प्रकार यहाँ पर सम्यक्ज्ञान रूपी सुरंग है तथा आत्मा और बन्धके बीच की सूक्ष्म संधि को लक्ष्य में लेकर सावधानी के साथ उसमें वह सुरंग लगानी है, ऐसा करने से आत्मा और बन्ध पृथक् हो जाते हैं।

यहाँ सावधानी के साथ सुरंग लगाने की बात कही है अर्थात् चाहे जैसा राग हो वह सब मेरे ज्ञान से भिन्न है, ज्ञान स्वभाव के द्वारा मैं राग का ज्ञाता ही हूँ कर्ता नहीं इस प्रकार सब तरफ से भिन्नत्व जान कर अर्थात् मोह का अभाव करके आत्मा में एकाग्र करना चाहिये।

यहाँपर प्रज्ञारूपी छैनीके प्रहारका अर्थ उसे हाथमें पकड़कर मारना ऐसा नहीं है। प्रज्ञा और आत्मा कहीं भिन्न नहीं है। तीव्र पुरुषार्थके द्वारा ज्ञानको आत्माके स्वभावमें एकाग्र करने पर रागका लक्ष्य छूट जाता है, यही प्रज्ञारूपी छैनीका प्रहार है।

सूक्ष्म अन्तर संधिमें प्रहारका अर्थ यह है कि शरीर इत्यादि पर द्रव्य तो भिन्न ही है, कर्म इत्यादि भी भिन्न ही हैं, परन्तु पर्यायमें जो राग द्वेष होता है वह स्थूल रूपसे आत्माके साथ एक जैसा दिखाई देता है, परन्तु उस स्थूलदृष्टिको छोड़कर सूक्ष्मरूपसे देखने पर आत्मा के स्वभाव और रागमें जो सूक्ष्म भेद है वह ज्ञात होता है। स्वभाव दृष्टिसे ही राग और आत्मा भिन्न मालूम होते हैं इसलिये सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिके द्वारा ज्ञान और रागका भिन्नत्व जानकर ज्ञानमें एकाग्र होनेपर राग दूर होजाता है।

अर्थात् मुक्ति होजाती है। इसप्रकार सम्यक्ज्ञानरूपी प्रज्ञा छैनी ही मोक्षका उपाय है।

(५) ज्ञान ही मोक्षका साधन है

त्रैकालिक ज्ञाता स्वभाव और और वर्तमान विकारके बीच सूक्ष्म अन्तर संधि जानकर आत्माकी और बंध की अन्तरसंधिको तोड़नेके लिये ही कहा है। आत्मा को वन्धन भावसे भिन्न करना न आये तो आत्माको क्या लाभ है? जिसने आत्मा और बन्धके बीचके भेद को नहीं जाना वह अज्ञानके कारण वन्ध भावों को मोक्ष का कारण मानता है और वन्ध भावोंका आदर करके संसारको बढ़ाता रहता है इसलिये आचार्यदेव कहते है कि हे भव्य जीव! एक प्रज्ञारूपी छैनी ही मोक्षका साधन है। इस भगवती प्रज्ञाके अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव मोक्षके साधन नहीं हैं।

ध्यान करने पर पहले चैतन्यकी ओरका विकल्प उठता है वह निर्विकल्प ध्यानका साधन है-यह बात भी यथार्थ नहीं है। विकल्प तो बन्ध भाव है और निर्विकल्पता शुद्ध भाव है। पहले अनिहत वृत्तिसे (बिना भावना या बिना इच्छाके) विकल्प आते हैं किन्तु प्रज्ञा रूपी पैनी छैनी उस विकल्पको मोक्षमार्गके रूपमें स्वीकार नहीं करती, किन्तु उसे वन्ध मार्गके रूपमें जानकर छोड़ देती है। इस प्रकार विकल्पको छोड़कर ज्ञान रह जाता है। ऐसे विकल्पको भी जान लेने वाला ज्ञान ही मोक्षका साधन है परन्तु कोई विकल्प उस मोक्षका साधन नहीं है। जो शुभ विकल्पोंको मोक्षके साधनके रूपमें स्वीकार करते हैं उनके भगवती प्रज्ञा प्रगट नहीं हुई है इसीलिये वे बन्धभाव और मोक्षभावको भिन्न भिन्न नहीं पहचानते और वे अज्ञानके कारण बन्धभावको ही आत्माके रूपमें अंगीकार करके निरन्तर बद्ध होते रहते है। उधर ज्ञानीको आत्मा और वन्धभावका स्पष्ट भेदज्ञान होता है इसलिये मोक्षमार्गके बीचमें आने वाले बन्धभावोंको बन्धके रूपमें निःशंकतया जानकर उसे छोड़ते जाते है और ज्ञानमें एकाग्र हो जाते है-इसलिये ज्ञानी प्रतिक्षण बन्धभावोंसे मुक्त होते हैं।

(६) भेद विज्ञानकी महिमा

यहाँ तो भेदविज्ञानकी ही प्रमुखता है भेदज्ञानकी अपार महिमा है। पहले एक सौ इकतीसवें श्लोकमें भेदज्ञानकी महिमाको बताते हुए कहा है कि:—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥ १३१॥

अर्थः—जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब भेदविज्ञानसे ही हुए हैं, और जो बद्ध हुए हैं वे सब उसी—भेदविज्ञानके ही अभावसे ही हुए हैं।

भावार्थः—अनादिकालसे लेकर जब तक जीवके भेदविज्ञान नहीं होता वहाँ तक वह बन्धता ही रहता है—संसारमें परिभ्रमण करता ही रहता है। जिस जीव को भेदविज्ञान हो जाता है वह कर्मों से अवश्य छूट जाता है-मोक्ष को अवश्य प्राप्त करता है। इसलिये कर्मबन्धका—संसार का मूल भेद विज्ञान का अभाव ही है और मोक्ष का प्रथम कारण भेद विज्ञान ही है। बिना भेद विज्ञान के कोई सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता।

(७) आत्मा और बन्धभाव में भेद

आत्माके समस्त गुणोंमें और समस्त क्रमवर्ती पर्यायों में चेतना व्याप्त होकर रहती है इसलिये चेतना ही आत्मा है। क्रमवर्ती पर्याय के कहनेसे उसमें रागादि विकार नहीं लेना चाहिये किन्तु शुद्ध पर्याय ही लेनी चाहिये, क्योंकि राग समस्त पर्यायोंमें व्याप्त होकर प्रवृत्त नहीं होता। बिना रागकी पर्याय तो हो सकती है, परन्तु बिना चेतना की कोई पर्याय नहीं हो सकतीं, चेतना प्रत्येक पर्यायमें अवश्य होती है। इसलिये जो राग है सो आत्मा नहीं है किन्तु चेतना ही आत्मा है बन्ध भावोंकी ओर न जाकर अतर स्वभाव की ओर उन्मुख होकर जो चैतन्यके साथ एकमेक हो जाती हैं वे निर्मल पर्यायें ही आत्मा हैं। इसप्रकार निर्मल पर्यायों को के साथ अभेद करके उसी को आत्मा कहा है और विकार भावको बन्ध भाव कहकर उसे आत्मासे अलग कर दिया है। यह भेद विज्ञान है।

वन्ध रहित अपने शुद्ध स्वरूपको जाने विना वन्धभावको भी यथार्थतया नही जाना जा सकता। पुण्य-पाप दोनों विकार हैं, वे आत्मा नहीं है, चैतन्य स्वभाव ही आत्मा है। जितने दया-दान-भक्ति इत्यादि के शुभभाव हैं उनका आत्माके साथ कोई मेल नहीं खाता किन्तु वन्धके साथ उनका मेल है।

प्रश्न——जव कि पुण्य आत्मा नहीं है तव फिर पर जीव की दया क्यों करना चाहिये ?

उत्तर——अरे भाई ! कोई आत्मा पर जीवों की दया का पालन कर ही नहीं सकता, क्योंकि अन्य जीव को मारने अथवा बचाने की क्रिया आत्मा की कदापि नहीं है, आत्मा तो मात्र उसके प्रति दयाके शुभभाव कर सकता है; ऐसी स्थितिमें यदि शुभ दया भावको अपना स्वरूप माने तो उसे मिथ्यात्वका महापाप लगेगा। शुभ अथवा अशुभ कोई भी भाव आत्म कल्याणमें किंचित् मात्र सहायक नही हैं क्योंकि वे भाव आत्मा के स्वभावसे विपरीत लक्षणवाले हैं। पुण्य पाप भाव अनात्मा है, जहाँ तक चारित्रमें कमजोर है वहाँ तक ज्ञानीको भी वे भाव आते हैं।

(८) ज्ञान का कार्य

साधक दशामें राग होता है तथापि ज्ञान उससे भिन्न है। रागके समय रागको रागके रूपमें जाननेवाला ज्ञान रागसे भिन्न रहता है। यदि ज्ञान और राग एकमेक हो जायें तो रागको रागके रूपमें नहीं जाना जा सकता। रागको जानने वाला ज्ञान आत्माके साथ एकता करता है और रागके साथ अनेकता (भिन्नता) करता है। ज्ञानकी ऐसी शक्ति है कि वह रागको भी जानता है। ज्ञानमें जो राग ज्ञात होता है वह तो ज्ञान की स्वपर प्रकाशक शक्तिका विकास है, परन्तु अज्ञानी को अपने स्वतत्त्व की श्रद्धा नहीं होती इसलिये वह रागको और ज्ञानको पृथक् नहीं कर सकता और इसीलिये वह रागको अपना ही स्वरूप मानता है, यही स्वतत्त्वका विरोध है। भेद ज्ञानके होते ही ज्ञान और राग भिन्न मालूम होते है इसलिये भेद

विज्ञानी जीव ज्ञानको अपने रूपमें अंगीकार करता है और रागको बन्धरूप जानकर छोड़ देता है। यह भेद ज्ञानकी ही महिमा है।

रागके समय मै रागरूप ही हो गया हूँ ऐसा मानना सो एकान्त है, परन्तु रागके समय भी मैं तो ज्ञान रूप ही हूँ, मैं कभी राग रूप होता ही नहीं–इसप्रकार भिन्नत्व की प्रतीति करना सो अनेकात है। रागको जानते हुए ज्ञान यह जानता है कि 'यह राग है' परन्तु ज्ञान यों नहीं जानता कि 'यह राग मै हूँ' क्योंकि ज्ञान अपना कार्य रागसे भिन्न रहकर करता है। दृष्टिका बल ज्ञान स्वभाव की ओर जाना चाहिये, उसकी जगह रागकी ओर जाता है, यही अज्ञान है। जिसका प्रभाव ज्ञानकी ओर जाता है वह राग को निःशंक रूपसे जानता है किन्तु उसे ज्ञान स्वभावमें कोई शंका नहीं होती। और जिसका प्रभाव ज्ञानकी ओर नहीं है उसे रागको जाननेपर भ्रम हो जाता है कि यह राग क्यों? लेकिन भाई! तेरी दृष्टि ज्ञानसे हटकर रागपर क्यों जाती है? जो यह राग मालूम होता है सो तो ज्ञानकी जानने की जो शक्ति विकसित हुई है वही मालूम होती है; इस प्रकार ज्ञान और रागको पृथक् करके अपने ज्ञानपर भार दे, यही मुक्तिका उपाय है ज्ञानपर भार देनेसे ज्ञान सम्पूर्ण विकसित हो जायगा और राग सर्वथा नष्ट हो जायगा–जिससे मुक्ति मिलेगी। भेदज्ञानका ही यह फल है।

रागके समय जिसने यह जाना कि 'जो यह राग मालूम होता है वह मेरी ज्ञान शक्ति है, रागकी शक्ति नहीं है' और इसप्रकार जिसने भिन्न रूपमें प्रतीति करली है उसके मात्र ज्ञातृत्व रहजाता है और ज्ञातृत्वके बलसे समस्त विकारका कर्तृत्व भाव उड़ जाता है।

(९) ज्ञानकी शक्तिः चारित्र का साधन

यदि कोई ऐसा माने कि महाव्रतके शुभ विकल्पसे चारित्र दशा प्रगट होती है तो वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि व्रतका विकल्प तो राग है इसलिये वह बन्धका लक्षण है और चारित्र आत्मा है। जो शुभराग को चारित्र का साधन मानता है वह बन्धको और आत्माको एक मानता है तथा उन्हें पृथक् नहीं समझता; इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है, वह राग रहित

आत्माकी ज्ञान शक्ति को नहीं पहिचानता जब व्रत का शुभ विकल्प उठा तब उस समय आत्माके ज्ञान की पर्याय की शक्ति ही ऐसी विकसित हुई है कि वह ज्ञान आत्माके स्वभावको भी जानता है और विकल्प को भी जानता है। उस पर्याय में विकल्पका ही ज्ञान होता है दूसरा कदापि नहीं होता, परन्तु वहां जो विकल्प है वह चारित्रका साधन नहीं किन्तु जो ज्ञान शक्ति विकसित हुई है वह ज्ञान ही स्वयं चारित्रका साधन है। तेरी ज्ञायक पर्याय ही तेरी शुद्धताका साधन है और जो व्रतका राग है सो वह तेरी ज्ञायक पर्याय का उस समय का ज्ञेय है। यह बात नहीं है कि महाव्रत का विकल्प उठा है इसलिये चारित्र प्रगट हुआ है, परन्तु ज्ञान उस वृत्ति को और स्वभावको दोनों को भिन्न जानकर स्वभावकी ओर उन्मुख हुआ है इसीलिये चारित्र प्रगट हुआ है। वृत्ति तो बन्धभाव है और मैं ज्ञायक हूं, इसप्रकार ज्ञायक भावकी दृढ़ताके वलसे वृत्तिको तोड़कर ज्ञान अपने स्वभाव में लीन होता है और क्षपक श्रेणीको मांडकर केवलज्ञान और मोक्षको प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि प्रज्ञारूपी छैनी ही मोक्षका साधन है।

(१०) ज्ञान विकार का नाशक है।

ज्ञानमें जो विकार मालूम होता है वह तो ज्ञानकी पर्यायकी शक्ति ही ऐसी विकसित हुई है—यों कहकर ज्ञान और विकारके वीच भेद किया है; उसकी जगह कोई यह मान वैठे कि—"भले विकार हुआ करे, आखिर वह है तो ज्ञानका ज्ञेय ही न ?" तो समझना चाहिये कि वह ज्ञानके स्वरूपको ही नहीं जानता। भाई, जिसके पुरुषार्थका प्रवाह ज्ञानके प्रति वह रहा है उसके पुरुपार्थका प्रवाह विकारकी ओरसे रुक जाता है और उसके प्रतिक्षण विकारका नाश होता रहता है। साधक दशामें जो २ विकार भाव उत्पन्न होते हैं वे ज्ञानमें ज्ञात होकर छूट जाते हैं—उनका अस्तित्व नहीं रहता। इसप्रकार क्रमबद्ध प्रत्येक पर्यायमें ज्ञानका झुकाव स्वभाव की ओर होता जाता है और विकारसे छूटता जाता है। "विकार भले हो" यह भावना मिथ्यादृष्टि की ही है। ज्ञानी तो जानता है कि कोई विकार

मेरा स्वरूप नहीं है इसलिये वह ज्ञानकी ही भावना करता है और इसीलिये विकार की ओरसे उसका पुरुषार्थ हट जाता है। ज्ञानके अस्तित्वमें विकार का नास्तित्व है।

पहले रागादिक पहचाना नहीं जाता था और अब ज्ञान सूक्ष्म रागादिक भी जान लेता है क्योंकि ज्ञानकी शक्ति विकसित होगई है ज्ञान सूक्ष्म विकल्पको भी बन्ध भावके रूपमें जान लेता है, इसमें रागकी शक्ति नहीं किन्तु ज्ञानकी ही शक्ति है। ऐसे स्वाश्रय ज्ञानकी प्रतीति, रुचि, श्रद्धा, और स्थिरताके अतिरिक्त अन्य सब उपाय आत्महितके लिये व्यर्थ हैं। अपने परिपूर्ण स्वाधीन स्वतत्त्वकी शक्ति की प्रतीतिके बिना जीव अपनी स्वाधीन दशा कहांसे लायगा ? निजकी प्रतीति वाला निज की ओर झुकेगा और मुक्ति प्राप्त करेगा; जिसे निजकी प्रतीति नहीं है वह विकार की ओर झुकेगा और संसारमें परिभ्रमण करेगा।

ज्ञान चेतन स्वरूप है अर्थात् वह सदा चैतन्य-जागृत रहता है। जो वृत्ति आती है उसे ज्ञानके द्वारा पकड़कर तत्काल छिन्न-भिन्न कर देता है और प्रत्येक पर्यायमें ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है। जो एक भी वृत्ति को कदापि मोक्षमार्गके रूपमें स्वीकार नहीं करता ऐसा भेदज्ञान वृत्तियों को तोड़ता हुआ, स्वरूपकी एकाग्रताको बढ़ाता हुआ मोक्षमार्ग को पूर्ण करके मोक्षरूप परिणमित हो जाता है ऐसे परिपूर्ण ज्ञान स्वभावकी शक्तिका बल जिसे प्रतीतिमें जम गया उसे अल्पकालमें मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है। मोक्ष का मूल भेदविज्ञान है। रागको जानकर रागसे भिन्न रहने वाला ज्ञान मोक्ष प्राप्त करता है और राग को जानकर भी रागमें अटक जानेवाला ज्ञान बन्धको प्राप्त करता है।

ज्ञानीके प्रज्ञारूपी छैनीका बल यह होता है कि—यह भावनायें तो प्रतिक्षण चली जा रही हैं और उपरोक्त भावनाओंसे रहित मेरा ज्ञान बढ़ता ही जाता है। अज्ञानीके मनमें ऐसे विचार उठते है कि-अरे, मेरे ज्ञानमें यह भावना उत्पन्न हुई है और भावनाके साथ मेरा ज्ञान भी चला

जा रहा है। अज्ञानीके ज्ञान और रागके बीच अभेद बुद्धि (एकत्व बुद्धि) है जो कि मिथ्याज्ञान है। ज्ञानीने प्रज्ञारूपी छैनीके द्वारा राग और ज्ञानको पृथक् करके पहिचाना है, जो कि सम्यक्ज्ञान है। ज्ञान ही मोक्षका उपाय है और ज्ञान ही मोक्ष है। जो सम्यक्ज्ञान साधकदशाके रूप में था वही सम्यक्ज्ञान बढ़कर साध्य दशा रूप हो जाता है। इसप्रकार ज्ञान ही साधक-साध्य है। आत्माका अपने मोक्षके लिये अपने गुणके साथ सम्बन्ध होता है या पर द्रव्योंके साथ ? आत्माका अपने ज्ञानके साथ ही सम्बन्ध है, परद्रव्यके साथ आत्माके मोक्षका सम्बन्ध नहीं है। आत्मा परसे तो पृथक है ही किन्तु यहाँ अंतरंगमें यह भेदज्ञान कराते हैं कि वह विकार से भी पृथक् है। विकार और आत्मा में भेद कर देना ही विकारके नाशका उपाय है। रागकी क्रिया मेरे स्वभाव में नहीं है इसप्रकार सम्यक्ज्ञानके द्वारा जहाँ स्वभाव शक्तिको स्वीकार किया कि विकारका ज्ञाता होगया। जैसे बिजलीके गिरनेसे पर्वत फट जाता है उसी प्रकार प्रज्ञारूपी छैनीके गिरनेसे स्वभाव और विकारके बीच दरार पड़ जाती है तथा ज्ञान स्वोन्मुख हो जाता है और जो अनादि कालीन विपरीत परिणमन था वह रुककर अब स्वभाव की ओर परिणमन प्रारम्भ हो जाता है। इसमें स्वभावका अनन्त पुरुषार्थ है।

(११) द्रव्यलिंगी साधुने क्या किया ?

अज्ञानीको राग द्वेषके समय ज्ञान अलग नहीं दिखाई देता इसलिये वह आत्मा और बन्धके बीच भेद नहीं समझता। आत्मा और बन्धके बीच भेदको जाने विना द्रव्यलिंगी साधु होकर नवमें ग्रैवेयक तक जाने योग्य चारित्रका पालन किया और इतनी मंदकषाय करली कि यदि कोई उसे जला डाले तो भी बाह्य क्रोध न करे, छह छह महीने तक आहार न करे तथापि भेद ज्ञानके विना अनंत संसारमें ही परिभ्रमण करता है। उसने आत्माका कोई भला नहीं किया किन्तु वह मात्र बन्धभावके प्रकारको ही बदलता रहता है।

प्रश्न—इतना सब करने पर भी कुछ नहीं होता ?

उत्तर—जिसे ऐसा लगता है कि 'इतना सब किया' उसके मिथ्यात्व की प्रबलता है। जो बाहरसे शरीरकी क्रिया इत्यादि को ऊपरी दृष्टिसे देखता है उसे ऐसा लगता है कि 'इतना सब तो किया है,' किन्तु ज्ञानी कहते है कि उसने कुछ भी अपूर्व नहीं किया, मात्र बन्ध भाव ही किया है, शरीरकी क्रियाका और शुभरागका अहंकार किया है। यदि व्यवहार दृष्टि से कहा जाय तो उसने पुण्य भाव किया है और परमार्थसे देखा जाय तो पाप ही किया है। राग अथवा विकल्पसे आत्माको लाभ मानना सो महा मिथ्यात्व है, उसे भगवानने पापही कहा है। वह एक प्रकारके बन्धभावको छोड़कर दूसरे प्रकारका बन्धभाव करता है, परन्तु जबतक बन्धभावकी दृष्टिको छोड़कर अबन्ध आत्मस्वभावको नहीं पहिचान लेता तबतक उसने आत्मदृष्टिसे कुछ नहीं किया। वास्तवमें तो बन्धभावका प्रकार ही नहीं बदला, क्योंकि उससे समस्त बन्धभावोंका मूल जो मिथ्यात्व है उसे दूर नहीं किया है।

(१२) बाह्य त्यागी किंतु अंतर अज्ञानी अधर्मी है

अज्ञानी स्वयं खाने पीनेका, वस्त्रका और रुपये पैसे इत्यादिका राग नहीं छोड़ सकता इसलिये वह किसी अन्य अज्ञानीके बाह्यमें अन्न वस्त्र और रुपये पैसे इत्यादिका त्याग देखता है तो वह यह मान बैठता है कि 'उसने बहुत कुछ किया है और वह मेरी अपेक्षा उच्च है'। किन्तु वह जीव भी बाहरसे त्यागी होने पर भी अन्तरंगमें अज्ञानके महापापका सेवन कर रहा है, वह भी उसीकी जातिका है। जो अन्तरंगकी पहिचान किये बिना बाहरसे ही अनुमान करता है वह सत्य तक नहीं पहुँच सकता।

(१३) बाह्य अत्यागी किंतु अंतर्ज्ञानी धर्मात्मा है

ऊपर जो त्यागी अज्ञानीका दृष्टान्त दिया है, अत्यागी ज्ञानी के सम्बन्धमें उससे उल्टा समझना चाहिये। ज्ञानी गृहस्थ दशामें हो और उसके राग भी हो तथापि उसके अन्तरंगमें सर्व परद्रव्योंके प्रति उदासीन

भाव रहता है; और वह रागका भी स्वामित्व नहीं मानता, वह धर्मात्मा है। जो ऐसे धर्मात्माको आंतरिक चिह्नोंके द्वारा नहीं पहिचानता और बाहरसे माप करता है वह वास्तवमें आत्माको नहीं समझता। जो अन्तरंग में आत्माकी पवित्र दशाको नहीं समझते वे मात्र जड़के संयोगसे ही माप निकालते हैं। धर्मी और अधर्मीका माप संयोगसे नहीं होता इतना ही नहीं किन्तु रागकी मंदतासे भी धर्मी और अधर्मीका माप नहीं होता। धर्मी और अधर्मीका माप तो अन्तरंग अभिप्रायसे निकाला जाता है।

बाह्य त्यागी और मंद रागी होने पर भी जो बन्ध भावको अपना स्वरूप मानता है वह अधर्मी है और बाह्य में राजपाटका संयोग हो तथा राग विशेष दूर न हुआ हो तथापि जिसे अन्तरंगमें बन्धभावसे भिन्न अपने स्वरूपकी प्रतीति हो वह धर्मी है। जो शरीरकी क्रियासे, बाहरके त्यागसे अथवा रगाकी मंदतासे आत्माकी महत्ता मानता है वह शरीरसे भिन्न, संयोगसे रहित और विकार रहित आत्मस्वभावकी हत्या करता है; वह महापापी है। स्वभावकी हिंसाका पाप सबसे बड़ा पाप है।

बाहरका बहुत सा त्याग और बहुत सा शुभराग करके अज्ञानी लोग यह मान बैठते हैं कि इससे हम मुक्त हो जायेंगे, किन्तु हे भाई! तुमने आत्माके धर्मका मार्ग ही अभी नहीं जान पाया, तब फिर मुक्ति तो कहाँ से मिलेगी? अन्तरंग स्वभावका ज्ञान हुए बिना आंतरिक शांति नहीं मिल सकती और विकार भावकी आकुलता दूर नहीं हो सकती।

(१४) सम्यक्ज्ञान ही मुक्तिका सरल मार्ग है।

आत्माके स्वभावको समझनेका मार्ग सीधा और सरल है। यदि यथार्थ मार्गको जानकर उसपर धीरे २ चलने लगे तो भी पंथ कटने लगे, परन्तु यदि मार्ग को जाने बिना ही आंखों पर पट्टी बांधकर तेलीके बैलकी तरह चाहे जितना चलता रहे तो भी वह घूम घामकर वहींका वहीं बना रहेगा। इसीप्रकार स्वभावका सरल मार्ग है उसे जाने बिना ज्ञान नेत्रोंको

बन्द करके चाहे जितना उलटा टेढ़ा करता रहे और यह माने कि मैंने बहुत कुछ किया है; परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि भाई तूने कुछ नहीं किया, तू संसारका संसारमें ही स्थित है, तू किंचित् मात्र भी आगे नहीं बढ़ सका। तूने अपने निर्विकार ज्ञान स्वरूपको नहीं जाना इसलिये तू अपनी गाड़ीको दौड़ाकर अधिकसे अधिक अशुभमें से खींचकर शुभमें ले जाता है और उसीको धर्म मान लेता है, परन्तु इससे तो तू घूम घामकर पुनः वहीं का वहीं विकार में ही खड़ा रहा है। विकार चक्रमें चक्कर लगाया परन्तु विकारसे छूटकर ज्ञानमें नहीं आया तो तूने क्या किया ? कुछ भी नहीं।

ज्ञानके बिना चाहे जितना राग कम करे अथवा त्याग करे किन्तु यथार्थ समझके बिना उसे सम्यक्दर्शन नहीं होता और वह मुक्ति मार्गकी ओर कदापि नहीं जा सकेगा; प्रत्युत वह विकारमें और जड़की क्रियामें कर्तृत्वका अहंकार करके संसार मार्गमें और दुर्गतिमें फँसता चला जायगा यथार्थ ज्ञानके बिना किसी भी प्रकार आत्मा की मुक्त दशा का मार्ग दिखाई नहीं दे सकता। जिसने आत्म प्रतीति की है वे त्याग अथवा व्रत किये बिना ही एकावतारी हो गये है।

(१५) संसार का मूल

कोई यह पूछ सकता है कि आत्माके स्वभावका मार्ग सरल होने पर भी समझमें क्यों नहीं आता ? इसका कारण यह है कि अज्ञानी को अनादिकालसे आत्मा और रागके एकत्वका व्यामोह है, भ्रम है, पागलपन है। जिसे अन्तरंगमें राग रहित स्वभाव की दृष्टिका बल प्राप्त है वह आत्मानुभवकी यथार्थ प्रतीतिके कारण एक भवमें ही मोक्षको प्राप्त कर लेगा और जिसे आत्माकी यथार्थ प्रतीति नहीं है ऐसा अज्ञानी छह–छह महीनेका तप करके मर जाय तो भी आत्म-प्रतीतिके बिना उसका एक भी भव कम नहीं होगा, क्योंकि उसे आत्मा और रागके एकत्वका व्यामोह है, और वह व्यामोह ही संसार का मूल है।

(१६) अज्ञान को दूर करनेका उपाय

कोई पूछता है कि अज्ञानीका वह व्यामोह किसी प्रकार हटाया भी जा सकता है या नहीं ? उत्तरमें कहते हैं कि हाँ, प्रज्ञारूपी छैनीके द्वारा उसे अवश्य छेदा जा सकता है। जैसे अन्धकारको दूर करनेका उपाय प्रकाश ही है उसीप्रकार अज्ञानको दूर करनेका उपाय सम्यक्ज्ञान ही है। यहाँ पर व्यामोहका अर्थ अज्ञान है और प्रज्ञारूपी छैनीका अर्थ सम्यक्ज्ञान है। हजारों उपवास करना अथवा लाखों रुपयों का दान करना इत्यादि कोई भी उपाय आत्मा सम्बन्धी अज्ञानको दूर करनेके लिये उपयुक्त नही है किन्तु आत्मा और रागकी भिन्नताका सम्यक्ज्ञान ही व्यामोहको छेदनेका एक मात्र उपाय है। इसी उपायसे व्यामोहको छेदकर आत्मा मुक्तिमार्ग पर प्रयाण करता है।

प्रज्ञारूपी छैनी कैसे प्राप्त हो अर्थात् सम्यक्ज्ञान कैसे प्रगट हो ? ज्ञानके लिये किसी न किसी अन्य साधन की आवश्यकता तो होती ही है ? इसके समाधानार्थ कहते है कि नहीं, ज्ञानका उपाय ज्ञान ही है। ज्ञानका अभ्यास ही प्रज्ञारूपी छैनीको प्रगट करनेका कारण है। भक्ति, पूजा, व्रत, उपवास, त्याग इत्यादि का शुभ राग प्रज्ञाका उपाय नहीं है, स्वभाव की रुचिके साथ स्वभावका अभ्यास करना ही स्वभावका ज्ञान प्रगट करनेका उपाय है।

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव इस गाथाके आशयको निम्नलिखित श्लोक के द्वारा कहते हैं:—

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः।
सूक्ष्मेऽन्तः संधिबंधे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ॥
आत्मानं मग्नमंतः स्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे।
बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्न भिन्नौ ॥१८१॥

अर्थः—यह प्रज्ञारूपी पैनी छैनी प्रवीण पुरुषोंके द्वारा किसी भी प्रकारसे–यत्नपूर्वक–सावधानीसे (अप्रमाद भावसे) पटकने [illegible]

आत्मा और कर्म दोनोंके सूक्ष्म अन्तरंग सन्धिके बन्धमें (आंतरिक साँधके जोड़नेमें) शीघ्र लगती है। वह कैसे सो बतलाते हैं। आत्माको जिसका तेज अन्तरंगमें स्थिर और निर्मलरूपसे दैदीप्यमान है ऐसे चैतन्य प्रवाहमें मग्न करती हुई और बन्धको अज्ञान भावमें निश्चल करती हुई आत्मा और बन्धको सब ओरसे भिन्न भिन्न करती हुई गिरती है।

इस कलशमें आत्म स्वभावके पुरुषार्थका वर्णन किया गया है, भेद ज्ञानका उपाय दिखाया है। इस कलशके भाव विशेषतः परिणमन कराने योग्य हैं। १-पैनीछैनी, २-किसीप्रकारसे, ३-निपुण पुरुषोंके द्वारा, ४-सावधान होकर चलाई जानेपर, ५-शीघ्र गिरती है-चलती है, इसप्रकार पुरुषार्थके बतानेवाले पाँच विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं।

१—पैनी छैनी—जैसे जड़ शरीर में से विकारी रोगको निकालने के लिये पैने और सूक्ष्म चमकते हुए शस्त्रोंसे आपरेशन किया जाता है इसी प्रकार यहाँ चैतन्य आत्मा और रागादि विकारके बीच आपरेशन करके उन दोनोंको पृथक् करना है, उसके लिये तीक्ष्ण और तेज प्रज्ञारूपी छैनी है अर्थात् सम्यक्ज्ञानरूपी पर्याय अन्तरंगमें ढलकर स्वभावमें मग्न होता है और राग पृथक् हो जाता है, यही भेदविज्ञान है।

२—किसी भी प्रकार—पहले तेईसवें कलशमें कहा था कि तू किसी भी प्रकार-मर कर भी तत्त्वका कौतूहली हो, उसीप्रकार यहाँ भी कहते हैं कि किसी भी प्रकार, समस्त विश्वकी परवाह न करके भी सम्यकज्ञान रूपी प्रज्ञा-छैनीको आत्मा और बन्धके बीच डाल। 'किसी भी प्रकार' के कहनेसे यह बात भी उड़ादी गई है कि कर्म इत्यादि बीचमें बाधक हो सकते है। किसी भी प्रकार अर्थात् तू अपनेमें पुरुषार्थ करके प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा भेदज्ञान कर। शरीरका चाहे जो हो किन्तु आत्माको प्राप्त करना है—यही एक कर्तव्य है, इसप्रकार तीव्र आकांक्षा और रुचि करके सम्यक्ज्ञान को प्रगट कर। यदि बिजलीके प्रकाशमें सुईमें डोरा डालना हो तो उसमें कितनी एकाग्रता आवश्यक होती है? उधर बिजली चमकी

कि इधर सुईमें डोरा डाल दिया, इसमें एक क्षण मात्रका प्रमाद नहीं चल सकता, इसीप्रकार चैतन्यमें सम्यक्ज्ञान रूपी सत्को पानेके लिये चैतन्यकी एकाग्रता और तीव्र आकांक्षा होनी चाहिये। अहो! यह चैतन्य भगवान को पहिचाननेका सुयोग प्राप्त हुआ है, यहाँ प्रत्येक क्षण अमूल्य है, आत्म प्रतीतिके विना उद्धारका कहीं कोई मार्ग नहीं, इसलिये अभी ही किसी भी तरह आत्म प्रतीति कर लेनी चाहिये। इसप्रकार स्वभावकी रुचि प्रगट करने पर विकारका वल नष्ट हो जाता है। यह विकार अपने चैतन्यकी शोभा नहीं किन्तु कलंक है। मेरा चैतन्य तत्त्व उससे भिन्न असंग है। इसप्रकार निरन्तर स्वभावकी रुचि और पुरुषार्थके अभ्यासके द्वारा प्रज्ञारूपी छैनीको चलाना चाहिये।

३—निपुण पुरुषोंके द्वारा—यहां लौकिक निपुणताकी वात नहीं किन्तु स्वभावका पुरुषार्थ करनेमें निपुणताकी बात है। लौकिक बुद्धिमें निपुण होने पर भी उसे स्वयं शंका वनी रहती है कि मेरा क्या होगा? इसीप्रकार जिसे ऐसी शंका वनी रहती है कि "तीव्र कर्म उदयमें आयेंगे तो मेरा क्या होगा? यदि अभी मेरे बहुतसे भव शेष होंगे तो क्या होगा? मुझे प्रतिकूलता आगई तो क्या होगा?" तो वह निपुण नहीं किन्तु अशक्त पुरुषार्थहीन पुरुष है। जो ऐसी पुरुषार्थहीनता की बातें करता है वह प्रज्ञारूपी छैनीका प्रहार नहीं कर सकता, इसीलिये कहा है कि 'निपुण पुरुषोंके द्वारा चलाई जाने पर' अर्थात् जिसे कर्मोंके उदयका लक्ष्य नहीं किन्तु मात्र स्वभावकी प्राप्तिका ही लक्ष्य है और जिसे अपने स्वभाव की प्राप्तिके पुरुषार्थके बलसे मुक्तिकी निःसंदेहता ज्ञात है ऐसे निपुण पुरुष ही तीव्र पुरुषार्थके द्वारा प्रज्ञारूपी छैनीको चलाकर भेदविज्ञान करते है।

४—सावधान होकर—अर्थात् प्रमाद और मोहको दूर करके चलानी चाहिये। यदि एक क्षण भी सावधान होकर चैतन्यका अभ्यास करे तो अवश्य ही भेदज्ञान और मोक्ष प्राप्त हो जाय। जो चैतन्यमें

सावधान है उसे कर्मके उदयकी शंका कदापि नहीं होती। पहले अनादिकालसे विकारको अपना स्वरूप मानकर असावधान होरहा था उसकी जगह अब चैतन्य स्वरूपके लक्ष्यसे सावधान होकर विकारका लक्ष्य छोड़ दिया है। अर्थात् यदि अब विकार हो तो भी 'वह मेरे चैतन्य स्वरूपसे भिन्न है' इस प्रकार सावधान होकर आत्मा और बन्धके बीच प्रज्ञारूपी छैनी चलानी चाहिये।

'प्रज्ञारूपी छैनी चलानी चाहिये' इसका अर्थ यह है कि आत्मामें सम्यक्ज्ञानको एकाग्र करना चाहिये। यह चैतन्य स्वरूप मैं आत्मा हूँ और यह परकी ओर जानेवाली जो भावना है सो राग है, इसप्रकार आत्मा और बन्धकी पृथक्त्वकी संधि जानकर ज्ञानको चैतन्य स्वभावी आत्मामें एकाग्र करने पर रागका लक्ष्य छूट जाता है। यही प्रज्ञा छैनीका चलाना है।

५—प्रज्ञाछैनी शीघ्र चलती है—प्रज्ञा छैनीके चलनेमें विलंब नहीं लगता किन्तु जिस क्षणमें चैतन्यमें एकाग्र होता है उसी क्षण राग और आत्मा भिन्नरूपसे अनुभवमें आते हैं। यह इस समय नहीं हो सकता यह बात नहीं है, क्योंकि यह तो प्रतिक्षण कभी भी हो सकता है।

प्रज्ञाछैनीके चलने पर क्या होता है अर्थात् प्रज्ञाछैनी किसप्रकार चलती है? अन्तरंगमें जिसका चैतन्य तेज स्थिर है ऐसे ज्ञायक भावको ज्ञायकरूपसे प्रकाशित करता है। 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा विकल्प भी अस्थिर है, इस विकल्पको तोड़कर सम्यक्ज्ञान मात्र चैतन्यमें मग्न होता है, रागसे पृथक् होकर ज्ञान चैतन्यमें स्थिर होता है, इसप्रकार चैतन्यमें मग्न होती हुई निर्मलरूपसे चलती है। और जितना पुण्य पापकी वृत्तियोंका उत्थान है उस सबको बन्धभावमें निश्चल करती है। इसप्रकार आत्माको आत्मामें मग्न करती हुई और बन्धको अज्ञान भावमें नियत करती हुई प्रज्ञाछैनी चलती है—यही पवित्र सम्यग्दर्शन है।

प्रज्ञाछैनी चलती है—इस सम्बन्ध में यहाँ क्रम से बात कही है, समझानेके लिये क्रमसे कथन किया है, किन्तु वास्तवमें अन्तरंगमें क्रम नहीं

पड़ता, लेकिन एक ही साथ विकल्प टूटकर ज्ञान निजमें एकाग्र होजाता है। जिस समय ज्ञान निजमें एकाग्र होता है उसी समय रागसे पृथक होजाता है। पहले ज्ञान स्वोन्मुख हो और फिर राग अलग हो-इसप्रकार क्रम नहीं होता।

प्रश्न—इसे समझना तो कठिन मालूम होता है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई सरल मार्ग है या नहीं ?

उत्तर—अरे भाई ! इस दुनियाँदारीमें बड़े बड़े वेतन लेता है और विकटतम कार्योंके करनेमें अपनी बुद्धि लगाता है, वहाँ सब कुछ समझमें आजाता है और बुद्धि खूब काम करती है, किन्तु इस अपने आत्माकी बात समझनेमें बुद्धि नहीं चलती; भला यह कैसे हो सकता है ? स्वयं तो आत्माकी चिंता नहीं है और रुचि नहीं है, इसीलिये उसकी बात समझमें नहीं आती इसे समझे बिना मुक्तिका अन्य कोई भी उपाय नही है।

संसारके कार्योंमें सयान करके रागको पुष्ट करता है और जब आत्माको समझनेका प्रयत्न करनेकी बात आती है तो कहता है कि मेरी समझमें नहीं आता।

लेकिन यह भी तो विचार कर कि तुझे किसके घरकी बात समझमें नहीं आती ? तू आत्मा है कि जड़ है ? यदि आत्माकी समझमें यह बात नहीं आयेगी तो क्या जड़की समझमें आयेगी ? ऐसी कोई बात ही नहीं जो चैतन्यके ज्ञानमें न समझी जा सकती हो चैतन्यमें सब कुछ समझनेकी शक्ति है 'समझमें नहीं आ सकता' यह बात जड़के घरकी है। जो यह कहता है कि आत्माकी बात समझमें नहीं आसकती उसे आत्माके प्रति रुचि ही नहीं, प्रत्युत जड़के प्रति रुचि है। मुक्तिका मार्ग एक मात्र सम्यक्ज्ञान है और संसारका मार्ग एक मात्र अज्ञान है।

प्रश्न—ऐसे विकट समयमें यदि आत्माकी ऐसी [illegible]

समझनेमें समय लगा देंगे तो फिर अपनी आजीविका और व्यवसाय कैसे चलेगा ?

उत्तर—जिसे आत्माकी रुचि नहीं है किन्तु संयोगकी रुचि है उसीके यह प्रश्न उठता है। आजीविका इत्यादिका संयोग तो पूर्वकृत पुण्य के कारण मिलता है, उसमें वर्तमान पुरुषार्थ और चतुराई कार्य–कारी नहीं होती। आत्मा को समझने में न तो पूर्व कृत पुण्य काम में आता है और न वर्तमान पुण्य ही किन्तु यह तो पुरुषार्थके द्वारा अपूर्व आंतरिक संशोधनसे प्राप्त होता है वह बाह्य संशोधनसे प्राप्त नहीं हो सकता। यदि तुझे आत्माकी रुचि हो तो तू पहले यह निश्चय कर कि कोई भी परवस्तु मेरी नहीं है, परवस्तु मुझे सुख दुःख नहीं देती, मैं परका कुछ नहीं करता। इसप्रकार सम्पूर्ण परकी दृष्टिको छोड़कर निज को देख। अपनी पर्याय में राग हो तो उस रागके कारण भी परवस्तु नहीं मिलती, इसलिये राग निरर्थक है। ऐसी मान्यताके होने पर रागके प्रतिका पुरुषार्थ पंगु हो जाता है। परकी क्रियासे भिन्न जान लिया इसलिये अब अन्तरंग में रागसे भिन्न जानकर उस रागसे पृथक् करनेकी क्रिया शेष रही। इस प्रकार एक मात्र ज्ञान क्रिया ही आत्माका कर्तव्य है।

आत्मा परकी क्रिया कर ही नहीं सकता। परसे भिन्नत्वकी प्रतीति करने वाला आत्मा ही है। प्रज्ञारूपी छैनीके द्वारा ही आत्मा बन्धसे भिन्न रूपमें पहिचाना जाता है और यह प्रज्ञा छैनी ही मोक्षका उपाय है।

अनादि कालसे जीवने क्या किया है ? और अब उसे क्या करना चाहिये ?

अनादि कालसे आज तक किसी भी क्षणमें किसी जीवने परका कुछ किया ही नहीं, मात्र निजका लक्ष्य चूककर परकी चिंता ही की है। हे भाई! तू अपने तत्त्वकी भावनको छोड़कर पर तत्त्वकी जितनी चिंता करता है उतना ही उस चिंताका बोझ तेरे ऊपर है, उसी चिंताका तुझे

दुःख बना रहता है, किन्तु तेरी उस चितासे परका कोई कार्य नहीं बनता और तेरा अपना कार्य बिगड़ता जाता है। इसलिये हे भाई! अनादि कालसे आज तककी तेरी पर संबन्धी तमाम चितायें असत्य सिद्ध हुईं और वे सब निष्फल गईं, इसलिये अब प्रज्ञाके द्वारा अपने भिन्न स्वरूपको जानकर उसमे एकाग्र हो। परकी चिंता करना तेरा स्वरूप नही।

तू परकी वस्तुओंको एकत्रित मानकर उनकी चिंता किया करे तो भी पर वस्तुओंका तो जो परिणमन होता है वही होगा। और यदि तू पर वस्तुओंको भिन्न जानकर उनका लक्ष्य छोड़ दे तो भी वे तो स्वयं परिणमित होती ही रहेंगी। तेरी चिंता हो या न हो उसके साथ पर वस्तुओंके परिणमनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अनादि कालसे आत्माने परका कुछ नही किया, अपनेको भूलकर मात्र परकी चिंता ही की है। किन्तु हे आत्मन्! प्रारम्भसे अन्त तककी तेरी समस्त चितायें निष्फल गई हैं इसलिये अब तो स्वरूपकी भावना कर और शरीरादिक पर वस्तुकी चिता छोड़कर निजको देख। अपनेको पहिचाननेपर परकी चिंता छूट जायगी और आत्माकी शांतिका अनुभव होगा। तुझे अपने धर्म का सम्बन्ध आत्माके साथ रखना है या परके साथ? यहाँ यह बताया है कि आत्माके धर्मका सम्बन्ध किसके साथ है।

मैं चाहे जहाँ होऊं किन्तु मेरी पर्यायका सम्बन्ध मेरे द्रव्यके साथ है, बाह्य संयोगके साथ नहीं है। चाहे जिस क्षेत्रमें हो किन्तु आत्माका धर्म तो आत्मामें से ही उत्पन्न होता है, शरीरमें से या संयोगमें से धर्मकी उत्पत्ति नहीं होती। जो ऐसी स्वाधीनताकी श्रद्धा और ज्ञान करता है उसे कहाँ आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं होता! और जिसे ऐसी श्रद्धा तथा ज्ञान होता है वह कहाँ शरीरादिका सम्बन्ध मानता है? स्वभावका सम्बन्ध न टूटे और परका सम्बन्ध कहीं न माने—बस, यही धर्म है।

एक क्षणभरका भेदज्ञान अनंत भवका नाश करके मुक्ति प्राप्त कराता है।

"दर्शन शुद्धिसे ही आत्म सिद्धि"

(१०) जीवन का कर्तव्य

अध्यात्म तत्वकी बात समझनेको आनेवाले जिज्ञासुके वैराग्य और कषाय की मन्दता अवश्य होती है अथवा यों कहना चाहिये कि जिसे वैराग्य होता है, और कषायकी मन्दता होती है, उसीके स्वरूपको समझने की जिज्ञासा जागृत होती है। मन्द कषायकी बात तो सभी करते हैं, किन्तु जो सर्व कषायसे रहित अपने आत्मतत्वके स्वरूपको समझकर जन्म-मरण के अन्तकी निःशंकता आजाये ऐसी बात जिनधर्ममें कही गई है। अनन्त कालमें तत्वको समझनेका सुयोग प्राप्त हुआ है, और शरीरके छूटनेका समय आगया है, इस समय भी यदि कषायको छोड़कर आत्मस्वरूपको नहीं समझेगा तो फिर कब समझेगा ? पुरुषार्थ सिद्ध्युपायमें कहा गया है कि पहले जिज्ञासु जीवको सम्यग्दर्शन पूर्वक मुनि धर्मका उपदेश देना चाहिये, किन्तु यहाँ तो पहले सम्यग्दर्शन प्रगट करने की बात कही जा रही है।

हे भाई ! मानव जीवनकी देहस्थिति पूर्ण होनेपर यदि स्वभावकी रुचि और परिणति साथमें न ले गया तो तूने इस मानव जीवनमें कोई आत्मकार्य नहीं किया। शरीर त्याग करके जानेवाले जीवके साथ क्या जानेवाला है ? यदि जीवन में तत्व समझनेका प्रयत्न किया होगा तो ममतारहित स्वरूपकी रुचि और परिणति साथमें ले जायेगा। और यदि ऐसा प्रयत्न नहीं किया तथा परका ममत्व करनेमें ही जीवन व्यतीत कर दिया तो उसके साथ मात्र ममताभावकी आकुलताके अतिरिक्त दूसरा कुछ भी जाने वाला नहीं है। किसी भी जीवके साथ पर वस्तुयें नहीं जाती किन्तु मात्र अपना भाव ही साथ ले जाता है।

इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि चेतनाके द्वारा आत्माका ग्रहण करना चाहिये। जिस चेतनाके द्वारा आत्माका ग्रहण किया है, वह सदा आत्मामें ही है। जिसने चेतनाके द्वारा शुद्ध आत्माको जान लिया है, वह कभी भी पर पदार्थको या परभावोंको आत्मस्वभावके रूपमें ग्रहण नहीं करता, किन्तु शुद्धात्माको ही अपने रूपमें जानकर उसका ग्रहण करता है।

इसलिये वह सदा अपने आत्मामें ही है। यदि कोई पूछे कि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव कहाँ हैं ? तो—स्वर्गादिक बाह्य क्षेत्रोंमें नहीं किन्तु अपने आत्मामें ही हैं। जिसने कभी किसी पर पदार्थको अपना नहीं माना, और एक चेतनास्वभाव को ही निजस्वरूपसे अंगीकार किया है वह चेतनास्वभाव के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ जायगा ? जिसने चेतनाके द्वारा अपना ग्रहण किया है वह सदा अपने आत्मामें ही टिका रहता है। जिसमें जिसकी दृष्टि पड़ी है उसमें वह सदा बना रहता है। वास्तवमें कोई भी जीव अपनी चैतन्य भूमिकासे बाहर नहीं रहता; किन्तु अपनी चैतन्य भूमिकामें जैसे भाव करता है वैसे ही भावोंमें रहता है। ज्ञानी ज्ञानभावमें और अज्ञानी अज्ञानभावमें रहता है। बाहरसे चाहे जो क्षेत्र हो किन्तु जीव अपनी चैतन्य भूमिकामें जो भाव करता है, उसी भावको वह भोगता है, बाह्य संयोगको नहीं भोगता।

(श्री समयप्राभृत गाथा २९७ के व्याख्यानसे, सोनगढ़)

तीनलोकमें सम्यग्दर्शनकी श्रेष्ठता

एक पहलूमें सम्यग्दर्शनका लाभ हो और दूसरे पहलूमें तीनलोक के राज्यका लाभ प्राप्त हो, तो वहीं पर तीन लोकके लाभ से भी सम्यग्दर्शनका लाभ श्रेष्ठ है, क्योंकि तीनलोकका राज्य पाकर भी अल्पपरिमित कालमें वह छूट जाता है और सम्यग्दर्शनका लाभ होने पर तो जीव अक्षय मोक्ष सुखको पाते ही हैं।

(भगवती आराधना ७४६-४७)

(११) कल्याणमूर्ति

हे भव्य जीवो ! यदि तुम आत्मकल्याण करना चाहते हो तो स्वतः शुद्ध और सर्वप्रकार परिपूर्ण आत्मस्वभावकी रुचि और विश्वास करो, तथा उसीका लक्ष्य और आश्रय ग्रहण करो। इसके अतिरिक्त अन्य समस्त रुचि, लक्ष्य और आश्रयका त्याग करो। स्वाधीन स्वभावमें ही सुख है, परद्रव्य तुम्हें सुख या दुःख देनेके लिये समर्थ नहीं है। तुम अपने स्वाधीन स्वभाव का आश्रय छोड़कर अपने ही दोषोंसे पराश्रयके द्वारा अनादिकालसे अपना अपार अकल्याण कर रहे हो ! इसलिये अब सर्व परद्रव्योंका लक्ष्य और आश्रय छोड़कर स्वद्रव्यका ज्ञान, श्रद्धान तथा स्थिरता करो। स्वद्रव्यके दो पहलू हैं-एक, त्रिकालशुद्ध स्वतःपरिपूर्ण निरपेक्षस्वभाव और दूसरा क्षणिक वर्तमानमें होनेवाली विकारी अवस्था। पर्याय स्वयं अस्थिर है, इसलिये उसके लक्ष्यसे पूर्णताकी प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता, किन्तु जो त्रिकालस्वभाव है वह सदा शुद्ध है, परिपूर्ण है, और वर्तमानमें भी वह प्रकाशमान है, इसलिये उसके आश्रय तथा लक्ष्यसे पूर्णता की प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट होगा। यह सम्यग्दर्शन स्वयं कल्याणरूप है और यही सर्व कल्याणका मूल है। ज्ञानीजन सम्यग्दर्शन को 'कल्याणमूर्ति' कहते है। इसलिये सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका अभ्यास करो।

(१२) धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है।

अज्ञानियों की यह मिथ्या मान्यता है कि शुभभाव धर्मका कारण है। शुभभाव तो विकार है वह धर्मका कारण नहीं है, सम्यग्दर्शन स्वयं धर्म है और वह धर्मका मूल कारण है।

अज्ञानीका शुभ भाव अशुभकी सीढ़ी है और ज्ञानीके शुभका अभाव शुद्धता की सीढ़ी है। अशुभसे सीधा शुद्ध भाव किसी भी जीवके नहीं हो सकता, किन्तु अशुभ को छोड़कर पहले शुभभाव होता है और उस शुभको छोड़कर शुद्धमें ज़ाया जाता है, इसलिये शुद्धभावसे पूर्व

शुभभावका ही अस्तित्व होता है। ऐसा ज्ञान मात्र करानेके लिये शास्त्रमें शुभभावको शुद्ध भावका कारण उपचारसे ही कहा है। किन्तु यदि शुभभाव को शुभभावका कारण वास्तवमें माना जाय तो उस जीवको शुभभावकी रुचि है इसलिये उसका वह शुभभाव पापका ही मूल कहलायेगा। जो जीव शुभभावसे धर्म मानकर शुभभाव करता है उस जीवको उस शुभभावके समय ही मिथ्यात्वके सबसे बड़े महापापका बन्ध होता है अर्थात् उसे मुख्यतया तो अशुभका ही बन्ध होता है और ज्ञानी जीव यह जानता है कि इस शुभका अभाव करनेसे ही शुद्धता होती है इसलिये उनके कदापि शुभकी रुचि नहीं होती अर्थात् वे अल्प कालमें शुभका भी अभाव करके शुद्ध भावरूप हो जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यकी रुचि सहित शुभ भाव करके नवमें ग्रैवेयक तक गया तथापि वहाँसे निकलकर निगोदादिमें गया क्योंकि अज्ञान सहितका शुभ भाव ही पापका मूल है। शुभभाव मोहरूपी राजा की कढी है। जो उस शुभरागकी रुचि करता है वही मोहरूपी राजा के जालमें फँसकर संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। जीव मुख्यतया अशुभमें तो धर्म मानता ही नहीं, परन्तु वह जीव शुभमें धर्म मानकर अज्ञानी होता है जो स्वयं अधर्मरूप है ऐसा रागभाव धर्मके लिये क्योंकर सहायक हो सकता है?

धर्मका कारण धर्मरूप भाव होता है या अधर्मरूप भाव होता है? अधर्मरूप भावका नाश होना ही धर्मका कारण है अर्थात् सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र द्वारा अशुभ तथा शुभभावका नाश होना ही धर्मभाव का कारण है।

शुभ भाव धर्मकी सीढ़ी नहीं है, किन्तु सम्यक् समझ ही धर्मकी सीढ़ी है केवलज्ञान दशा संपूर्ण धर्म है और सम्यक् समझ अंशतः धर्म

(श्रद्धारूपी धर्म) है। वह श्रद्धारूपी धर्म ही धर्मकी पहली सीढ़ी है। इसप्रकार धर्मकी सीढ़ी धर्मरूप ही है किन्तु अधर्मरूप शुभभाव कदापि धर्मकी सीढ़ी नहीं है।

श्रद्धा धर्मके बाद ही चारित्र धर्म हो सकता है इसीलिये श्रद्धारूपी धर्म उस धर्मकी सीढ़ी है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवने कहा है कि 'दंसण मूलो धम्मो' अर्थात् धर्मका मूल दर्शन है।

सम्यग्दर्शनरूपी पवित्र भूमि

न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षिप्तौ
कदाचन क्षिप्रमपि प्ररोहति।
सदाप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं
कुदर्शने तद्विपरीतमिष्यते॥

भावार्थः—सम्यग्दर्शनरूपी भूमिमें कदाचित् दुःखका बीज गिर भी जाय तो भी सम्यग्दर्शनरूपी पवित्र भूमिमें वह बीज कभी भी शीघ्र अंकुरित नहीं हो पाता, परन्तु दुःखांकुर उत्पन्न होने से प्रथम ही वह पवित्र भूमिका ताप उसे जला देता ही है। और उस पावन भूमिमें सुखका बीज तो बिना बोये भी सदा उत्पन्न होता जाता है, परन्तु मिथ्यादर्शनरूपी भूमिमें तो लगातार-उससे विपरीत फल होते हैं अर्थात् मिथ्यादर्शनरूपी भूमिमें कदाचित् सुखका बीज बोनेमें आ जाय तो भी वह अंकुरित होते नहीं परन्तु जल जाते हैं, और दुःखके बीज तो बिना बोये भी उत्पन्न होते हैं।

—सागार धर्मामृत पृ० २५

(१३) सम्यग्दर्शन गुण है या पर्याय ?

(१) सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है। इनमें से सम्यग्दर्शन भी मोक्षमार्गरूप है। मोक्षमार्ग पर्याय है, गुण नहीं, यदि मोक्षमार्ग गुण हो तो वह समस्त जीवोंमें सदा रहना चाहिये। गुणका न तो कभी नाश हो और न कभी उत्पत्ति ही हो, मोक्षमार्ग पर्याय है इसलिये उसकी उत्पत्ति होती है और मोक्षदशाके प्रगट होने पर उस मोक्षमार्गका व्यय हो जाता है।

(२) बहुतसे लोग सम्यग्दर्शनको त्रैकालिक गुण मानते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन तो आत्माके त्रैकालिक श्रद्धा गुणकी निर्मल पर्याय है, गुण नहीं है।

(३) गुणकी परिभाषा यह है कि—'जो द्रव्यके सम्पूर्ण भागमें और उसकी सभी अवस्थाओंमें व्याप्त रहता है वह गुण है'। यदि सम्यग्दर्शन गुण हो तो वह आत्माकी समस्त अवस्थाओंमें रहना चाहिये, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन आत्माकी मिथ्यात्वदशामें नहीं रहता, इससे सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन गुण नहीं किन्तु पर्याय है।

(४) जो गुण होता है वह त्रिकाल होता है और जो पर्याय होती है वह नई प्रगट होती है। गुण नया प्रगट नहीं होता किन्तु पर्याय प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन नया प्रगट होता है, इसलिये वह गुण नहीं किन्तु पर्याय है। पर्यायका लक्षण उत्पाद-व्यय है और गुणका लक्षण ध्रौव्य है।

(५) यदि सम्यग्दर्शन स्वयं गुण हो तो उस गुणकी पर्याय क्या है ? 'श्रद्धा' नामक गुण है और सम्यग्दर्शन (सम्यक्श्रद्धा) तथा मिथ्यादर्शन (मिथ्याश्रद्धा) दोनों उसकी पर्याय हैं। सम्यग्दर्शन शुद्ध पर्याय है और मिथ्यादर्शन अशुद्ध पर्याय है।

(६) प्रश्न—यदि सम्यग्दर्शनको पर्याय माना जाय तो उसकी महिमा समाप्त हो जायगी, क्योंकि पर्याय तो क्षणिक होती है और पर्याय दृष्टिको शास्त्रमें मिथ्यात्व कहा है।

उत्तर—सम्यग्दर्शनको पर्याय माननेसे उसकी महिमाको कोई कमी नहीं आ सकती। केवलज्ञान भी पर्याय है, और सिद्धत्व भी पर्याय है। जो जैसी है वैसी ही पर्यायको पर्याय रूपमें जाननेसे उसकी यथार्थ महिमा बढ़ती है, यद्यपि सम्यग्दर्शन पर्याय क्षणिक है किन्तु उस सम्यग्दर्शनका कार्य क्या है? सम्यग्दर्शनका कार्य अखंड त्रैकालिक द्रव्यको स्वीकार करना है, अर्थात् सम्यग्दर्शन त्रैकालिक द्रव्यकी प्रतीति करता है और वह पर्याय त्रैकालिक द्रव्यके साथ एकाकार होती है, इसलिये उसकी अपार महिमा है। इसप्रकार सम्यग्दर्शनको पर्याय माननेसे उसकी महिमा समाप्त नहीं हो जाती। किसी वस्तुके कालको लेकर उसकी महिमा नहीं है किन्तु उसके भावको लेकर उसकी महिमा है। और फिर यह भी सच ही है कि पर्याय दृष्टिको शास्त्रमें मिथ्यात्व कहा है। परन्तु साथ ही यह जान लेना चाहिये कि पर्यायदृष्टिका अर्थ क्या है। सम्यग्दर्शन पर्याय है और पर्यायको पर्यायके रूपमें जानना पर्याय दृष्टि नहीं है। द्रव्यको द्रव्यके रूपमें और पर्यायको पर्यायके रूपमें जानना सम्यग्ज्ञानका काम है। यदि पर्यायको ही द्रव्य मानले अर्थात् एक पर्याय जितना ही समस्त द्रव्यको मानले तो उस पर्यायके लक्ष्यमें ही अटक जायगा—पर्यायके लक्ष्यसे हटकर द्रव्यका लक्ष्य नहीं कर सकेगा, इसीका नाम पर्याय दृष्टि है। सम्यग्दर्शनको पर्यायके रूपमें जानना चाहिये। श्रद्धा गुण तो आत्माके साथ त्रिकाल रहता है इसप्रकार द्रव्य गुणका त्रिकाल रूप जानकर उसकी प्रतीति करना सो द्रव्य दृष्टि है और यही सम्यग्दर्शन है।

(७) जो जीव सम्यग्दर्शनको गुण मानते हैं वे सम्यग्दर्शनको प्रगट करनेका पुरुपार्थ क्यों करेंगे? क्योंकि गुण तो त्रिकाल रहने वाला है इसलिये कोई जीव सम्यग्दर्शनको प्रगट करनेका पुरुपार्थ नहीं करेगा और इसीलिये उसे कदापि सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होगा तथा मिथ्यात्व दूर नहीं होगा। यदि सम्यग्दर्शनको पर्यायके रूपमें जाने तो नई पर्यायको प्रगट करनेका पुरुषार्थ करेगा। जो पर्याय होती है वह त्रैकालिक गुणके

आश्रयसे होती है और गुण द्रव्य के साथ एक रूप होता है। अर्थात सम्यग्दर्शन पर्याय श्रद्धा गुणमें से प्रगट होती है और श्रद्धागुण आत्माके साथ त्रिकाल है, इसप्रकार त्रिकाल द्रव्यके लक्ष्यसे सम्यग्दर्शनका पुरुषार्थ प्रगट होता है। जिसने सम्यग्दर्शनको गुण ही मान लिया है उसे कोई पुरुषार्थ करनेकी आवश्यक्ता नहीं रह जाती। सम्यग्दर्शन नवीन प्रगट होनेवाली निर्मल पर्याय है जो इसे नहीं मानता वह वास्तवमें अपनी निर्मल पर्यायको प्रगट करनेवाले पुरुषार्थको ही नहीं मानता।

(८) शास्त्रमें पाँच भावोंका वर्णन करते हुये औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भावके भेदोंमें सम्यग्दर्शनको गिनाया है। यह औपशमिकादिक तीनों भाव पर्याय रूप है इसलिये सम्यग्दर्शन भी पर्याय रूप ही है। यदि सम्यग्दर्शन गुण हो तो गुणको औपशमिकादिकी अपेक्षा लागू नहीं हो सकती और इसलिये औपशमिक 'सम्यग्दर्शन' इत्यादि भेद भी नहीं बन सकेंगे। क्योंकि सम्यग्दर्शन गुण नही, पर्याय है इसलिये उसे औपशमिक भाव इत्यादिकी अपेक्षा लागू पड़ती है।

(९) शास्त्रोंमें कहीं कहीं अभेद नयकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनको आत्मा कहा गया है, इसका कारण यह है कि वहाँ द्रव्य-गुण-पर्यायके भेद का लक्ष्य और विकल्प छुड़ाकर अभेद द्रव्यका लक्ष्य करानेका प्रयोजन है। द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्य-गुण-पर्यायमें भेद नहीं है, इसलिये इस नयसे तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों द्रव्य ही हैं। किन्तु जब पर्यायार्थिक नयसे द्रव्य-गुण-पर्यायके भिन्न भिन्न स्वरूपका विचार करना होता है तब जो द्रव्य है वह गुण नहीं और गुण है वह पर्याय नहीं होती, क्योंकि इन तीनोंके लक्षण भिन्न भिन्न हैं। द्रव्य गुण पर्यायके स्वरूपको जैसाका तैसा जाननेके बाद उसके भेदका विकल्प तोड़कर अभेद आत्म-स्वभावमें उन्मुख होनेपर मात्र अभेद द्रव्य ही अनुभवमें आता है,—यह बतानेके लिये शास्त्रमें द्रव्य-गुण-पर्यायको अभिन्न कहा गया है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन त्रैकालिक द्रव्य अथवा गुण है, किन्तु सम्यग्दर्शन पर्याय ही है।

(१०) सम्यग्दर्शनको कहीं कहीं गुण भी कहा जाता है। किन्तु वास्तवमें तो वह श्रद्धा गुणकी निर्मल पर्याय है, किन्तु जैसे गुण त्रिकाल निर्मल है वैसे ही उसकी वर्तमान पर्याय भी निर्मल हो जानेसे—अर्थात् निर्मल पर्याय गुणके साथ अभेद होजानेसे अभेद नयकी अपेक्षासे उस पर्यायको भी गुण कहा जाता है।

(११) श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने प्रवचनसारमें चारित्राधिकारकी ४२ वीं गाथाकी टीकामें सम्यग्दर्शनको स्पष्टतया पर्याय कहा गया है। (देखो पृष्ठ ३३५) तथा उसीमें ज्ञानाधिकारकी ८ वीं गाथाकी टीकामें श्री जयसेनाचार्यने बारम्बार 'सम्यकृत्व पर्याय' शब्दका प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि सम्यग्दर्शन पर्याय है। (देखो पृष्ठ १३६-१३७-१३८)

(१२) यह ऊपर बताया जा चुका है कि सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुणकी निर्मल पर्याय है। 'श्रद्धा' गुणको 'सम्यक्त्व' गुणके नामसे भी पहिचाना जाता है। इसलिये पंचाध्यायी (अध्याय २ गाथा ९४५) में सम्यकृत्वको त्रैकालिकगुण कहा है, वहां सम्यक्त्वगुणको श्रद्धा गुण ही समझना चाहिये। इसप्रकार सम्यक्त्वको गुणके रूपमें जानना चाहिये। सम्यकृत्व गुणकी निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है। कहीं कहीं सम्यग्दर्शन पर्यायको भी 'सम्यकृत्व' कहा गया है।

(१३) सम्यकृत्व-श्रद्धा गुणकी दो प्रकारकी पर्यायें हैं। एक सम्यग्दर्शन दूसरी मिथ्यादर्शन। जीवोंके अनादिकालसे सम्यकृत्व गुणकी पर्याय मिथ्यात्वरूप होती है। अपने पुरुषार्थके द्वारा भव्य जीव उस मिथ्यात्वपर्यायको दूर करके सम्यकृत्व पर्यायको प्रगट कर सकते हैं। सम्यकृदर्शन पर्यायके प्रगट होने पर गुण पर्यायकी अभेद विवक्षासे यह भी कहा जाता है कि 'सम्यकृत्व गुण प्रगट हुआ है' जैसे शुद्ध त्रैकालिक गुण है वैसी ही शुद्ध पर्यायें सिद्ध दशामें प्रगट होती है इसलिये सिद्ध भगवानके सम्यक्त्व इत्यादि आठ गुण होते हैं—ऐसा कहा जाता है। द्रव्य-गुण-पर्यायकी भेद दृष्टिसे देखने पर यह समझना चाहिये कि वास्तवमें वे सम्यक्त्वादिक आठ गुण नहीं किन्तु पर्याय हैं।

(१४) श्रद्धा गुणकी निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है, यह व्याख्या गुण और पर्यायके स्वरूपका भेद समझनेके लिये है। गुण त्रैकालिक शक्तिरूप होता है और पर्याय प्रति समय व्यक्तिरूप होती है। गुणसे कार्य नहीं होता किन्तु पर्यायसे होता है। पर्याय प्रति समय बदलती रहती है इसलिये प्रति समय नई पर्यायका उत्पाद और पुरानी पर्यायका व्यय होता ही रहता है। जब श्रद्धा गुणकी क्षायिक पर्याय (क्षायिक सम्यग्दर्शन) प्रगट होती है तबसे अनन्त काल तक वह वैसी ही रहती है। तथापि प्रति समय नई पर्यायकी उत्पत्ति और पुरानी पर्यायका व्यय होता ही रहता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुणकी एक ही समय मात्रकी निर्मल पर्याय है।

(१५) श्री उमास्वामी आचार्यने तत्त्वार्थ सूत्रके पहले अध्यायके दूसरे सूत्रमें कहा है—"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्दर्शनं" यहाँ 'श्रद्धान' श्रद्धागुण की पर्याय है इसप्रकार सम्यग्दर्शन पर्यायको अभेद नयसे श्रद्धा भी कहा जाता है। नियमसार शास्त्रकी १३ वीं गाथामें श्रद्धाको गुण कहा है।

श्री समयसारजीकी १५५ वीं गाथामें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने कहा है कि—"जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं," यहाँ भी 'श्रद्धान' श्रद्धा गुण पर्याय है ऐसा समझना चाहिये।

(१६) उपरोक्त कथनसे सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुणकी (सम्यक्त्व गुणकी) एक समय मात्रकी पर्याय ही है, और ज्ञानीजन किसी समय अभेदनयकी अपेक्षासे उसे 'सम्यक्त्व गुण' के रूपमें अथवा आत्माके रूपमें बतलाते हैं।

—सर्व धर्मोंका मूल—

ज्ञान और चारित्रका बीज सम्यग्दर्शन है, यम और प्रशम-भावका जीवन सम्यग्दर्शन ही है, और तप तथा स्वाध्याय का आधार भी सम्यग्दर्शन ही है—ऐसा आचार्यों ने कहा है।

(ज्ञानार्णव अ० ६ गाथा ५४)

(१४) हे जीवो ! सम्यक्त्व की आराधना करो

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका यथावत् निश्चय,—आत्मामें उनका वास्तविक प्रतिभास ही सम्यग्दर्शन है। पण्डित और बुद्धिमान मुमुक्षुको मोक्ष स्वरूप परम सुख स्थानमें निर्विघ्न पहुँचानेमें यह पहली सीढ़ीरूप है। ज्ञान, चारित्र और तप—यह तीनों सम्यक्त्व सहित हों तभी मोक्षार्थसे सफल हैं, वंदनीय हैं, कार्यगत है। अन्यथा वही (ज्ञान, चारित्र और तप) संसारके कारणरूपसे ही परिणमित होते रहते हैं। संक्षेपमें—सम्यक्त्वरहित ज्ञान ही अज्ञान है, सम्यक्त्व रहित चारित्र ही कषाय, और सम्यक्त्व रहित तप ही काय-क्लेश है। ज्ञान, चारित्र और तप—इन तीनों गुणोंको उज्ज्वल करनेवाली—ऐसी यह सम्यक्श्रद्धा प्रथम आराधना है; शेष तीन आराधनाएँ एक सम्यक्त्व की विद्यमानतामें ही आराधक-भावरूप वर्तती है। इसप्रकार सम्यक्त्वकी अकथ्य और अपूर्व महिमा जानकर उस पवित्र कल्याण मूर्तिरूप सम्यक्दर्शनको, इस अनंतानंत दुःखरूप अनादि संसारकी आत्यंतिक निवृत्तिके अर्थ हे भव्यों ! तुम भक्ति भाव पूर्वक अंगीकार करो, प्रति समय आराधना करो। (श्री आत्मानुशासन पृ० ६)

चार आराधनाओंमें सम्यक्त्व आराधनाको प्रथम कहनेका क्या कारण है ?—ऐसा प्रश्न शिष्यको उठने पर आचार्यदेव उसका समाधान करते हैं:—

शम बोध वृत्त तपसां, पाषाणस्यैव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेरिव, तदेव सम्यक्त्व संयुक्तम् ।। १५ ।।

आत्माको मंद कषायरूप उपशमभाव, शास्त्राभ्यास रूप ज्ञान, पापके त्यागरूप चारित्र और अनशनादिरूप तप—इनका जो महत्‌पना है वह सम्यक्त्वके बिना मात्र पाषाण बोझके समान है,—आत्मार्थ फलदायी नहीं है। परन्तु यदि वही सामग्री सम्यक्त्व सहित हो तो महामणि समान

पूजनीक हो जाती है। अर्थात् वास्तविक फलदायी और उत्कृष्ट महिमा योग्य होती है।

पाषाण और मणि–यह दोनों एक पत्थर की जातिके है, अर्थात् जाति अपेक्षासे तो यह दोनों एक हैं; तथापि शोभा, झलक आदिके विशेषपनेके कारण मणिका थोड़ा-सा भार वहन करे तो भी भारी महत्वको प्राप्त होता है, लेकिन पाषाणका अधिक भार उसके उठानेवालेको मात्र कष्टरूप ही होता है; उसीप्रकार मिथ्यात्व क्रिया और सम्यक्त्व क्रिया–दोनों क्रिया की अपेक्षासे तो एक ही हैं; तथापि अभिप्रायके सत्-असत्पनेके तथा वस्तुके भान-बेभानपनेके कारणको लेकर मिथ्यात्व सहित क्रियाका अधिक भार वहन करे तो भी वास्तविक महिमा युक्त और आत्मलाभपनेको प्राप्त नहीं होता, परन्तु सम्यक्त्व सहित अल्प भी क्रिया यथार्थ आत्मलाभदाता और अति महिमा योग्य होती है। (आत्मानुशासन पृ० ११)

मोक्ष और बन्धका कारण

साधक जीवके जहाँ तक रत्नत्रयभावकी पूर्णता नहीं होती वहाँ तक उसे जो कर्मबंध होता है, उसमें रत्नत्रयका दोष नहीं है। रत्नत्रय तो मोक्षका ही साधक है, वह बंधका कारण नहीं होता, परन्तु उस समय रत्नत्रयभावका विरोधी जो रागांश होता है वही बंधका कारण है।

जीवको जितने अंशमें सम्यग्दर्शन है उतने अंशतक बंधन नहीं होता; किन्तु उसके साथ जितने अंशमें राग है उतने ही अंश तक उस रागांशसे बंधन होता है।

(पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय गाथा २१२,२१५)

(१५) सम्यग्दर्शन प्राप्तिका उपाय

जय अरहन्त

प्रवचनसारकी ८० वीं गाथा पर पूज्य श्री कानजी स्वामीका प्रवचन

जो वास्तव में अरहन्त को जानता है वह अपने आत्माको अवश्य जानता है

आचार्यदेव कहते हैं कि—मैं शुद्धोपयोगकी प्राप्तिके लिये कटिबद्ध हुआ हूँ, जैसे पहलवान (योद्धा) कमर बाँधकर लड़नेके लिये तैयार होता है उसी प्रकार मैं अपने पुरुषार्थके बलसे मोह मल्लका नाश करनेके लिये कमर कसकर तैयार हुआ हूँ।

मोक्षाभिलाषी जीव अपने पुरुपार्थके द्वारा मोहके नाश करनेका उपाय विचारता है। भगवानके उपदेशमें पुरुषार्थ करनेका कथन है। भगवान पुरुषार्थके द्वारा मुक्तिको प्राप्त हो चुके हैं और भगवानने जो उपाय किया वही उपाय बताया है, यदि जीव वह उपाय करे तो ही उसे मुक्ति हो, अर्थात् पुरुपार्थके द्वारा सत्य उपाय करनेसे ही मुक्ति होती है, अपने आप नहीं होती।

यदि कोई कहे कि "केवली भगवानने तो सब कुछ जान लिया है कि कौनसा जीव कब मुक्त होगा और कौन जीव मुक्त नहीं होगा; तो फिर भगवान पुरुपार्थ करनेकी क्यों कहते हैं ?" तो ऐसा कहनेवालेकी बात मिथ्या है। भगवानने तो पुरुपार्थका ही उपदेश दिया है, भगवानके केवलज्ञानका निर्णय भी पुरुषार्थके द्वारा ही होता है। जो जीव भगवानके कहे हुये मोक्षमार्गका पुरुपार्थ करता है उसे अन्य सर्व साधन स्वयं प्राप्त हो जाते हैं। अब ८०-८१-८२ इन तीन गाथाओंमें बहुत सरस बात आती है। जैसे माता अपने इकलौते पुत्रको हृदयका हार कहती है उसीप्रकार यह तीनों गाथायें हृदयका हार हैं। यह मोक्षकी मालाके गुंफित मोती हैं; यह तीनों गाथायें तो तीन रत्न (श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र) के सदृश हैं। उनमें पहली ८० वीं गाथामें मोहके क्षय करनेका उपाय बतलाते हैं:—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

अर्थः—जो अरहंतको द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे, और पर्यायरूपसे जानता है, वह (अपने) आत्माको जानता है और उसका मोह अवश्य नाशको प्राप्त होता है।

इस गाथामें मोहकी सेनाको जीतनेके पुरुषार्थका विचार करते हैं। जहाँ मोहके जीतनेका पुरुषार्थ किया वहाँ–अरहंतादि निमित्त उपस्थित होते ही हैं। जहाँ उपादान जागृत हुआ वहाँ निमित्त तो होता ही है। काल आदि निमित्त तो सर्व जीवके सदा उपस्थित रहते हैं, जीव स्वयं जिस प्रकारका पुरुषार्थ करता है उसमें कालको निमित्त कहा जाता है। जब यदि कोई जीव शुभ भाव करके स्वर्गमें जाय तो उस जीवके लिये वह काल स्वर्गका निमित्त कहलाता है। यदि दूसरा जीव उसी समय पाप करके नरकमें जाय तो उसके लिये उसी कालको नरकका निमित्त कहा जाता है, और कोई जीव उसी समय स्वरूप समझकर स्थिरता करके मोक्ष प्राप्त करे तो उस जीवके लिये वही काल मोक्षका निमित्त कहलाता है। निमित्त तो हमेशा विद्यमान है, किन्तु जब स्वयं अपने पुरुषार्थके द्वारा अरहंतके स्वरूपका और अपने आत्माका निर्णय करता है तब क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य प्रगट होता है और मोहका नाश होता है।

जिसने अरहंत भगवानके द्रव्य गुण पर्यायके स्वरूपको जाना है वह जीव अल्पकालमें मुक्तिका पात्र हुआ है, अरहंत भगवान आत्मा हैं, उनमें अनंत गुण हैं उनकी केवलज्ञानादि पर्याय है उसके निर्णयमे आत्माके अनंतगुण और पूर्ण पर्यायकी सामर्थ्यका निर्णय आजाता है उस निर्णय के बलसे अल्पकालमे केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है इसमें संदेहको कहीं स्थान नहीं है, यहाँ इस गाथामें क्षायिक सम्यक्त्व की ध्वनि है।

"जो अर्हंत को द्रव्यरूपमें गुणरूपमें और पर्यायरूपमें जानता है वह" इस कथनमें जाननेवालेके ज्ञानकी महत्ता समाविष्ट है। अरहंतको

जाननेवाले ज्ञानमें मोह-क्षयका उपाय समाविष्ट कर दिया है, जिस ज्ञानने अर्हत भगवानके द्रव्य गुण पर्यायको अपने निर्णयमें समाविष्ट किया है उस ज्ञानने भगवानसे कर्मोंका और विकारका अपनेमें अभाव स्वीकार किया है अर्थात् द्रव्यसे गुणसे और पर्यायसे परिपूर्णताका सद्भाव निर्णयमें प्राप्त किया है। 'जो जानता है' इसमें जाननेवाली तो वर्तमान पर्याय है। निर्णय करनेवालेने अपनी ज्ञान पर्यायमें पूर्ण द्रव्य-गुण-पर्यायका अस्ति-रूपमें निर्णय किया है और विकारका निषेध किया है ऐसा निर्णय करनेवाले की पूर्ण पर्याय किसी परके कारणसे कदापि नही हो सकती, क्योंकि उसने अरहंतके समान अपने पूर्ण स्वभावका निर्णय कर लिया है। जिसने पूर्ण स्वभावका निर्णय कर लिया है उसने क्षेत्र, कर्म अथवा कालके कारण मेरी पर्याय रुक जायगी, ऐसी पुरुपार्थहीनताकी बातको उड़ा दिया है। द्रव्य-गुण-पर्यायसे पूर्ण स्वभावका निर्णय करलेनेके बाद पूर्ण पुरुषार्थ करना ही शेष रह जाता है, कहीं भी रुकनेकी बात नहीं रहती।

यह मोह क्षयके उपाय की बात है। जिसने अपने ज्ञानमें अरहंतके द्रव्य गुण पर्यायको जाना है उसके ज्ञानमें केवलज्ञानका हार गुंफित होगा- उसकी पर्याय केवलज्ञानकी ओर की ही होगी।

जिसने अपनी पर्यायमें अर्हतके द्रव्यगुण पर्यायको जाना है उसने अपने आत्माको ही जान लिया है उसका मोह अवश्य क्षयको प्राप्त होता है, यह कितनी खूबीके साथ बात कही है। वर्तमानमें इस क्षेत्रमें क्षायिक सम्यक्त्व नहीं है तथापि 'मोहक्षयको प्राप्त होता है' यह कहने में अंतरङ्गका इतना बल है कि जिसने इस बातका निर्णय किया उसे वर्तमानमें भले ही क्षायिक सम्यक्त्व न हो तथापि उसका सम्यक्त्व इतना प्रबल और अप्रतिहत है कि उसमें क्षायिकदशा प्राप्त होनेतक बीचमें कोई भंग नहीं पड़ सकता। सर्वज्ञ भगवानका आश्रय लेकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं कि जो जीव द्रव्य गुण पर्यायके द्वारा अरहंतके स्वरूपका निर्णय करता है वह

अपने आत्माको ही वैसा जानता है और वह जीव क्षायिक सम्यक्त्वके ही मार्गपर आरूढ़ है; हम अपूर्ण अथवा ढीली बात नहीं करते।

पंचमकालके मुनिराजने यह बात कही है और पंचमकालके जीवों के लिये मोहक्षयका उपाय इसमें बताया है। सभी जीवोंके लिये एक ही उपाय है। पंचमकालके जीवोंके लिये कोई पृथक् उपाय नहीं है। जीव तो सभी कालमें परिपूर्ण ही है तब फिर उसे कौन रोक सकता है? कोई नहीं रोकता। भरतक्षेत्र अथवा पंचमकाल कोई भी जीवको पुरुषार्थ करनेसे नहीं रोकता। कौन कहता है कि पंचमकालमें भरतक्षेत्रसे मुक्ति नहीं है। आज भी यदि कोई महाविदेह क्षेत्रमेंसे ध्यानस्थ मुनिको उठाकर यहाँ भरतक्षेत्रमें रख जाय तो पंचमकाल और भरतक्षेत्रके होनेपर भी वह मुनि पुरुषार्थके द्वारा क्षयक श्रेणीको मांडकर केवलज्ञान और मुक्तिको प्राप्त कर लेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष किसी काल अथवा क्षेत्रके द्वारा नहीं रुकता पंचमकालमें भरतक्षेत्रमें जन्मा हुआ जीव उस भवसे मोक्षको प्राप्त नहीं होता, इसका कारण काल अथवा क्षेत्र नहीं है; किन्तु वह जीव स्वयं ही अपनी योग्यताके कारण मंद पुरुषार्थी है। इसलिये बाह्य निमित्त भी वैसे ही प्राप्त होते हैं। यदि जीव स्वयं तीव्र पुरुषार्थ करके मोक्षके प्राप्त करनेके लिये तैयार होजाय तो उसे बाह्यमें भी क्षेत्र इत्यादि अनुकूल निमित्त प्राप्त हो ही जाते है अर्थात् काल अथवा क्षेत्रकी ओर देखनेकी आवश्यकता नहीं रहती किन्तु पुरुषार्थकी ओर ही देखना पड़ता है। पुरुषार्थके अनुसार धर्म होता है। काल अथवा क्षेत्रके अनुसार धर्म नहीं होता।

जो अरहंतको जानता है वह अपने आत्माको जानता है अर्थात् जैसे द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप अरहंत हैं उसी स्वरूप मैं हूँ। अरहंतके जितने द्रव्य गुण पर्याय है उतने ही द्रव्य गुण पर्याय मेरे हैं। अरिहंतकी पर्याय शक्ति परिपूर्ण है तो मेरी पर्याय की शक्ति भी परिपूर्ण ही है वर्तमानमें उस शक्तिको रोकनेवाला जो विकार है वह मेरा स्वरूप नहीं है।

इस प्रकार जो जानता है उसका मोह 'खलु जादि लयं' अर्थात् निश्चयसे क्षयको प्राप्त होता है, यही मोहक्षयका उपाय है।

टीका:—"जो वास्तवमें अरिहंतको द्रव्यरूपमें, गुणरूपमें और पर्यायरूपमें जानता है वह वास्तवमें आत्माको जानता है क्योंकि दोनोंमें निश्चयसे कोई अंतर नहीं है" यहाँपर वास्तवमें जानने की बात कही है। मात्र धारणाके रूपमें अरिहन्तको जाननेकी बात यहाँ नहीं ली गई है क्योंकि वह तो शुभ राग है। वह जगतकी लौकिक विद्याके समान है उसमें आत्मा की विद्या नहीं है। वास्तवमें जाना हुआ तो तब कहलायेगा जब कि अरिहन्त भगवानके द्रव्य गुण पर्यायके साथ अपने आत्माके द्रव्य गुण पर्यायको मिलाकर देखे कि जैसा अरिहन्तका स्वभाव है वैसा ही मेरा स्वभाव है। यदि ऐसे निर्णयके साथ जाने तो वास्तवमें जाना हुआ कहलायेगा। इस प्रकार जो वास्तवमें अरिहन्तको द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूपसे जानता है वह वास्तवमें अपने आत्माको जानता है और उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

अरहन्त भगवानको जाननेमें सम्यग्दर्शन आजाता है। स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है कि "णादं जिणेण णियदं........" यहाँ यह आशय है कि जिनेन्द्रदेवने जो जाना है उसमें कोई अंतर नहीं आ सकता इतना जानने पर अरिहन्तके केवलज्ञानका निर्णय अपनेमें आगया। वह यथार्थ निर्णय सम्यग्दर्शनका कारण होता है। सर्वज्ञदेवने जैसा जाना है वैसा ही होता है इस निर्णयमें जिनेन्द्रदेवके और अपने केवलज्ञान की शक्तिकी प्रतीति अंतर्हित है। अरिहन्तके समान ही अपना परिपूर्ण स्वभाव ख्यालमें आगया है, अब मात्र पुरुषार्थके द्वारा उस रूप परिणमन करना ही शेष रह गया है।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने पूर्ण स्वभावकी भावना करता हुआ अरिहन्त के पूर्ण स्वभावका विचार करता है कि जिस जीवको जिस द्रव्य क्षेत्र काल भावसे जैसा होना श्री अरिहन्तदेवने अपने ज्ञानमें जाना है वैसा ही होगा

उसमें किंचित्‌मात्र भी फर्क नहीं होगा ऐसा निर्णय करनेवाले जीवने मात्र ज्ञान स्वभावका निर्णय किया कि वह अभिप्रायसे संपूर्ण ज्ञाता होगया उसमें केवलज्ञान सन्मुखका अनंत पुरुषार्थ आगया।

केवलज्ञानी अरिहंत प्रभुका जैसा भाव है वैसा अपने ज्ञानमें जो जीव जानता है वह वास्तवमें अपने आत्माको जानता है, क्योंकि अरिहंतके और इस आत्माके स्वभावमें निश्चयतः कोई अंतर नहीं है। अरिहन्तके स्वभावको जाननेवाला जीव अपने वैसे स्वभावकी रुचिसे यह यथार्थतया निश्चय करता है कि वह स्वयं भी अरिहंतके समान ही है। अरिहंतदेवका लक्ष्य करनेमें जो शुभ राग है उसकी यह बात नहीं है। किन्तु जिस ज्ञानने अरिहंत का यथार्थ निर्णय किया है उस ज्ञानकी बात है। निर्णय करनेवाला ज्ञान अपने स्वभावका भी निर्णय करता है और उसका मोह क्षयको अवश्य प्राप्त होता है।

प्रवचनसारके दूसरे अध्याय की ६५ वीं गाथामें कहा है कि—"जो अरिहंतको" सिद्धको तथा साधुको जानता है और जिसे जीवोंपर अनुकम्पा है उनके शुभरागरूप परिणाम है" इस गाथामें अरिहतके जाननेवालेके शुभ राग कहा है ? यहां मात्र विकल्पसे जाननेकी अपेक्षासे बात है, यह जो बात है सो शुभ विकल्प की बात है जब कि यहाँ तो ज्ञान स्वभावके निश्चय युक्त की बात है। अरिहंतके स्वरूपको विकल्पके द्वारा जाने किन्तु मात्र ज्ञान स्वभावका निश्चय न हो तो वह प्रयोजनभूत नहीं है और ज्ञान स्वभावके निश्चयसे युक्त अरिहंत की ओरका विकल्प भी राग है, वह राग की शक्ति नहीं किन्तु जिसने निश्चय किया है उस ज्ञान की ही अनन्त शक्ति है और वह ज्ञान ही मोह क्षय करता है उस निर्णय करने वालेने केवलज्ञानकी परिपूर्ण शक्तिको अपनी पर्यायकी स्व पर प्रकाशक शक्ति में समाविष्ट कर लिया है। मेरे ज्ञानकी पर्याय इतनी शक्ति संपन्न है कि निमित्तकी सहायताके बिना और परके लक्ष्य बिना तथा विकल्पके बिना केवलज्ञानी अरिहंतके द्रव्य, गुण, पर्यायको अपनेमें समा लेती है—निर्णयमें ले लेती है।

वाह ! पंचमकालके मुनिने केवलज्ञान के भावामृतको प्रवाहित किया है। पंचमकालमें अमृतकी प्रबल धारा बहा दी है। स्वयं केवलज्ञान प्राप्त करनेकी तैयारी है इसलिये आचार्य भगवान् भावका मंथन करते हैं वे केवलज्ञानके ओरकी पुरुषार्थकी भावनाके बलसे कहते है कि मेरी पर्यायसे शुद्धोपयोगके कार्यरूपमें केवलज्ञान ही आंदोलित हो रहा है। बीचमें जो शुभ विकल्प आता है उस विकल्पकी श्रेणीको तोड़कर शुद्धोपयोगकी अखंड हारमालाको ही अंगीकार करता हूँ। केवलज्ञानका निश्चय करनेकी शक्ति विकल्पमें नहीं किन्तु स्वभावकी ओरके ज्ञानमें है।

अरिहन्त भगवान आत्मा हैं। अरिहंत भगवानके द्रव्य, गुण, पर्याय और इस आत्माके द्रव्य, गुण, पर्यायमें निश्चयसे कोई अन्तर नहीं है और द्रव्य, गुण, पर्यायसे अरिहन्तका स्वरूप स्पष्ट है–परिपूर्ण है, इसलिये जो जीव द्रव्य, गुण, पर्यायसे अरिहन्तको जानता है वह जीव आत्माको ही जानता है और आत्मा को जानने पर उसका दर्शन मोह अवश्य क्षयको प्राप्त होता है।

यदि देव, गुरुके स्वरूपको यथार्थतया जाने तो जीवके मिथ्यात्व कदापि न रहे। इस संबंधमें मोक्षमार्ग प्रकाशकमें कहा है कि मिथ्यादृष्टि जीव जीवके विशेषणोंको यथावत् जानकर बाह्य विशेषणोंसे अरिहन्त देवके माहात्म्यको मात्र आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा भी मानता है। यदि कोई जीवके (अरिहन्तके) यथावत् विशेषणोंको जान ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे।

(सस्ती ग्रन्थमाला देहली से प्रकाशित मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३२५)

इसी प्रकार गुरुके स्वरूपके संबंधमें कहते हैं—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग ही मुनिका यथार्थ लक्षण है, उसे नहीं पह-चानता। यदि उसे पहचान ले तो वह मिथ्यादृष्टि कदापि न रहे।

(मोक्षमार्ग प्रकाशक)

इसीप्रकार शास्त्रके स्वरूपके सम्बन्धमें कहते हैं—यहाँ तो अनेकांत रूप सच्चे जीवादि तत्त्वोंका निरूपण है तथा सच्चा रत्नत्रय मोक्षमार्ग बताया है। इसलिये यह जैन शास्त्रोंकी उत्कृष्टता है, जिसे यह नहीं जानता। यदि उसे पहचान ले तो वह मिथ्यादृष्टि न रहे।

[मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ३२६]

तीनोंमें एक ही बात कही है कि यदि उसे पहचान ले तो मिथ्यादृष्टि न रहे। इसमें जो पहिचानने की बात की है वह यथार्थ निर्णयपूर्वक जाननेकी बात है। यदि देव, गुरु, शास्त्र को यथार्थतया पहचान ले तो उसे अपने आत्माकी पहचान अवश्य हो जाय और उसका दर्शनमोह निश्चयसे क्षय हो जाय।

यहाँ 'जो द्रव्य, गुण, पर्यायसे अरिहन्तको जानता है उसे...... ....' ऐसा कहा है किन्तु सिद्धको जाननेको क्यों नहीं कहा? इसका कारण यह है कि यहाँ शुद्धोपयोगका अधिकार चल रहा है। शुद्धोपयोगसे पहले अरिहंत पद प्रगट होता है, इसलिये यहाँ अरिहन्तको जाननेकी बात कही गई है। और फिर जाननेमें निमित्तरूप सिद्ध नहीं होते किन्तु अरिहन्त निमित्तरूप होते हैं तथा पुरुषार्थकी जागृतिसे अरिहन्त दशाके प्रगट होजाने पर अघातिया कर्मोंको दूर करनेके लिये पुरुषार्थ नहीं है अर्थात् प्रयत्नसे केवलज्ञान–अरिहन्त-दशा प्राप्त की जाती है इसलिये यहाँ अरिहन्तकी बात कही है। वास्तवमें तो अरिहन्तका स्वरूप जान लेने पर समस्त सिद्धोंका स्वरूप भी उसमें आ ही जाता है।

अरिहन्तके द्रव्य, गुण, पर्यायकी भाँति ही अपने आत्माके स्वरूप को जानकर शुद्धोपयोगकी हारमालाके द्वारा जीव अरिहन्त पदको प्राप्त होता है। जो अरिहन्तके द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूपको जानता है उसका मोह नाशको अवश्य प्राप्त होता है। यहाँ 'जो जाणदि' अर्थात् 'जो जानता है' ऐसा कहकर ज्ञानका पुरुषार्थ सिद्ध किया है। जो ज्ञानके द्वारा

जानता है उसका मोह क्षय हो जाता है किन्तु जो ज्ञानके द्वारा नहीं जानता उसका मोह नष्ट नहीं होता।

यहाँ यह कहा है कि जो अरिहन्तको द्रव्यसे गुणसे पर्यायसे जानता है वह अपने आत्माको जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय हो जाता है।

अरिहन्तको द्रव्य, गुण, पर्यायसे कैसे जानना चाहिये और मोह क्यों कर नष्ट होता है यह आगे चल कर कहा जायेगा।

पहले कहा जा चुका है कि जो अरिहन्तको द्रव्यरूपसे, गुणरूपसे और पर्यायरूपसे जानता है वह अपने आत्माको जानता है और उसका मोह अवश्य क्षयको प्राप्त होता है। अरिहन्तको द्रव्य, गुण, पर्याय रूपसे किसप्रकार जानना चाहिये और मोहका नाश कैसे होता है यह सब यहाँ कहा जायेगा।

श्री प्रवचनसारकी गाथा ८०-८१-८२ में संपूर्ण शास्त्रका सार भरा हुआ है। इसमें अनन्त तीर्थंकरोंके उपदेशका रहस्य समाविष्ट होजाता है। आचार्य प्रभुने ८२ वीं गाथामें कहा है कि ८०-८१वीं गाथामें कथित विधि से ही समस्त अरिहन्त मुक्त हुये हैं। समस्त तीर्थंकर इसी उपायसे पार हुये हैं और भव्य जीवोंको इसीका उपदेश दिया है। वर्तमान भव्य जीवोंके लिये भी यही उपाय है। मोहका नाश करनेके लिये इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जिन आत्माओंको पात्र होकर अपनी योग्यताके पुरुषार्थके द्वारा स्वभावको प्राप्त करना है—और मोहका क्षय करना है उन आत्माओं को क्या करना चाहिये ? यह यहाँ बताया गया है। पहले तो अरिहन्तको द्रव्य-गुण-पर्यायसे जानना चाहिये। भगवान अरिहन्तकी आत्मा कैसी थी; उनके आत्माके गुणोंकी शक्ति-सामर्थ्य कैसी थी और उनकी पूर्ण पर्यायका क्या स्वरूप है-इसके यथार्थ भावको जो निश्चय करता है वह वास्तवमें अपने ही

द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूपको निश्चय करता है। अरिहन्तको जानते हुये यह प्रतीति करता है कि "ऐसा ही पूर्ण स्वभाव है, ऐसा ही मेरा स्वरूप है" अरिहन्तके आत्माको जानने पर अपना आत्मा किस प्रकार जाना जाता है, इसका कारण यहाँ बतलाते हैं। 'वास्तवमें जो अरिहन्तको जानता है वह निश्चय ही अपने आत्माको जानता है क्योंकि दोनोंमें निश्चयसे कोई अन्तर नहीं है।' अरिहन्तके जैसे द्रव्य, गुण, पर्याय हैं वैसे ही इस आत्माके द्रव्य गुण, पर्याय हैं। वस्तु, उसकी शक्ति और उसकी अवस्था जैसी अरिहंतदेवके है वैसी ही मेरे भी है। इसप्रकार जो अपने पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति करता है वही अरिहन्तको यथार्थतया जानता है। यह नहीं हो सकता कि अरिहन्त के स्वरूपको तो जाने और अपने आत्माके स्वरूपको न जाने। ✓

यहाँ स्वभावको एकमेक करके कहते हैं कि अरिहन्तका और अपना आत्मा समान ही है, इसलिये जो अरिहंतको जानता है वह अपने आत्माको अवश्य जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है। यहाँ पर "जो अरिहंत को जानता है वह अपने आत्माको जानता है" इसप्रकार अरिहन्तके आत्मा के साथ ही इस आत्माको क्यों मिलाया है, दूसरेके साथ क्यों नहीं मिलाया? "जो जगत् के आत्माओंको जानता है वह निजको जानता है" ऐसा नहीं कहा, परन्तु "जो अरिहन्तके आत्माको जानता है वह अपने आत्माको जानता है" ऐसा कहा है, इसे अब अधिक स्वरूपमें कहते हैं—"अरिहन्तका स्वरूप अंतिम तापमान को प्राप्त स्वर्णके स्वरूप की भाँति परिस्पष्ट (सब तरहसे स्पष्ट) है। इसलिये उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्माका ज्ञान हो जाता है।"

जैसे अन्तिम तापसे तपाया हुआ सोना बिल्कुल खरा होता है उसी प्रकार भगवान अरिहन्तका आत्मा द्रव्य, गुण, पर्यायमें संपूर्णतया शुद्ध है। आचार्यदेव कहते हैं कि हमें तो आत्माका शुद्ध-स्वरूप बतलाना है, विकार आत्माका स्वरूप नहीं है आत्मा विकार रहित शुद्ध पूर्ण स्वरूप है यह बताना है और इस शुद्ध आत्मस्वरूपके प्रतिबिंब समान श्री अरि-

हन्तका आत्मा है, क्योंकि वह सर्व प्रकार शुद्ध है। अन्य आत्मा सर्व प्रकार शुद्ध नहीं है। द्रव्य, गुणकी अपेक्षासे सभी शुद्ध हैं किंतु पर्यायसे शुद्ध नहीं है इसलिये उन आत्माओंको न लेकर अरिहन्तके ही आत्माको लिया है, उस शुद्ध स्वरूपको जो जानता है वह अपने आत्माको जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है। अर्थात् यहाँ आत्माके शुद्ध स्वरूपको जाननेकी ही बात है। आत्माके शुद्ध स्वरूपको जाननेके अतिरिक्त मोह क्षयका कोई दूसरा उपाय नहीं है। सिद्ध भगवानके भी पहले अरिहन्त दशा थी इसलिये अरिहंतके स्वरूपको जानने पर उनका स्वरूप भी ज्ञात हो जाता है। अरिहन्त दशा पूर्वक ही सिद्धदशा होती है।"

द्रव्य, गुण तो सदा शुद्ध ही हैं किंतु पर्यायकी शुद्धि करनी है पर्यायकी शुद्धि करनेके लिये यह जान लेना चाहिये कि द्रव्य, गुण, पर्याय की शुद्धताका स्वरूप कैसा है ? अरिहन्त भगवानका आत्मा द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों प्रकारसे शुद्ध है और अन्य आत्मा पर्यायकी अपेक्षासे पूर्ण शुद्ध नहीं है इसलिये अरिहन्तके स्वरूपको जाननेको कहा है। जिसने अरिहन्तके द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूपको यथार्थ जाना है उसे शुद्ध स्वभावकी प्रतीति हो गई है अर्थात् उसकी पर्याय शुद्ध होने लगी है और उसका दर्शनमोह नष्ट हो गया है।

सोनेमें सौ टंच शुद्ध दशा होनेकी शक्ति है, जब अग्निके द्वारा ताव देकर उसकी ललाई दूर की जाती है तब वह शुद्ध होता है और इसप्रकार ताव दे देकर अंतिम आँचसे वह संपूर्ण शुद्ध किया जाता है और यही सोनेका मूलस्वरूप है वह सोना अपने द्रव्य गुण पर्यायकी पूर्णताको प्राप्त हुआ है। इसीप्रकार अरिहन्तका आत्मा पहले अज्ञानदशामें था फिर आत्मज्ञान और स्थिरताके द्वारा क्रमशः शुद्धताको बढ़ाकर पूर्णदशा प्रगट की है। अब वे द्रव्यगुण पर्याय तीनोंसे पूर्ण शुद्ध हैं और अनंतकाल इसीप्रकार रहेंगे। उनके अज्ञानका, रागद्वेषका और भवका अभाव है इसीप्रकार

अरिहन्तके आत्माको, उनके गुणोंको और उनकी अनादि अनंत पर्यायोंको जो जानता है वह अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको जानता है और उसका मोह अवश्य क्षयको प्राप्त होता है। अरिहन्तका आत्मा परिस्पष्ट है—सब तरहसे शुद्ध है। उन्हे जानकर ऐसा लगता है कि अहो! यह तो मेरे शुद्ध स्वभावका ही प्रतिविम्ब है मेरा स्वरूप ऐसा ही है। इसप्रकार यथार्थतया प्रतीति होनेपर शुद्धसम्यक्त्व अवश्य ही प्रगट होता है।

अरिहन्तका आत्मा ही पूर्ण शुद्ध है। गणधरदेव मुनिराज इत्यादि के आत्माओंकी पूर्ण शुद्धदशा नहीं है इसलिये उन्हें जानने पर आत्माके पूर्ण शुद्ध स्वरूपका ध्यान नहीं आता। अरिहन्त भगवानके आत्माको जानने पर अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका ज्ञान अनुमान प्रमाणके द्वारा होता है और इसीलिये शुद्ध स्वरूपकी जो विपरीत मान्यता है वह क्षयको प्राप्त होती है। "अहो! आत्माका स्वरूप तो ऐसा सर्व प्रकार शुद्ध है, पर्यायमें जो विकार है सो भी मेरा स्वरूप नहीं है। अरिहन्त जैसी ही पूर्णदशा होनेमें जो कुछ शेष रह जाता है वह मेरा स्वरूप नहीं है, जितना अरिहन्तमें है उतना ही मेरे स्वरूपमें है" इसप्रकार अपनी प्रतीति हुई अर्थात् अज्ञान और विकारका कर्तृत्व दूर होकर स्वभावकी ओर लग गया। और स्वभाव में द्रव्यगुण पर्यायकी एकता होनेपर सम्यग्दर्शन हो गया। अब उसी स्वभाव के आधारसे पुरुषार्थके द्वारा राग-द्वेषका सर्वथा क्षय करके अरिहंतके समान ही पूर्णदशा प्रगट करके मुक्त होगा। इसलिये अरिहन्तके स्वरूपको जानना ही मोहक्षयका उपाय है।

यह बात विशेष समझने योग्य है, इसलिये इसे अधिक स्पष्ट किया जा रहा है। अरिहन्तकी लेकर बात उठाई है, अर्थात् वास्तवमें तो आत्माके पूर्ण शुद्ध स्वभावकी ओर से ही बातका प्रारम्भ किया है। अरिहन्तके समान ही इस आत्माका पूर्ण शुद्ध स्वभाव स्थापन करके उसे जाननेकी बात कही है। पहले जो पूर्ण शुद्ध स्वभावको जाने उसके धर्म होता है किन्तु जो जान-

नेका पुरुषार्थ ही न करे उसके तो कदापि धर्म नहीं होता। अर्थात् यहाँ ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों साथ ही है तथा सत् निमित्तके रूपमें अरिहन्तदेव ही हैं, यह बात भी इससे ज्ञात होगई।

चाहे सौटंची सोना हो, चाहे पचासटंची हो, दोनोंका स्वभाव समान है किन्तु दोनोंकी वर्तमान अवस्थामें अन्तर है। पचासटंची सोनेमें अशुद्धता है उस अशुद्धताको दूर करनेके लिये उसे सौटंची सोनेके साथ मिलाना चाहिये। यदि उसे ७५ टंची सोनेके साथ मिलाया जाय तो उसका वास्तविक शुद्ध स्वरूप ख्याल में नहीं आयगा और वह कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा। यदि सौटंची सोनेके साथ मिलाया जाय तो सौटंच शुद्ध करनेका प्रयत्न करे, किंतु यदि ७५ टंची सोनेको ही शुद्ध सोना मानले तो वह कभी शुद्ध सोना प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसीप्रकार आत्माका स्वभाव तो शुद्ध ही है किन्तु वर्तमान अवस्थामें अशुद्धता है। अरिहन्त और इस आत्माके बीच वर्तमान अवस्थामें अन्तर है। वर्तमान अवस्थामें जो अशुद्धता है उसे दूर करना है इसलिये अरिहन्त भगवानके पूर्ण शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ मिलान करना चाहिये कि 'अहो! यह आत्मा तो केवलज्ञान स्वरूप है, पूर्ण ज्ञान सामर्थ्य है और किंचित् मात्र भी विकारवान् नहीं है, मेरा स्वरूप भी ऐसा ही है, मैं भी अरिहन्त जैसे ही स्वभाववंत हूँ' ऐसी प्रतीति जिसने की उसे निमित्तोंकी ओर नहीं देखना होता, क्योंकि अपनी पूर्णदशा अपने स्वभावके पुरुषार्थमें से आती है, निमित्तमें से नहीं आती, तथा पुण्य पापकी ओर अथवा अपूर्णदशाकी ओर भी नही देखना पड़ता क्योंकि वह आत्माका स्वरूप नहीं है, बस! अब अपने द्रव्य-गुणकी ओर ही पर्यायकी एकाग्रता रूप क्रिया करनी होती है। एकाग्रता करते करते पर्याय शुद्ध हो जाती है। ऐसी एकाग्रता कौन करता है? जिसने पहले अरिहन्तके स्वरूपके साथ मिलान करके अपने पूर्ण स्वरूपको ख्यालमें लिया हो वह अशुद्धताको दूर करनेके लिए शुद्ध स्वभावकी एकाग्रताका प्रयत्न करता है, किन्तु जो जीव पूर्ण शुद्ध स्वरूपको नहीं जानता और पुण्य पाप

को ही अपना स्वरूप मान रहा है वह जीव अशुद्धताको दूर करनेका प्रयत्न नहीं कर सकता, इसलिये सबसे पहले अपने शुद्ध स्वभावको पहचानना चाहिये। इस गाथामें आत्माके शुद्ध स्वभावको पहचाननेकी रीति बताई गई है।

"अरिहन्तका स्वरूप सर्व प्रकार स्पष्ट है जैसी वह दशा है वैसी ही इस आत्माकी दशा होनी चाहिए। ऐसा निश्चय किया अर्थात् यह जान लिया कि जो अरिहन्त दशामें नहीं होते वे भाव मेरे स्वरूपमें नहीं हैं—और इसप्रकार विकार भाव और स्वभावको भिन्न २ जान लिया, इसप्रकार जिसने अरिहन्तका ठीक निर्णय कर लिया और यह प्रतीति कर ली कि मेरा आत्मा भी वैसा ही है उसका दर्शन मोह नष्ट होकर उसे क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है।

ध्यान रहे कि यह अपूर्व बात है, इसमें मात्र अरिहन्तकी बात नहीं है किन्तु अपने आत्माको एकमेक करनेकी बात है। अरिहन्तका ज्ञान करने वाला तो यह आत्मा है। अरिहन्तकी प्रतीति करने वाला अपना ज्ञान स्वभाव है। जो अपने ज्ञान स्वभावके द्वारा अरिहन्तकी प्रतीति करता है उसे अपने आत्माकी प्रतीति अवश्य होजाती है। और फिर अपने स्वरूपकी ओर एकाग्रता करते करते केवलज्ञान हो जाता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शनसे प्रारम्भ करके केवलज्ञान प्राप्त करने तकका अप्रतिहत उपाय बता दिया गया है। ८२ वीं गाथामें कहा गया है कि समस्त तीर्थंकर इसी विधिसे कर्मका क्षय करके निर्वाणको प्राप्त हुये हैं और यही उपदेश दिया है। जैसे अपना मुँह देखने के लिये सामने स्वच्छ दर्पण रक्खा जाता है उसीप्रकार यहाँ आत्मस्वरूप को देखनेके लिए अरिहन्त भगवानको आदर्शरूपमें (आदर्शका अर्थ दर्पण है) अपने समक्ष रखा है। तीर्थंकरोंका पुरुषार्थ अप्रतिहत होता है, उनका सम्यक्त्व भी अप्रतिहत होता है, और श्रेणी भी अप्रतिहत होती है और यहाँ तीर्थंकरोंके साथ मिलान करना है इसलिये तीर्थंकरोंके समान ही अप्रतिहत सम्यग्दर्शनकी ही बात ली गई है मूल सूत्रमें "मोहो

खलु जादि तस्सलयं" कहा गया है, उसीमें से यह भाव निकलता है।

अरिहन्त और अन्य आत्माओंके स्वभावमें निश्चयसे कोई अन्तर नहीं है अरिहन्तका स्वरूप अंतिम शुद्ध दशारूप है इसलिये अरिहन्तका ज्ञान करने पर समस्त आत्माओंके शुद्ध स्वरूपका भी ज्ञान हो जाता है। स्वभावसे सभी आत्मा अरिहन्तके समान हैं। परन्तु पर्यायमें अन्तर है। यहाँ तो सभी आत्माओंको अरिहन्तके समान कहा है, अभव्यको भी अलग नहीं किया। अभव्य जीवका स्वभाव और शक्ति भी अरिहन्तके समान ही है। सभी आत्माओंका स्वभाव परिपूर्ण है, किन्तु अवस्थामें पूर्णता प्रगट नही है, यह उनके पुरुषार्थका दोष है वह दोष पर्यायका है स्वभावका नहीं। यदि स्वभावको पहचाने तो स्वभावके बलसे पर्यायका दोष भी दूर किया जा सकता है।

भले ही जीवोंकी वर्तमानमें अरिहन्त जैसी पूर्ण दशा प्रगट न हुई हो तथापि आत्माके द्रव्य गुण पर्यायकी पूर्णताका स्वरूप कैसा होता है यह स्वयं वर्तमान निश्चित कर सकता है।

जब तक अरिहन्त केवली भगवान जैसी दशा नही होती तब तक आत्माका पूर्ण स्वरूप प्रगट नहीं होता। अरिहन्तके पूर्ण स्वरूपका ज्ञान करने पर सभी आत्माओंका ज्ञान हो जाता है सभी आत्मा अपने पूर्ण स्वरूपको पहचान कर जबतक पूर्णदशाको प्राप्त करनेका प्रयत्न नहीं करते तब तक वे दुःखी रहते हैं। सभी आत्मा शक्ति स्वरूपसे तो पूर्ण ही है किंतु यदि व्यक्तदशारूपमें पूर्ण हों तो सुख प्रगट हो। जीवोंको अपनी ही अपूर्णदशाके कारण दुःख है वह दु.ख दूसरेके कारण से नही है इसलिये अन्य कोई व्यक्ति जीवका दुःख दूर नहीं कर सकता, किन्तु यदि जीव स्वयं अपनी पूर्णताको पहिचाने तभी उसका दुःख दूर हो, इससे मैं किसी का दुःख दूर नहीं कर सकता और अन्य कोई मेरा दुःख दूर नहीं कर सकता ऐसी स्वतन्त्रताकी प्रतीति हुई और परका कर्तृत्व दूर करके ज्ञाता-रूपमें रहा यही सम्यग्दर्शनका अपूर्व पुरुषार्थ है।

पूर्ण स्वरूपके अज्ञानके कारण ही अपनी पर्यायमें दुःख है उस दुःखको दूर करनेके लिये अरिहन्तके द्रव्य गुण पर्यायका अपने ज्ञानके द्वारा निर्णय करना चाहिए। शरीर, मन, वाणी, पुस्तक, कर्म यह सब जड़ हैं—अचेतन हैं, वे सब आत्मासे बिलकुल भिन्न हैं; जो रागद्वेष होता है वह भी वास्तवमें मेरा नहीं है, क्योंकि अरहन्त भगवानकी दशामें रागद्वेष नहीं है। रागके आश्रयसे भगवानकी पूर्णदशा नहीं हुई। भगवानकी पूर्णदशा कहाँसे आई? उनकी पूर्णदशा उनके द्रव्य-गुणके ही आधारसे आई है। जैसे अरिहन्तकी पूर्णदशा उनके द्रव्य गुणके आधारसे प्रगट हुई है वैसे ही मेरी पूर्णदशा भी मेरे द्रव्य गुणके ही आधारसे प्रगट होती है। विकल्प का या परका आधार मेरी पर्यायके भी नहीं है। "अरिहन्त जैसी पूर्णदशा मेरा स्वरूप है और अपूर्णदशा मेरा स्वरूप नहीं है" ऐसा मैंने जो निर्णय किया है वह निर्णयरूपदशा मेरे द्रव्य-गुणके ही आधारसे हुई है। इसप्रकार जीवका लक्ष्य अरिहन्तके द्रव्य-गुण-पर्याय परसे हटकर अपने द्रव्य-गुण पर्याय की ओर जाता है और वह अपने स्वभावको प्रतीतिमें लेता है। स्वभावको प्रतीतिमें लेनेपर स्वभावकी ओर पर्याय एकाग्र हो जाती है अर्थात् मोहको पर्यायका आधार नहीं रहता और इसप्रकार निराधार हुआ मोह अवश्य क्षयको प्राप्त होता है।

सर्व प्रथम अरिहन्तका लक्ष्य होता तो है किन्तु बादमें अरिहन्तके लक्ष्य से भी हटकर स्वभावकी श्रद्धा करनेपर सम्यग्दर्शन-दशा प्रगट होती है। सर्वज्ञ अरिहन्त भी आत्मा हैं और मैं भी आत्मा हूँ ऐसी प्रतीति करनेके बाद अपनी पर्यायमें सर्वज्ञसे जितनी अपूर्णता है उसे दूर करने के लिये स्वभाव में एकाग्रता का प्रयत्न करता है।

अरिहन्तको जानने पर जगतके समस्त आत्माओंका निर्णय हो गया कि जगत्के जीव अपनी अपनी पर्यायसे ही सुखी दुःखी हैं। अरिहन्त प्रभु अपनी पूर्ण पर्यायसे ही स्वयं सुखी हैं इसलिये सुखके लिये उन्हें अन्न, जल, वस्त्र इत्यादि किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती और जगत्के जो

जीव दुःखी है वे अपनी पर्यायके दोषसे ही दुःखी हैं। पर्यायमें मात्र राग दशा जीतनेको ही अपना मान बैठे हैं और सम्पूर्ण स्वभावको भूल गये हैं इसलिये रागका ही संवेदन करके दुःखी होते हैं किंतु किसी निमित्तके कारणसे अथवा कर्मोंके कारण दुःखी नहीं हैं, और न अन्न, वस्त्र इत्यादिके न मिलनेसे दुःखी हैं, दुःखका कारण अपनी पर्याय है और दुःखको दूर करनेके लिये अरिहन्तको पहचानना चाहिये। अरिहंतके द्रव्य, गुण, पर्याय को जानकर उन्हींके समान अपनेको मानना चाहिये कि मैं मात्र रागदशा वाला नहीं हूँ किन्तु मैं तो रागरहित परिपूर्ण ज्ञान स्वभाव वाला हूँ मेरे ज्ञानमें दुःख नहीं हो सकता, इसप्रकार जो अपनेको द्रव्य, गुण स्वभावसे अरिहन्तके समान ही माने तो वर्तमान राग पर से अपने लक्ष्यको हटाकर द्रव्य, गुण स्वभाव पर लक्ष्य करे और अपने स्वभाव की एकाग्रता करके पर्यायके दुःखको दूर करे, ऐसा होनेसे जगत्के किसी भी जीवके पराधीनता नहीं है। मैं किसी अन्य जीवका अथवा जड़ पदार्थ का कुछ भी नहीं कर सकता। सम्पूर्ण पदार्थ स्वतन्त्र हैं, मुझे अपनी पर्यायका उपयोग अपनी ओर करना है, यही सुखका उपाय है। इसके अतिरिक्त जगत्में अन्य कोई सुखका उपाय नहीं है।

मै देश आदिके कार्य कर डालूं, ऐसी मान्यता भी बिल्कुल मिथ्या है। इस मान्यतामें तो तीव्र आकुलता का दुःख है। मै जगत्के जीवोंके दुःखको दूर कर सकता हूं, ऐसी मान्यता निजको ही महान् दुःखका कारण है। परको दुःख या सुख देनेके लिये कोई समर्थ नही है। जगत्के जीवोंको संयोग का दुःख नही है किन्तु अपने ज्ञानादि स्वभावकी पूर्ण दशाको नहीं जाना इसी का दुःख है। यदि अरिहंतके आत्माके साथ अपने आत्माका मिलान करे तो अपना स्वतन्त्र स्वभाव प्रतीतिमें आये। अहो! अरिहंतदेव किसी बाह्य संयोगसे सुखी नहीं किन्तु अपने ज्ञान इत्यादि की पूर्ण दशासे ही वे संपूर्ण सुखी हैं। इसलिये सुख आत्माका ही स्वरूप है, इसप्रकार स्वभावको पहिचानकर रागद्वेष रहित होकर परमानन्द दशाको प्रगट करे। अरिहंतके वास्तविक स्वरूपको नहीं जाना इसलिये अपने स्वरूपको भी

नहीं जाना और अपने स्वरूपको ठीक २ नहीं जाना, इसीलिये ही यह सब भूल होती है।

मुझे परिपूर्ण स्वतंत्र सुख दशा चाहिये है, सुखके लिये जैसी स्वतंत्र दशा होनी चाहिये वैसी पूर्ण स्वतंत्र दशा अरिहन्तके है और अरिहंतके समान ही सब का स्वभाव है इसलिये मैं भी वैसा ही पूर्ण स्वभाववाला हूँ, इसप्रकार अपने स्वभाव की प्रतीति भी उसीके साथ मिलाकर बात की गई है। जिसने अपने ज्ञानमें यह निश्चय किया उसने सुखके लिये पराधीन दृष्टिकी अनंत खदबदाहट का शमन कर दिया है। पहले अज्ञानसे जहाँ तहाँ खदबदाहट करता रहता था कि रुपये-पैसेमें से सुख प्राप्त करलूं रागमेंसे सुख लेलूं, देव, गुरु, शास्त्रसे सुख प्राप्त करलूं अथवा पुण्य करके सुख पा लूं—इसप्रकार परके लक्ष्यसे सुख मानता था, यह मान्यता दूर हो गई है और मात्र अपने स्वभावको ही सुखका साधन माना है, ऐसी समझ होने पर सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यक्त्व कैसे होता है यह बात इस गाथामें कही गई है। भगवान अरिहन्त के न तो किंचित् पुण्य है और न पाप, वे पुण्य पाप रहित है, उनके ज्ञान, दर्शन, सुखमें कोई कमी नहीं है, इसी प्रकार मेरे स्वरूपमें भी पुण्य पाप अथवा कोई कमी नहीं है ऐसी प्रतीति करने पर द्रव्यदृष्टि हुई। अपूर्णता मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिये अब अपूर्ण अवस्था की ओर देखने की आवश्यकता नहीं रही किंतु पूर्ण शुद्ध दशा प्रगट करनेके लिये स्वभाव में ही एकाग्रता करने की आवश्यकता रही। शुद्ध दशा बाहरसे प्रगट होती है या स्वभावमें से ? स्वभावमें से प्रगट होनेवाली अवस्थाको प्रगट करने के लिये स्वभावमें ही एकाग्रता करनी है। इतना जान लेने पर यह धारणा दूर हो जाती है कि किसी भी अन्य पदार्थ की सहायतासे मेरा कार्य होता है वर्तमान पर्यायमें जो अपूर्णता है वह स्वभाव की एकाग्रताके पुरुषार्थके द्वारा पूर्ण करना है, अर्थात् मात्र ज्ञानमें ही क्रिया करनी है; यहाँ प्रत्येक पर्यायमें सम्यक् पुरुषार्थका ही काम है।

किसीको यह शंका हो सकती है कि अभी तो अरिहन्त नहीं है तब फिर अरिहन्तको जाननेकी बात किसलिये की गई है ? उनके समाधान के लिये कहते हैं कि—यहाँ अरिहन्त की उपस्थिति की बात नहीं है किंतु अरिहन्तका स्वरूप जाननेकी बात है। अरिहन्तकी साक्षात् उपस्थिति हो तभी उसका स्वरूप जाना जा सकता है—ऐसी बात नही है। अमुक क्षेत्र की अपेक्षासे अभी अरिहन्त नहीं हैं किन्तु उनका अस्तित्व अन्यत्र महाविदेह क्षेत्र इत्यादिमें तो अभी भी है। अरिहन्त भगवान साक्षात् अपने सन्मुख विराजमान हों तो भी उनका स्वरूप ज्ञानके द्वारा निश्चित होता है, वहाँ अरिहन्त तो आत्मा है उनका द्रव्य, गुण अथवा पर्याय दृष्टिगत नहीं होता तथापि ज्ञानके द्वारा उनके स्वरूप का निर्णय होता है, और यदि वे दूर हों तो भी ज्ञानके द्वारा ही उनका निर्णय अवश्य होता है। जब वे साक्षात् विराजमान होते हैं तब भी अरिहन्तका शरीर दिखाई देता है। क्या वह शरीर अरिहन्तका द्रव्य, गुण अथवा पर्याय है ? क्या दिव्यध्वनि अरिहन्त का द्रव्य, गुण अथवा पर्याय है ? नहीं। यह सब तो आत्मासे भिन्न है। चैतन्यस्वरूप आत्मा द्रव्य उसके ज्ञान दर्शनादिक गुण और उसकी केवलज्ञानादि पर्याय अरिहन्त है। यदि उस द्रव्य, गुण, पर्यायको यथार्थतया पहचान लिया जाय तो अरिहन्तके स्वरूपको जान लिया कहलायगा। साक्षात् अरिहन्त प्रभुके समक्ष बैठकर उनकी स्तुति करे परन्तु यदि उनके द्रव्य-गुण, पर्यायके स्वरूपको न समझे तो वह अरिहन्त के स्वरूपकी स्तुति नही कहलायगी।

क्षेत्र की अपेक्षासे निकटमें अरिहन्तकी उपस्थिति हो या न हो, इसके साथ कोई संबध नही है किन्तु अपने ज्ञानमें उनके स्वरूपका निर्णय है या नही, इसीके साथ सबंध है। क्षेत्रापेक्षासे निकटमें ही अरिहन्त भगवान विराजमान हों परन्तु उस समय यदि ज्ञानके द्वारा स्वयं उनके स्वरूप का निर्णय न करे तो उस जीवको आत्मा ज्ञात नही हो सकता और उसके लिये तो अरिहन्त बहुत दूर है। और वर्तमानमें क्षेत्रकी अपेक्षासे अरिहन्त भगवान निकट नही है तथापि यदि अपने ज्ञानके द्वारा अभी भी अरिहन्तके

स्वरूपका निर्णय करे तो आत्माकी पहिचान हो और उसके लिए अरिहन्त भगवान बिल्कुल निकट ही उपस्थित हैं। यहाँ क्षेत्रकी अपेक्षासे नहीं किन्तु भावकी अपेक्षासे बात है। यथार्थ समझका संबंध तो भावके साथ है।

यहाँ यह कहा गया है कि अरिहन्त कब हैं और कब नहीं। महाविदेह क्षेत्रमें अथवा भरतक्षेत्रमें चौथे कालमें अरिहन्तकी साक्षात् उपस्थिति के समय भी जिन आत्माओंने द्रव्य-गुण-पर्यायसे अपने ज्ञानमें अरिहन्तके स्वरूपका यथार्थ निर्णय नहीं किया, उन जीवोंके लिये तो उस समय भी अरिहंतकी उपस्थिति नहीं के बराबर है और भरतक्षेत्रमें पंचमकालमें साक्षात् अरिहन्तकी अनुपस्थितिमें भी जिन आत्माओंने द्रव्य, गुण, पर्याय से अपने ज्ञानमें अरिहन्तके स्वरूपका निर्णय किया है उनके लिये अरिहन्त भगवान् मानों साक्षात् विराजमान हैं।

समवशरणमें भी जो जीव अरिहन्तके स्वरूपका निर्णय करके आत्मस्वरूपको समझे हैं उन जीवोंके लिये ही अरिहन्त भगवान् निमित्त कहे गये हैं किन्तु जिनने निर्णय नहीं किया उनके लिये तो साक्षात अरिहन्त भगवान् निमित्त भी नहीं कहलाये। आज भी जो अरिहन्तका निर्णय करके आत्म स्वरूपको समझते हैं उनके लिये उनके ज्ञानमें अरिहन्त भगवान् निमित्त कहलाते हैं। वहाँ भी आत्माको हाथमें लेकर नहीं दिखाते।

जिसकी दृष्टि निमित्त पर है वह क्षेत्रको देखता है कि वर्तमानमें इस क्षेत्रमें अरिहंत नहीं हैं। हे भाई! अरिहन्त नहीं हैं किन्तु अरिहंतका निश्चय करनेवाला तेरा ज्ञान तो है? जिसकी दृष्टि उपादान पर है वह अपने ज्ञानके बलसे अरिहन्तका निर्णय करके क्षेत्रभेदको दूर कर देता है। अरिहन्त तो निमित्त हैं। यहाँ अरिहन्तके निर्णय करनेवाले ज्ञानकी महिमा है। मूल सूत्रमें "जो जाणदि" कहा है अर्थात् जाननेवाले ज्ञान मोहक्षयका कारण है किन्तु अरिहन्त तो अलग ही हैं वे इस आत्माका मोहक्षय नहीं करते। मोहक्षयका उपाय अपने पास है।

समोशरणमें बैठनेवाला जीव भी क्षेत्रकी अपेक्षासे अरिहन्तसे तो दूर ही बैठता है अर्थात् क्षेत्रकी अपेक्षासे तो उसके लिये भी दूर ही है और यहाँ भी क्षेत्रसे अधिक दूर है किन्तु क्षेत्रकी अपेक्षासे अन्तर पड़जानेसे भी क्या हुआ ? जिसके भावमें अरिहन्तको अपने निकट कर लिया है उसके लिये वे सदा ही निकट ही विराजते हैं और जिसने भावमें अरिहन्त को दूर किया है उसके लिये दूर है। क्षेत्रकी दृष्टिसे निकट हों या न हों इससे क्या होता है ? यहाँ तो भावके साथ मेल करके निकटता करनी है। अहो ! अरिहन्तके विरहको भुला दिया है तब फिर कौन कहता है कि अभी अरिहन्त भगवान नहीं है ?

यह पंचम कालके मुनिका कथन है, पंचमकालमें मुनि हो सकते। जो जीव अपने ज्ञानके द्वारा अरिहन्तके द्रव्य गुण पर्यायको जानता है उसका दर्शन मोह नष्ट हो जाता है। जो जीव अरिहन्तके स्वरूपको भी विपरीत रूपसे मानता हो और अरिहन्तका यथार्थ निर्णय किये बिना उनकी पूजा भक्ति करता हो उसके मिथ्यात्वका नाश नहीं हो सकता। जिसने अरिहन्तके स्वरूपको विपरीत माना उसने अपने आत्मस्वरूपको भी विपरीत ही माना है और इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ मिथ्यात्वके नाश करनेका उपाय बताते है जिनके मिथ्यात्व का नाश हो गया है उन्हे समझाने के लिये यह बात नहीं है किन्तु जो मिथ्यात्व नाश करनेके लिये तैयार हुये हैं उन जीवों के लिये यह कहा जा रहा है। वर्तमानमें-इस कालमें अपने पुरुषार्थके द्वारा जीवके मिथ्यात्वका नाश हो सकता है इसलिये यह बात कही है, अतः समझमें नहीं आता इस धारणाको छोड़कर समझनेका पुरुषार्थ करना चाहिये।

यद्यपि अभी क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता किंतु यह बात यहाँ नहीं की गई है। आचार्यदेव कहते है कि जिसने अरिहन्तके द्रव्य, गुण, पर्याय को-जानकर आत्म स्वरूपका निर्णय किया है वह जीव क्षायिक सम्यक्त्व की श्रेणीमें ही बैठा है इसलिये हम अभी से उसके दर्शन मोहका क्षय

कहते हैं। भले ही अभी साक्षात तीर्थंकर नहीं है तो भी ऐसे बलवत्तर निर्णयके भावसे कदम उठाया है कि साक्षात् अरिहन्तके पास जाकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करके क्षायिक श्रेणीके बलसे मोहका सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान अरिहन्त दशाको प्रगट कर लेंगे। यहाँ पुरुषार्थ की ही बात है, वापिस होनेकी बात है ही नहीं।

अरिहन्तका निर्णय करनेमें संपूर्ण स्वभाव प्रतीतिमें आजाता है। अरिहन्त भगवानके जो पूर्ण निर्मल दशा प्रगट हुई है वह कहाँ से हुई है? जहाँ थी वहाँसे प्रगट हुई है या जहाँ नहीं थी वहाँ से प्रगट हुई है? स्वभावमें पूर्ण शक्ति थी इसलिये स्वभावके बलसे वह दशा प्रगट हुई है, स्वभाव तो मेरे भी परिपूर्ण है, स्वभावमें कचाई नही है। बस! इस यथार्थ प्रतीतिमें द्रव्य—गुणकी प्रतीति होगई और द्रव्य-गुणकी ओर पर्याय झुकी तथा आत्माके स्वभावसामर्थ्यकी दृष्टि हुई एवं विकल्पकी अथवा परकी दृष्टि हट गई। इसप्रकार इसी उपायसे सभी आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय पर दृष्टि करके क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त होते हैं और इसी प्रकार सभी आत्माओंका ज्ञान होता है, सम्यक्त्व का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अनंत आत्मायें हैं उनमें अल्प कालमें मोक्ष जाने वाले या अधिक कालके पश्चात् मोक्ष जानेवाले सभी आत्मा इसी विधिसे कर्म क्षय करते है। पूर्ण दशा अपनी विद्यमान निज शक्तिमें से आती है और शक्तिकी दृष्टि करने पर परका लक्ष्य टूट कर स्व में एकाग्रताका ही भाव रहने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

यहाँ धर्म करनेकी बात है। कोई आत्मा पर द्रव्यका तो कुछ कर ही नहीं सकता। जैसे अरिहन्त भगवान सब कुछ जानते हैं परन्तु परद्रव्य का कुछ भी नहीं करते। इसीप्रकार यह आत्मा भी ज्ञाता स्वरूपी है, ज्ञान स्वभावकी प्रतीति ही मोहक्षयका कारण है। क्षणिक विकारी पर्यायमें राग का कर्त्तव्य माने तो समझना चाहिये कि उस जीवने अरिहन्तके स्वरूपको

नहीं माना। ज्ञानमें अनन्त परद्रव्यका कर्तृत्व मानना ही महा अधर्म है। और ज्ञानमें अरिहन्तका निर्णय किया कि अनंत परद्रव्यका कर्तृत्व हट गया, यही धर्म है। ज्ञानमें से पर का कर्तृत्व हट गया इसलिये अब ज्ञान में ही स्थिर होना होता है और परके लक्ष्यसे जो विकार भाव होता है उसका कर्तृत्व भी नहीं रहता। मात्र ज्ञाता रूपसे रहता है, यही मोहक्षयका उपाय है। जिसने अरिहन्तके स्वरूपको जाना वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है और वह जैनी है। जैसा जिनेन्द्र अरिहन्तका स्वभाव है वैसा ही अपना स्वभाव है ऐसा निर्णय करना सो जैनत्व है और फिर स्वभावके पुरुषार्थ के द्वारा वैसी पूर्ण दशा प्रगट करना सो जिनत्व है। अपना निज स्वभाव जाने बिना जैनत्व नहीं हो सकता।

जिसने अरिहन्तके द्रव्य, गुण, पर्यायको जान लिया उसने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने द्रव्य, गुण, पर्यायकी एकताके द्वारा राग के कारणसे जो पर्यायकी अनेकता होती है उसे दूर करूंगा तभी मुझे सुख होगा। इतना निश्चय किया कि उसकी यह सब विपरीत मान्यतायें छूट जाती है कि मै परका कुछ कर सकता हूँ अथवा विकारसे धर्म होता है। अब स्वभावके बलसे स्वभावमें एकाग्रता करके स्थिर होना होता है तब फिर उसके मोह कहाँ रह सकता है? मोहका क्षय हो ही जाता है। मेरे आत्मा में स्वभावके लक्ष्यसे जो निर्मलताका अश प्रगट हुआ है वह निर्मल दशा बढ़ते २ किस हद तक निर्मलरूपमें प्रगट होती है? जो अरिहन्तके बराबर निर्मलता प्रगट होती है वह मेरा स्वरूप है, यदि यह जान ले तो अशुद्ध भावोंसे अपना स्वरूप भिन्न है ऐसी शुद्ध स्वभावकी प्रतीति करके दर्शन मोहका उसी समय क्षय करदे अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि होजाय, इसलिये अरिहन्त भगवानके स्वरूपका द्रव्य, गुण, पर्यायके द्वारा यथार्थ निर्णय करने पर आत्माकी प्रतीति होती है और यही मोह क्षयका उपाय है।

—इसके बाद—

अब आगे द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप बताया जायगा और यह

बताया जायगा कि द्रव्य, गुण, पर्यायको किस प्रकार जानने से मोह क्षय होता है।

[जो जीव अरिहन्तको द्रव्य, गुण पर्यायरूपसे जानता है वह अपने आत्माको जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। अरिहन्तका स्वरूप सर्वप्रकार शुद्ध है इसलिये शुद्ध आत्म स्वरूपके प्रतिबिम्बके समान श्री अरिहन्तका आत्मा है। अरिहन्त जैसा ही इस आत्मा का शुद्ध स्वभाव स्थापित करके उसे जानने की बात कही है। यहाँ मात्र अरिहन्तकी ही बात नहीं है किन्तु अपने आत्माकी प्रतीति करके उसे जानना है, क्योंकि अरिहन्तमें और इस आत्मामें निश्चयसे कोई अंतर नहीं है। जो जीव अपने ज्ञानमें अरिहन्तका निर्णय करता है उस जीवके भावमें अरिहन्त भगवान साक्षात् विराजमान रहते हैं, उसे अरिहन्तका विरह नहीं होता। इस प्रकार अपने ज्ञानमें अरिहन्तकी यथार्थ प्रतीति करने पर अपने आत्माकी प्रतीति होती है और उसका मोह अवश्य क्षयको प्राप्त होता है। यह पहिले कहे गये कथनका सार है। अब द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप विशेष रूपसे बताते हैं, उसे जाननेके बाद अन्तरंगमें किस प्रकारकी क्रिया करने से मोह क्षयको प्राप्त होता है, यह बताते हैं।]

जो जीव अपने पुरुषार्थके द्वारा आत्माको जानता है उस जीवका मोह अवश्य क्षयको प्राप्त होता है—ऐसा कहा है, किंतु यह नहीं कहा कि मोह कर्मका बल कम हो तो आत्माको जाननेका पुरुषार्थ प्रगट हो सकता है, क्योंकि मोहकर्म कहीं आत्माको पुरुषार्थ करनेसे नहीं रोकता। जब जीव अपने ज्ञानमें सच्चा पुरुषार्थ करता है तब मोह अवश्य क्षय हो जाता है। जीवका पुरुषार्थ स्वतन्त्र है, 'पहिले तू ज्ञान कर तो मोह क्षयको प्राप्त हो' इसमें उपादानसे कार्यका होना सिद्ध किया है किंतु 'पहिले मोह क्षय हो तो तुझे आत्माका ज्ञान प्रगट हो' इसप्रकार निमित्तकी ओरसे विपरीत को नहीं लिया है, क्योंकि निमित्तको लेकर जीवमें कुछ भी नहीं होता।

अब यह बतलाते हैं कि अरिहन्त भगवानके स्वरूपमें द्रव्य गुण पर्याय किसप्रकार हैं। "वहाँ अन्वय द्रव्य है, अन्वयका विशेषण गुण है, अन्वयके व्यतिरेक (भेद) पर्याय है" [गाथा ८० टीका] शरीर अरिहन्त नहीं है किंतु द्रव्यगुण पर्याय स्वरूप आत्मा अरिहन्त है। अनन्त अरिहन्त और अनन्त आत्माओं का द्रव्यगुण पर्यायसे क्या स्वरूप है यह इसमें बताया है।

—द्रव्य—

यहाँ मुख्यतासे अरिहन्त भगवानके द्रव्य गुण पर्यायकी बात है। अरिहन्त भगवानके स्वरूपमें जो अन्वय है सो द्रव्य है। 'जो अन्वय है सो द्रव्य है' इसका क्या अर्थ है? जो अवस्था बदलती है वह कुछ स्थिर रहकर बदलती है। जैसे पानीमें लहरें उठती हैं वे पानी और शीतलता को स्थिर रखकर उठती हैं, पानीके बिना यों ही लहरें नहीं उठने लगतीं, इसीप्रकार आत्मामें पर्यायरूपी लहरें (भाव) बदलती रहती हैं उसके बदलने पर एक एक भावके बराबर आत्मा नहीं है किंतु सभी भावों मे लगातार स्थिर रहने वाला आत्मा है। त्रिकाल स्थिर रहनेवाले आत्म द्रव्यके आधारसे पर्यायें परिणमित होती है। जो पहले और बादके सभी परिणामोंमें स्थिर बना रहता है वह द्रव्य है। परिणाम तो प्रतिसमय एक के बाद एक नये २ होते हैं। सभी परिणामोंमें लगातार एकसा रहने वाला द्रव्य है। पहिले भी वही था और बादमे भी वही है—इसप्रकार पहिले और बादका जो एकत्व है सो अन्वय है, और जो अन्वय है सो द्रव्य है।

अरिहंतके सम्बन्धमें—पहिले अज्ञान दशा थी, फिर ज्ञानदशा प्रकट हुई, इस अज्ञान और ज्ञान दोनों दशाओंमें स्थिररूपमें विद्यमान है वह आत्म द्रव्य है। जो आत्मा पहिले अज्ञान रूप था वही अब ज्ञान रूप है। इसप्रकार पहले और बादके जोड़रूप जो पदार्थ है वह द्रव्य है। पर्याय पहिले और पश्चात्‌की जोड़रूप नहीं होतीं, वह तो पहिले और बाद की अलग २ (व्यतिरेकरूप) होती है और द्रव्य पूर्व पश्चात्‌के सम्बन्धरूप

(अन्वयरूप) होता है। जो एक अवस्था है वह दूसरी नहीं होती और जो दूसरी अवस्था है वह तीसरी नहीं होती, इसप्रकार अवस्थामें प्रथकृत्व है; किन्तु जो द्रव्य पहिले समयमें था वही दूसरे समयमें है और जो दूसरे समयमें था वही तीसरे समयमें है, इसप्रकार द्रव्यमें लगातार सादृश्य है।

जैसे सोनेकी अवस्थाकी रचनाएं अनेक प्रकारकी होती हैं, उसमें अंगूठीके आकारके समय कुण्डल नहीं होता और कुण्डलरूप आकारके समय कड़ा नहीं होता, इसप्रकार प्रत्येक पर्यायके रूपमें प्रथकृत्व है, किन्तु जो सोना अंगूठीके रूपमें था वही सोना कुण्डलके रूपमें है और जो कुण्डलके रूपमें था वही कड़ेके रूपमें है—सभी प्रकारोंमें सोना तो एक ही है, किस आकार प्रकारमें सोना नहीं है? सभी अवस्थाओंके समय सोना है। इसीप्रकार अज्ञानदशाके समय साधक दशा नहीं होती, साधक दशाके समय साध्य दशा नहीं होती—इसप्रकार प्रत्येक पर्यायका प्रथकृत्व है। किन्तु जो आत्मा अज्ञान दशामें था वही साधक दशामें है और जो साधक दशामें था वही साध्य दशामें है। सभी अवस्थाओंमें आत्म द्रव्य तो एक ही है। किस अवस्थामें आत्मा नहीं है? सभी अवस्थाओंमें निरन्तर साथ रहकर गमन करने वाला आत्म द्रव्य है।

पहिले और पश्चात् जो स्थिर रहता है वह द्रव्य है। अरिहन्त भगवानका आत्मा स्वयं ही पहिले अज्ञान दशामें था और अब वही सम्पूर्ण ज्ञानमय अरिहन्त दशामें भी है। इसप्रकार अरिहन्तके आत्मद्रव्य को पहचानना चाहिये। यह पहचान करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अभी अपूर्ण दशा होने पर भी मैं ही पूर्ण अरिहन्त दशामें भी स्थिर होऊंगा, इससे आत्माकी त्रैकालिकता लक्ष्यमें आती है।

—गुण—

'अन्वयका जो विशेपण है सो गुण है' पहिले [परिभापा] की, अब गुणकी परिभापा करते हैं। कड़ा, कुण्डल और अंगूठी इत्यादि सभी अवस्थाओंमें रहनेवाला सोना द्रव्य है—यह तो कहा

है परन्तु यह भी जान लेना चाहिये कि सोना कैसा है। सोना पीला है, भारी है, चिकना है—इस प्रकार पीलापन, भारीपन और चिकनापन यह विशेषण सोनेके लिये लागू किये गये हैं इसलिये वह पीलापन आदि सोनेका गुण है, इसीप्रकार अरिहन्तकी पहिलेकी और बादकी अवस्थामें जो स्थिर रहता है वह आत्मद्रव्य है—यह कहा है, परन्तु यह भी जान लेना चाहिये कि आत्मद्रव्य कैसा है ? आत्मा ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है, चारित्ररूप है, इसप्रकार आत्म द्रव्यके लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र विशेषण लागू होते है, इसलिये ज्ञान आदिक आत्मद्रव्यके गुण है। द्रव्यकी शक्तिको गुण कहा जाता है। आत्मा चेतन द्रव्य है और चैतन्य उसका विशेपण है। परमाणुमें जो पुद्गल है सो द्रव्य है और वर्ण, गन्ध इत्यादि उसके विशेषण-गुण है। वस्तुमें कोई विशेषण तो होता ही है जैसे मिठास गुड़का विशेषण है। इसीप्रकार आत्मद्रव्यका विशेषण क्या है ? अरिहन्त भगवान आत्म द्रव्य किस प्रकार है यह पहिले कहा जा चुका है। अरिहन्तमें किंचित् मात्र भी राग नही है और परिपूर्ण ज्ञान है अर्थात् ज्ञान आत्म द्रव्यका विशेपण है।

यहाँ मुख्यतासे ज्ञानकी बात कही है, इसी प्रकार दर्शन, चारित्र, वीर्य अस्तित्व इत्यादि जो अनन्त गुण है वे सब आत्माके विशेपण है। अरिहन्त आत्म द्रव्य हैं और उस आत्मामें अनन्त सहवर्ती गुण है, वैसा ही मैं भी आत्मद्रव्य हूँ और मुझमें वे सब गुण विद्यमान है। इसप्रकार जो अरिहन्तके आत्माको द्रव्य, गुण रूपमें जानता है वह अपने आत्माको भी द्रव्य, गुण रूपमें जानता है। वह स्वय समझता है कि द्रव्य, गुणके जान लेने पर अब पर्यायमें क्या करना चाहिये, और इसलिये उसके धर्म होता है। द्रव्य, गुण तो जैसे अरिहन्तके हैं वैसे ही सभी आत्माओंके सदा एक रूप है। द्रव्य, गुणमें कोई अन्तर नहीं है, अवस्थामें संसार और मोक्ष है। द्रव्य, गुणमें से पर्याय प्रगट होती है इसलिये अपने द्रव्य, गुणको पहिचान कर उस द्रव्य, गुणमें से पर्यायका जैसा आकार प्रकार स्वयं

बनाना है वैसा ही कर सकता है।

इसप्रकार द्रव्य रूपसे और गुण रूपसे आत्माकी पहिचान कराई है। इसमें जो गुण है सो वह द्रव्यकी ही पहिचान कराने वाला है।

—पर्याय—

'अन्वयके व्यतिरेकको पर्याय कहते हैं'—इनमें पर्यायोंकी परिभाषा बताई है। द्रव्यके जो भेद है सो पर्याय हैं। द्रव्य तो त्रिकाल है, उस द्रव्यको क्षण २ के भेद से (क्षणवर्ती अवस्थासे) लक्षमें लेना सो पर्याय है। पर्यायका स्वभाव व्यतिरेक रूप है अर्थात् एक पर्यायके समय दूसरी पर्याय नहीं होती। गुण और द्रव्य सदा एक साथ होते हैं किन्तु पर्याय एकके बाद दूसरी होती है। अरिहन्त भगवानके केवलज्ञान पर्याय है तब उनके पूर्वकी अपूर्ण ज्ञान दशा नहीं होती। वस्तुके जो एक एक समयके भिन्न २ भेद हैं सो पर्याय है। कोई भी वस्तु पर्यायके बिना नहीं हो सकती।

आत्मद्रव्य स्थिर रहता है और उसकी पर्याय बदलती रहती है। द्रव्य और गुण एक रूप हैं, उनमें भेद नहीं है किन्तु पर्यायमें अनेक प्रकार से परिवर्तन होता है इसलिये पर्यायमें भेद है। पहिले द्रव्य गुण पर्यायका स्वरूप भिन्न भिन्न बताकर फिर तीनोंका अभेद द्रव्यमें समाविष्ट कर दिया है। इसप्रकार द्रव्य गुण पर्यायकी परिभाषा पूर्ण हुई।

—प्रारम्भिक कर्त्तव्य—

अरिहन्त भगवानके द्रव्य गुण पर्यायको भलीभांति जान लेना ही धर्म है। अरिहन्त भगवानके द्रव्य, गुण, पर्यायको जानने वाला जीव अपने आत्माको भी जानता है। इसे जाने बिना दया, भक्ति, पूजा, तप, व्रत, ब्रह्मचर्य या शास्त्राभ्यास इत्यादि सब कुछ करने पर भी धर्म नहीं होता और मोह दूर नहीं होता। इसलिये पहिले अपने ज्ञानके द्वारा अरिहन्त भगवानके द्रव्य गुण पर्यायका निर्णय करना चाहिये, यही धर्म करने के लिए प्रारम्भिक कर्त्तव्य है।

पहिले द्रव्य गुण पर्यायका स्वरूप बताया है। अरिहन्तके द्रव्य गुण पर्यायको जानने वाला जीव अपने द्रव्य गुण पर्यायमय आत्माको जान लेता है-यह बात अब यहाँ कही जाती है।

"सर्वतः विशुद्ध भगवान अरिहन्तमें (अरिहन्तके स्वरूपको ध्यानमें रखकर) जीव तीनों प्रकारके समयको (द्रव्य गुण पर्यायमय निज आत्मा को) अपने मनके द्वारा जान लेता है।" [गाथा ८० की टीका]

अरिहन्त भगवान का स्वरूप सर्वतः विशुद्ध है अर्थात् वे द्रव्य से गुण से और पर्यायसे सम्पूर्ण शुद्ध हैं इसलिये द्रव्य गुण पर्यायसे उनके स्वरूपको जानने पर उस जीवके ख्यालमें यह आ जाता है कि अपना स्वरूप द्रव्यसे, गुणसे, पर्यायसे कैसा है।

इस आत्माका और अरिहन्तका स्वरूप परमार्थतः समान है, इसलिए जो अरिहन्तके स्वरूपको जानता है वह अपने स्वरूपको जानता है और जो अपने स्वरूपको जानता है उसके मोहका क्षय हो जाता है।

सम्यक्त्व सन्मुख दशा

जिसने अपने ज्ञानके द्वारा अरिहन्त के द्रव्य गुण पर्यायको लक्ष्यमें लिया है उस जीवको अरिहन्तका विचार करने पर परमार्थसे अपना ही विचार आता है। अरिहन्तके द्रव्य गुण पूर्ण हैं और उनकी अवस्था सम्पूर्ण ज्ञान मय है, सम्पूर्ण विकार रहित है, ऐसा निर्णय करनेपर यह प्रतीति होती है कि अपने द्रव्य गुण पूर्ण हैं और उनकी अवस्था सम्पूर्ण ज्ञानरूप, विकार रहित होनी चाहिए।

जैसे भगवान अरिहन्त हैं वैसा ही मैं हूँ, इसप्रकार अरिहन्तको जानने पर स्व समयको मनके द्वारा जीव जान लेता है। यहाँतक अभी अरिहन्तके स्वरूपके साथ अपने स्वरूपकी समानता करता है अर्थात् अरिहन्तके लक्ष्यसे अपने आत्माके स्वरूपका निश्चय करना प्रारम्भ करता है। यहाँ पर लक्ष्यसे निर्णय होनेके कारण यह कहा है कि मनके द्वारा अपने आत्माको जान लेता है। यद्यपि यहाँ विकल्प है तथापि विकल्पके द्वारा

जो निर्णय कर लिया है उस निर्णय रूप ज्ञानमेंसे ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। मनके द्वारा विकल्पसे ज्ञान किया है तथापि निर्णयके बलसे ज्ञान में से विकल्पको अलग करके स्वलक्ष्यसे ठीक समझकर मोहका क्षय अवश्य करेगा—ऐसी शैली है। जिसने मनके द्वारा आत्माका निर्णय किया है उसकी सम्यक्त्वके सन्मुख दशा हो चुकी है।

अरिहन्तके साथ समानता

अब यह बतलाते हैं कि अरिहन्तको द्रव्य गुण पर्यायसे जाननेवाला जीव द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप अपने आत्माको किस प्रकार जान लेता है। अरिहन्तको जाननेवाला जीव अपने ज्ञानमें अपने द्रव्य गुण पर्यायका इस प्रकार विचार करता है—

'यह चेतन है ऐसा जो अन्वय सो द्रव्य है, अन्वयके आश्रित रहने वाला जो 'चैतन्य' विशेषण है सो गुण है और एक समयकी मर्यादावाला जिसका काल परिमाण होनेसे परस्पर अप्रवृत्त जो अन्वय व्यतिरेक हैं [एक दूसरे में प्रवृत्त न होने वाले जो अन्वयके व्यतिरेक हैं] सो पर्याय हैं, जो कि चिद् विवर्तन की [आत्माके परिणमनकी] ग्रन्थियां हैं।

[गाथा ८० की टीका]

पहिले अरिहन्त भगवानको सामान्यतया जानकर अब उनके स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर द्रव्यगुण पर्यायसे विशेपरूपमें विचार करते हैं। "यह अरिहन्त आत्मा है" इसप्रकार द्रव्यको जान लिया। ज्ञानको धारण करने वाला जो सदा रहनेवाला द्रव्य है सो वही आत्मा है। इसप्रकार अरिहन्त के साथ आत्माकी सदृश्यता बताई है।

चेतन द्रव्य आत्मा है, आत्मा चैतन्य स्वरूप है चैतन्य गुण आत्म द्रव्यके आश्रित है, सदा स्थिर रहनेवाले आत्म द्रव्यके आश्रयमें ज्ञान रहता है, द्रव्यके आश्रयमें रहनेवाला होनेसे ज्ञान गुण है। अरिहन्तके गुणको देखकर यह निश्चय करता है कि स्वयं अपने आत्माके गुण वैसे हैं, जैसा अरिहन्तका स्वभाव है वैसा ही मेरा स्वभाव है।

द्रव्य-गुण त्रैकालिक हैं, उसके प्रतिक्षणवर्ती जो भेद हैं सो पर्याय है। पर्यायकी मर्यादा एक समय मात्रकी है। एक ही समयकी मर्यादा होती है इसलिये दो पर्याय कभी एकत्रित नहीं होती। पर्यायें एक दूसरेमें अप्रवृत्त हैं, एक पर्याय दूसरी पर्यायमें नहीं आती इसलिये पहली पर्यायके विकाररूप होनेपर भी मैं अपने स्वभावसे दूसरी पर्यायको निर्विकार कर सकता हूँ। इसका अर्थ यह है कि विकार एक समय मात्रके लिये है और विकार रहित स्वभाव त्रिकाल है। पर्याय एक समय मात्र के लिये ही होती है यह जान लेनेपर यह प्रतीति हो जाती है कि विकार क्षणिक है। इसप्रकार अरिहन्तके साथ समानता करके अपने स्वरूपमें उसे मिलाता है।

चेतनकी एक समयवर्ती पर्यायें ज्ञानकी ही गांठें है। पर्याय का सम्बन्ध चेतनके साथ है। वास्तवमें राग चेतनकी पर्याय नहीं है क्योंकि अरिहन्तकी पर्यायमें राग नहीं है। जितना अरिहन्तकी पर्यायमें होता है उतना ही इस आत्माकी पर्यायका स्वरूप है।

पर्याय प्रति समय की मर्यादा वाली है। एक पर्यायका दूसरे समय में नाश हो जाता है इसलिये एक अवस्थामें से दूसरी अवस्था नहीं आती, किन्तु द्रव्यमें से ही पर्याय आती है, इसलिये पहिले द्रव्यका स्वरूप बताया है। पर्यायमें जो विकार है सो स्वरूप नहीं है किन्तु गुण जैसी ही निर्विकार अवस्था होनी चाहिये इसलिये बादमें गुणका स्वरूप बताया है। राग अथवा विकल्पमेंसे पर्याय प्रगट नहीं होती क्योंकि पर्याय एक दूसरे में प्रवृत्त नही होती। पर्यायको चिद् विवर्तन की ग्रन्थी क्यों कहा है? पर्याय स्वयं तो एक समय मात्रके लिये है परन्तु एक समय की पर्यायसे त्रैकालिक द्रव्य को जानने की शक्ति है। एक ही समयकी पर्यायमें त्रैकालिक द्रव्यका निर्णय समाविष्ट हो जाता है। पर्यायकी ऐसी शक्ति बतानेके लिए उसे चिद् विवर्तन की ग्रन्थी कहा है।

अरिहन्तके केवलज्ञान दशा होती है, जो केवलज्ञान दशा है सो चिद् विवर्तनकी वास्तविक ग्रन्थीं है। जो अपूर्ण ज्ञान है सो स्वरूप नहीं

है। केवलज्ञान होनेपर एक ही पर्यायमें लोकालोक का पूर्ण ज्ञान समाविष्ट हो जाता है, मति-श्रुत पर्यायमें भी अनेकानेक भावोंका निर्णय समाविष्ट हो जाता है।

यद्यपि पर्याय स्वयं एक समयकी है तथापि उस एक समयमें सर्वज्ञ के परिपूर्ण द्रव्य गुण पर्यायको अपने ज्ञानमें समाविष्ट कर लेती है। सम्पूर्ण अरिहन्तका निर्णय एक समयमें कर लेनेसे पर्याय चैतन्यकी गांठ है।

अरिहन्तकी पर्याय सर्वतः सर्वथा शुद्ध है। यह शुद्ध पर्याय जब ख्यालमें ली तब उस समय निजके वैसी पर्याय वर्तमानमें नहीं है तथापि यह निर्णय होता है कि—मेरी अवस्थाका स्वरूप अनंत ज्ञान शक्तिरूप सम्पूर्ण है, रागादिक मेरी पर्यायका मूल स्वरूप नहीं है।

इसप्रकार अरिहन्तके लक्ष्यसे द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप अपने आत्मा को शुभ विकल्पके द्वारा जाना है। इसप्रकार द्रव्य गुण पर्यायके स्वरूपको एक ही साथ जान लेनेवाला जीव बादमें क्या करता है और उसका मोह कब नष्ट होता है यह अब कहते हैं।

"अब इस प्रकार ....अवश्यमेव प्रलयको प्राप्त होता है"

(गाथा ८० की टीका)

द्रव्य-गुण-पर्यायका यथार्थ स्वरूप जान लेनेपर जीव त्रैकालिक द्रव्यको एक कालमें निश्चित कर लेता है। आत्माके त्रैकालिक होनेपर भी जीव उसके त्रैकालिक स्वरूपको एक ही कालमें समझ लेता है। अरिहन्तकी द्रव्य-गुण-पर्यायसे जान लेनेपर अपनेमें क्या फल प्रगट हुआ है यह बतलाते हैं। त्रैकालिक पदार्थको इसप्रकार लक्ष्यमें लेता है कि जैसे अरिहन्त भगवान त्रिकाली आत्मा है वैसा ही मैं त्रिकाली आत्मा हूं। त्रिकाली पदार्थ को जान लेनेमें त्रिकाल जितना समय नहीं लगता। किन्तु वर्तमान एक पर्यायके द्वारा त्रैकालिकका ख्याल हो जाता है—उसका अनुमान हो जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व क्यों कर होता है। इसकी यह बात है। प्रारम्भिक क्रिया यही है। इसी क्रियाके द्वारा मोहका क्षय होता है।

जीवको सुख चाहिये है। इस जगतमें संपूर्ण स्वाधीन सुखी श्री अरिहन्त भगवान हैं। इसलिये 'सुख चाहिये है' का अर्थ यह हुआ कि स्वयं भी अरिहन्त दशारूप होना है। जिसने अपने आत्माको अरिहन्त जैसा माना है वही स्वयं अरिहन्त जैसी दशारूप होनेकी भावना करता है। जिसने अपनेको अरिहन्त जैसा माना है उसने अरिहन्तके समान द्रव्य गुण पर्याय के अतिरिक्त अन्य सब अपने आत्मामेंसे निकाल दिया है। (यहाँ पहले मान्यता-श्रद्धा करने की बात है) परद्रव्यका कुछ करनेकी मान्यता, शुभराग से धर्म होनेकी मान्यता तथा निमित्तसे हानिलाभ होने की मान्यता दूर हो गई है, क्योंकि अरिहन्तके आत्माके यह सब कुछ नही है।

द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप जानने के बाद क्या करना चाहिये ?

अरिहन्तके स्वरूपको द्रव्य गुण पर्याय रूपसे जानने वाला जीव त्रैकालिक आत्माको द्रव्य गुण पर्याय रूपसे एक क्षणमें समझ लेता है। बस ! यहाँ आत्माको समझ लेने तक की बात की है वहाँ तक विकल्प है, विकल्पके द्वारा आत्म लक्ष्य किया है, अब उस विकल्पको तोड़कर द्रव्य गुण पर्यायके भेदको छोड़कर अभेद आत्माका लक्ष्य करनेकी बात करते हैं। इस अभेदका लक्ष्य करना ही अरिहन्तको जाननेका सच्चा फल है और जब अभेदका लक्ष्य करता है तब-उसी क्षण मोहका क्षय हो जाता है।

जिस अवस्थाके द्वारा अरिहन्तको जानकर त्रैकालिक द्रव्यका ख्याल किया उस अवस्थामें जो विकल्प होता है वह अपना स्वरूप नहीं है, किन्तु जो ख्याल किया है वह अपना स्वभाव है। ख्याल करनेवाला जो ज्ञान है वह सम्यकज्ञानकी जातिका है, किन्तु अभी पर लक्ष्य है इसलिये यहाँतक सम्यक्दर्शन प्रगट रूप नहीं है। अब उस अवस्थाको पर लक्षसे हटाकर स्वभावमें संकलित करता है—भेदका लक्ष्य छोड़कर अभेदके लक्ष्यसे सम्यक्दर्शनको प्रगट रूप करता है। जैसे मोतीका हार भूल रहा हो तो

उस झूलते हुये हारको लक्षमें लेनेपर उसके पहिलेसे अन्ततकके सभी मोती उस हारमें ही समाविष्ट हो जाते हैं और हार तथा मोतियोंका भेद लक्षमें नहीं आता। यद्यपि प्रत्येक मोती पृथक पृथक है किन्तु जब हारको देखते हैं तब एक २ मोतीका लक्ष छूट जाता है। परन्तु पहिले हारका स्वरूप जानना चाहिये कि हारमें अनेक मोती हैं और हार सफेद है, इसप्रकार पहिले हार, हारका रंग और मोती इन तीनोंका स्वरूप जाना हो तो उन तीनोंको झूलते हुये हारमें समाविष्ट करके हारको एकरूपसे लक्षमें लिया जा सकता है मोतियोंका जो लगातार तारतम्य है सो हार है। प्रत्येक मोती उस हारका विशेष है और उन विशेषों को यदि एक सामान्यमें संकलित किया जाय तो हार लक्षमें आता है। हारकी तरह आत्माके द्रव्य गुण पर्यायोंको जानकर पश्चात् समस्त पर्यायोंको और गुणोंको एक चैतन्य द्रव्यमें ही अन्तर्गत करने पर द्रव्यका लक्ष होता है और उसी क्षण सम्यक्दर्शन प्रगट होकर मोहका क्षय हो जाता है।

यहाँ झूलता हुआ अथवा लटकता हुआ हार इसलिये लिया है कि वस्तु कूटस्थ नहीं है किन्तु प्रति समय झूल रही है अर्थात् प्रत्येक समयमें द्रव्यमें परिणमन हो रहा है। जैसे हारके लक्षसे मोतीका लक्ष छूट जाता है उसी प्रकार द्रव्यके लक्षसे पर्यायका लक्ष छूट जाता है। पर्यायोंमें बदलने वाला तो एक आत्मा है, बदलने वालेके लक्षसे समस्त परिणामोंको उसमें अंतर्गत किया जाता है। पर्यायकी दृष्टिसे प्रत्येक पर्याय भिन्न २ है किन्तु जब द्रव्यकी दृष्टिसे देखते हैं तब समस्त पर्यायें उसमें अंतर्गत हो जाती हैं। इस प्रकार आत्म द्रव्यको ख्यालमें लेना ही सम्यग्दर्शन है।

प्रथम आत्म द्रव्यके गुण और आत्माकी अनादि अनन्त कालकी पर्याय, इन तीनोंका वास्तविक स्वरूप (अरिहतके स्वरूपके साथ सादृश्य करके) निश्चित् किया हो तो फिर उन द्रव्य, गुण, पर्यायको एक परिणमित होते हुए द्रव्यमें समाविष्ट करके द्रव्यको अभेद रूपसे लक्षमें लिया जा सकता है। पहिले सामान्य-विशेष (द्रव्य-पर्याय) को जानकर फिर

विशेषोंको सामान्यमें अन्तर्गत किया जाता है; किंतु जिसने सामान्य-विशेष का स्वरूप न जाना हो वह विशेषको सामान्यमें अंतर्लीन कैसे करे ?

पहिले अरिहन्त जैसे द्रव्य, गुण, पर्यायसे अपने आत्माको लक्षमें लेकर पश्चात् जिस जीवने गुण–पर्यायोंको एक द्रव्यमें संकलित किया है उसे आत्माको स्वभावमें धारण कर रखा है। जहाँ आत्माको स्वभावमें धारण किया वहाँ मोहको रहनेका स्थान नहीं रहता अर्थात् मोह निराश्रयताके कारण उसी क्षण क्षयको प्राप्त होता है। पहिले अज्ञानके कारण द्रव्य, गुण पर्यायके भेद करता था इसलिये उन भेदोंके आश्रयसे मोह रह रहा था किंतु जहाँ द्रव्य, गुण, पर्यायको अभेद किया वहाँ द्रव्य, गुण, पर्यायका भेद दूर हो जाने से मोह क्षयको प्राप्त होता है। द्रव्य, गुण, पर्यायकी एकता ही धर्म है और द्रव्य, गुण, पर्यायके बीच भेद ही अधर्म है।

पृथक २ मोती विस्तार है क्योंकि उनमें अनेकत्व है और सभी मोतियोंके अभेद रूपमें जो एक हार है सो संक्षेप है। जैसे पर्यायके विस्तार को द्रव्यमें संकलित कर दिया उसीप्रकार विशेष्य–विशेषणपन की वासना को भी दूर करके–गुणको भी द्रव्यमें ही अन्तर्हित करके मात्र आत्माको ही जानना और इसप्रकार आत्माको जाननेपर मोहका क्षय हो जाता है। पहिले यह कहा था कि 'मनके द्वारा जान लेता है' किन्तु वह जानना विकल्प सहित था, और यहाँ जो जाननेकी बात कही है वह विकल्प रहित अभेदका जानना है। इस जाननेके समय पर लक्ष तथा द्रव्य, गुण, पर्याय के भेदका लक्ष छूट चुका है।

यहाँ (मूल टीकामें) द्रव्य, गुण, पर्यायको अभेद करनेसे संबंधित पर्याय और गुणके क्रमसे बात की है। पहिले कहा है कि 'चिद्–विवर्तों को चेतनमें ही संक्षिप्त करके' और फिर कहा है कि 'चैतन्यको चेतनमें ही अंतर्हित करके' यहाँ पर पहिले कथन में पर्याय को द्रव्य के साथ अभेद करनेकी बात है और दूसरे में गुणको द्रव्य के साथ अभेद करने की

बात है। इसप्रकार पर्यायको और गुणको द्रव्यमें अभेद करनेकी बात क्रम से समझाई है; किंतु अभेदका लक्ष करनेपर वे क्रम नहीं होते। जिस समय अभेद द्रव्यकी ओर ज्ञान झुकता है उसी समय पर्याय भेद और गुण भेदका लक्ष एक साथ दूर हो जाता है; समझाने में तो क्रमसे ही बात आती है।

जैसे झूलते हुए हारको लक्ष में लेते समय ऐसा विकल्प नहीं होता कि 'यह हार सफेद है' अर्थात् उसकी सफेदी को झूलते हुए हारमें ही अलोप कर दिया जाता है, इसीप्रकार आत्म द्रव्यमें 'यह आत्मा और ज्ञान उसका गुण अथवा आत्मा ज्ञान स्वभावी है' ऐसे गुण गुणी भेदकी कल्पना दूर करके गुणको द्रव्य में ही अदृश्य करना चाहिए। मात्र आत्माको लक्षमें लेने पर ज्ञान और आत्मा के भेद सम्बन्धी विचार अलोप हो जाते हैं; गुण गुणी भेद का विकल्प टूट कर एकाकार चैतन्य स्वरूप का अनुभव होता है। यही सम्यग्दर्शन है।

हार में पहिले तो मोती का मूल्य उसकी चमक और हारकी गुथाई को जानता है पश्चात् मोतीका लक्ष छोड़कर 'यह हार सफेद है' इस प्रकार गुण गुणीके भेदसे हारको लक्षमें लेता है और फिर मोती, उसकी सफेदी और हार इन तीनों के संबंधके विकल्प छूटकर—मोती और उसकी सफेदीको हारमें ही अदृश्य करके मात्र हार का ही अनुभव किया जाता है इसीप्रकार पहिले अरिहंत का निर्णय करके द्रव्य गुण पर्यायके स्वरूप को जाने कि ऐसी पर्याय मेरा स्वरूप है, ऐसे मेरे गुण हैं और मैं अरिहंत जैसा ही आत्मा हूँ। इसप्रकार विकल्पके द्वारा जानने के बाद पर्यायों के अनेक भेदका लक्ष छोड़कर "मैं ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ" इस प्रकार गुण गुणी भेदके द्वारा आत्मा को लक्ष में ले और फिर द्रव्य, गुण अथवा पर्याय संबंधी विकल्पोंको छोड़कर मात्र आत्माका अनुभव करने के समय यह गुण गुणी भेद भी गुप्त हो जाता है अर्थात् ज्ञान गुण आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है; इसप्रकार केवल आत्मा का अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है।

"हारको खरीदने वाला आदमी खरीदते समय हार तथा उसकी सफेदी और उसके मोती इत्यादि सबकी परीक्षा करता है परन्तु बादमें सफेदी और मोतियोंको हारमें समाविष्ट करके-उनके ऊपरका लक्ष छोड़कर केवल हारको ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो हारको पहिरनेकी स्थिति में भी सफेदी इत्यादिके विकल्प रहनेसे वह हारको पहिरनेके सुखका सवेदन नहीं कर सकेगा।" [गुजराती–प्रवचनसार, पा ११९ फुटनोट] इसीप्रकार आत्म स्वरूपको समझने वाला समझते समय तो द्रव्य, गुण, पर्याय-इन तीनोंके स्वरूपका विचार करता है परन्तु बादमें गुण और पर्यायको द्रव्यमें ही समाविष्ट करके–उनके ऊपरका लक्ष छोड़कर मात्र आत्मा को ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो द्रव्यका स्वरूप ख्यालमें आने पर भी गुण पर्याय सम्बन्धी विकल्प रहनेसे द्रव्यका अनुभव नही कर सकेगा।

हार आत्मा है, सफेदी ज्ञान गुण है और मोती पर्याय हैं। इसप्रकार दृष्टांत और सिद्धांतका सम्बन्ध समझना चाहिये। द्रव्य, गुण, पर्यायके स्वरूपको जाननेके बाद मात्र अभेद स्वरूप आत्माका अनुभव करना ही धर्मकी प्रथम क्रिया है। इसी क्रियासे अनन्त अरिहन्त तीर्थंकर क्षायक सम्यग्दर्शन प्राप्त करके केवलज्ञान और मोक्ष दशाको प्राप्त हुए है। वर्तमान में भी मुमुक्षुओंके लिये यही उपाय है और भविष्यमें जो अनन्त तीर्थंकर होंगे वे सब इसी उपायसे होंगे।

सर्व जीवोंको सुखी होना है, सुखी होनेके लिये स्वाधीनता चाहिये, स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिये सम्पूर्ण स्वाधीनताका स्वरूप जानना चाहिये। सम्पूर्ण स्वाधीन अरिहन्त भगवान हैं, इसलिये अरिहन्तका ज्ञान करना चाहिये। जैसे अरिहन्तके द्रव्य, गुण, पर्याय हैं वैसे ही अपने हैं। अरिहन्तके रागद्वेष नहीं है, वे न तो अपने शरीरका कुछ करते हैं और न परका ही कुछ करते है। उनके दया अथवा हिंसाके विकारी भाव नहीं होते, वे मात्र ज्ञान ही करते है, इसीप्रकार मै भी ज्ञान करने वाला ही हूँ, अन्य कुछ मेरा स्वरूप नहीं है। वर्तमानमें मेरे ज्ञानमें कचाई है वह मेरी

अवस्थाके दोष के कारणसे है, अवस्थाका दोष भी मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार पहिले भेदके द्वारा निश्चित करना चाहिये किन्तु बादमें भेदके विचारको छोड़कर मात्र आत्माको जाननेसे स्वाधीनता का उपाय प्रगट होता है।

द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप जानने का फल

पर्यायोंको और गुणोंको एक द्रव्यमें अन्तर्लीन करके केवल आत्मा को जानने पर उस समय अन्तरंगमें क्या होता है सो अब कहते हैं:— "केवल आत्माको जानने पर उसके उत्तरोत्तर क्षणमें कर्ता-कर्म-क्रियाका विभाग क्षय होता जाता है इसलिये निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होता है।"

[गाथा ८० की टीका]

द्रव्य, गुण, पर्यायके भेदका लक्ष छोड़कर अभेद स्वभावकी ओर झुकने पर कर्ता-कर्म क्रियाके भेदका विभाग क्षय होता जाता है। और जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होता है—यही सम्यग्दर्शन है।

मैं आत्मा हूँ, ज्ञान मेरा गुण है और यह मेरी पर्याय है—ऐसे भेदकी क्रियासे रहित, पुण्य-पापके विकल्पसे रहित निष्क्रिय चैतन्य भावका अनुभव करनेमें अनन्त पुरुषार्थ है, अपना आत्म बल स्वोन्मुख होता है। कर्ता-कर्म क्रियाके भेदका विभाग क्षयको प्राप्त होता है। पहिले विकल्पके समय मैं कर्ता हूँ और पर्याय मेरा कार्य है इसप्रकार कर्ताकर्मका भेद होता था, किन्तु जब पर्यायको द्रव्यमें ही मिला दिया तब द्रव्य और पर्यायके बीच कोई भेद नहीं रहा अर्थात् द्रव्य कर्ता और पर्याय उसका कार्य है। ऐसे भेदका अभेदके अनुभवके समय क्षय हो जाता है। पर्यायोंको और गुणोंको अभेदरूपसे आत्म द्रव्यमें ही समाविष्ट करके परिणामी, परिणाम और परिणति (कर्ता कर्म और क्रिया) को अभेदमें समाविष्ट करके अनुभव करना सो अनन्त पुरुषार्थ है। और यही ज्ञानका स्वभाव है। भंग-भेदमें जाने पर ज्ञान और वीर्य कम होते जाते हैं और अभेदका अनुभव करने पर उत्तरोत्तर क्षणमें कर्ता-कर्म-क्रिया

का विभाग क्षय होता जाता है। वास्तवमें तो जिस समय अभेद स्वभाव की ओर झुकते हैं उसी समय कर्ता-कर्म-क्रियाका भेद टूट जाता है तथापि यहाँ 'उत्तरोत्तर क्षणमें क्षय होता जाता है' ऐसा क्यों कहा है ?

अनुभव करनेके समय पर्याय द्रव्यकी ओर अभिन्न होजाती है परन्तु अभी सर्वथा अभिन्न नही हुई है। यदि सर्वथा अभिन्न होजाए तो उसी समय केवलज्ञान हो जाय, परन्तु जिस समय अभेदके अनुभवकी ओर ढलता है उसी क्षणसे प्रत्येक पर्यायमें भेदका क्रम टूटने लगता है और अभेदका क्रम बढ़ने लगता है। जब पर की ओर लक्ष था तब परके लक्षसे उत्तरोत्तर क्षणमें भेदरूप पर्याय होती थी अर्थात् प्रतिक्षण पर्याय हीन होती जाती थी, और जब परका लक्ष छोड़कर निजमें अभेदके लक्षसे एकाग्र होगया तब निज लक्षसे उत्तरोत्तर क्षणमें पर्याय अभिन्न होने लगी अर्थात् प्रतिक्षण पर्यायकी शुद्धता बढ़ने लगी। जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ कि क्रमशः प्रत्येक पर्यायमें शुद्धताकी वृद्धि होकर केवलज्ञान ही होता है बीच में शिथिलता अथवा विघ्न नही आ सकता। सम्यक्त्व हुआ सो हुआ, अब उत्तरोत्तर क्षणमें द्रव्य पर्यायके बीचके भेदको सर्वथा तोड़कर केवलज्ञानको प्राप्त किए बिना नहीं रुकता।

ज्ञानरूपी अवस्थाके कार्यमें अनन्त-केवलज्ञानियोंका निर्णय समा जाता है, प्रत्येक पर्यायकी ऐसी शक्ति है। जिस ज्ञानकी पर्याय ने अरिहन्त का निर्णय किया उस ज्ञानमें अपना निर्णय करनेकी शक्ति है। पर्यायकी शक्ति चाहे जितनी हो तथापि वह पर्याय क्षणिक है। एकके बाद एक अवस्थाका लक्ष करने पर उसमें भेदका विकल्प उठता है। क्योंकि अवस्था में खंड है इसलिये उसके लक्षसे खंडका विकल्प उठता है। अवस्थाके लक्ष में अटकने वाला वीर्य और ज्ञान दोनों रागवाले हैं। जब पर्यायका लक्ष छोड़कर भेदके रागको तोड़कर अभेद स्वभावकी ओर वीर्यको लगाकर वहाँ ज्ञानकी एकाग्रता करता है तब निष्क्रिय चिन्मात्र भावका अनुभव होता है, यह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

यहाँ चिन्मात्र भावको 'निष्क्रिय' कहनेका कारण क्या है ? जो कि वहाँ परिणति रूप क्रिया तो है परन्तु खण्डरूप-रागरूप क्रियाका अनुभव नहीं है। कर्ता-कर्म और क्रियाका भेद नहीं है तथा कर्ता-कर्म-क्रिया सम्बन्धी विकल्प नहीं है इस अपेक्षासे 'निष्क्रिय' कहा गया है परन्तु अनुभवके समय अभेदरूपसे परिणति तो होती रहती है। पहिले जब पर लक्षसे द्रव्य पर्यायके बीच भेद होते थे तब विकल्परूप क्रिया थी किन्तु निज द्रव्यके लक्षसे एकाग्रता करने पर द्रव्य पर्यायके बीचका भेद टूटकर दोनों अभेद होगए, इस अपेक्षासे चैतन्य भावको निष्क्रिय कहा है। जाननेके अतिरिक्त जिसकी अन्य कोई क्रिया नहीं है ऐसे ज्ञानमात्र निष्क्रिय भावको इस गाथामें कथित उपायके द्वारा ही जीव प्राप्त कर सकता है।

......मोहान्धकार अवश्य नष्ट होता है।

अभेद अनुभवके द्वारा 'चिन्मात्र भावको प्राप्त करता है' यह बात अस्तिकी अपेक्षासे कही है अब चिन्मात्र भावको प्राप्त करने पर 'मोह नाशको प्राप्त होता है' इस प्रकार नास्तिकी अपेक्षासे बात करते हैं। चिन्मात्रभावकी प्राप्ति और मोहका क्षय यह दोनों एक ही समयमें होते हैं।

"इस प्रकार जिसका निर्मल प्रकाश मणि (रत्न) के समान अकम्प रूपसे प्रवर्तमान है ऐसे उस चिन्मात्र भावको प्राप्त जीवका मोहान्धकार निराश्रयताके कारण अवश्य ही नष्ट होजाता है।"

[गाथा ८० की टीका]

यहाँ शुद्ध सम्यक्त्वकी बात है इसलिये मणिका दृष्टांत दिया है। दीपका प्रकाश तो प्रकम्पित होता रहता है, वह एक समान नहीं रहता, किन्तु मणिका प्रकाश अकम्परूपसे सतत प्रवर्तमान रहता है, उसका प्रकाश कभी बुझ नहीं जाता; इसी प्रकार अभेद चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मामें लक्ष करके वहीं एकाकार रूपसे प्रवर्तमान जीवके चैतन्यका अकम्प प्रकाश प्रगट होनेपर मोहान्धकारको रहनेका कोई स्थान नहीं रहता इसलिये वह मोहान्धकार निराश्रय होकर अवश्यमेव नाशको प्राप्त

होता है। जब भेदकी ओर झुक रहा था तब अभेद चैतन्य स्वभावका आश्रय न होनेसे चैतन्य प्रकाश प्रगट नहीं था और अज्ञान आश्रयसे मोहान्धकार बना हुआ था, अब अभेद चैतन्यके आश्रयमें पर्याय ढल गई है और सम्यग्ज्ञानका प्रकाश प्रगट होगया है तब फिर मोह किसके आश्रय से रहेगा? मोहका आश्रय तो अज्ञान था जिसका नाश हो चुका है, और स्वभाव के आश्रयसे मोह रह नहीं सकता इसलिये वह अवश्य क्षयको प्राप्त हो जाता है। जब पर्यायका लक्ष परमें था तब उस पर्याय में भेद था और उस भेद का मोह को आश्रय था किन्तु जब वह पर्याय निज लक्षकी ओर गई तब वह अभिन्न होगई और अभेद होने पर मोहको कोई आश्रय न रहा इसलिये वह निराश्रित मोह अवश्य क्षयको प्राप्त होता है।

श्रद्धा रूपी सामायिक और प्रतिक्रमण

यहाँ सम्यग्दर्शनको प्रगट करनेका उपाय बताया जारहा है। सम्यग्दर्शनके होने पर ऐसी प्रतीति होती है कि पुण्य और पाप दोनों पर लक्षसे-भेदके आश्रयसे है, अभेदके आश्रयसे पुण्य-पाप नहीं हैं इसलिये पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, दोनों विकार है, यह जानकर पुण्य और पाप-दोनोंमें समभाव होजाता है, यही श्रद्धारूपी सामायिक है। पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है यह मानकर जो पुण्यको आदरणीय मानता है उसके भावमें पुण्य-पापके बीच विषम भाव है, उसके सच्ची श्रद्धारूपी सामायिक नहीं है। सच्ची श्रद्धाके होने पर मिथ्यात्व भावसे हट जाना ही सर्व प्रथम प्रतिक्रमण है। सबसे बड़ा दोष मिथ्यात्व है और सबसे पहिले उस महा दोषसे ही प्रतिक्रमण होता है। मिथ्यात्वसे प्रतिक्रमण किये बिना किसी जीवके यथार्थ प्रतिक्रमण आदि कुछ नहीं होता।

सम्यग्दर्शन और व्रत-महाव्रत

जब तक अरिहन्तके द्रव्य, गुण, पर्यायका लक्ष था तब तक भेद था, जब द्रव्य, गुण, पर्यायके भेदको छोड़कर अभेद स्वभावकी ओर झुका और वहाँ एकाग्रता की तब स्वभावको अन्यथा माननेरूप मोह नहीं रहता

और इसलिये मोह निराश्रय होकर नष्ट होजाता है और इसप्रकार अरिहन्तको जानने वाले जीवके सम्यग्दर्शन होजाता है।

वस्तुका स्वरूप जैसा हो वैसा माने तो वस्तु स्वरूप और मान्यता-दोनोंके एक होने पर सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान होता है। वस्तुका सच्चा स्वरूप क्या है यह जाननेके लिये अरिहन्तको जाननेकी आवश्यकता है, क्योंकि अरिहन्त भगवान द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूपसे सम्पूर्ण शुद्ध हैं। जैसे अरिहन्त हैं वैसा ही जब तक यह आत्मा न हो तब तक उसकी पर्यायमें दोष है—अशुद्धता है।

अरिहन्त जैसी अवस्था तब होती है जब पहले अरिहन्त परसे अपने आत्माका शुद्ध स्वरूप निश्चित करे। उस शुद्ध स्वरूपमें एकाग्रता करके, भेदको तोड़कर, अभेद स्वरूपका आश्रय करके पराश्रय बुद्धिका नाश होता है, मोह दूर होता है और क्षायक सम्यक्त्व प्रगट होता है। क्षायक सम्यक्त्वके प्रगट होने पर आंशिक अरिहन्त जैसी दशा प्रगट होती है। और अरिहन्त होनेके लिये प्रारंभिक उपाय सम्यग्दर्शन ही है। अभेद स्वभावकी प्रतीतिके द्वारा सम्यग्दर्शन होनेके बाद जैसे २ उस स्वभावमें एकाग्रता बढ़ती जाती है वैसे २ राग दूर हो जाता है, और ज्यों ज्यों राग कम होता जाता है त्यों त्यों व्रत-महाव्रतादिका पालन होता रहता है; किन्तु अभेद स्वभावकी प्रतीतिके बिना कभी भी व्रत या महाव्रतादि नहीं होते। अपने आत्माका आश्रय लिये बिना आत्माके आश्रयसे प्रगट होनेवाली निर्मल दशा (श्रावक दशा-मुनि दशा आदि) नहीं हो सकती। और निर्मल दशाके प्रगट हुये बिना धर्मका एक भी अंग प्रगट नहीं हो सकता। अरिहन्तकी पहिचान होने पर अपनी पहिचान होजाती है, और अपनी पहिचान होने पर मोहका क्षय होजाता है। तात्पर्य यह है कि अरिहन्त की सच्ची पहिचान मोह क्षयका उपाय है।

स्वभावकी निःशंकता

अब आचार्यदेव अपनी निःशकताकी साक्षीपूर्वक कहते हैं कि—

"यदि ऐसा है तो मैंने मोहकी सेनाको जीतनेका उपाय प्राप्त कर लिया है।" यहाँ मात्र अरिहन्तको जाननेकी बात नहीं है किन्तु अपने स्वभावको एकमेक करके यह ज्ञान करनेकी बात है कि मेरा स्वरूप अरिहन्तके समान ही है। यदि अपने स्वभावकी निःशंकता प्राप्त न हो तो अरिहन्तके स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं होता। आचार्यदेव अपने स्वभावकी निःशंकतासे कहते हैं कि भले ही इस कालमें क्षायक सम्यक्त्व और साक्षात् भगवान अरिहन्तका योग नहीं है तथापि मैंने मोहकी सेनाको जीतनेका उपाय प्राप्त कर लिया है। "पंचम कालमें मोहका सर्वथा क्षय नहीं हो सकता" ऐसी बात आचार्यदेवने नहीं की, किन्तु मैंने तो मोहक्षयका उपाय प्राप्त कर लिया है—ऐसा कहा है। भविष्यमें मोहक्षयका उपाय प्रगट होगा ऐसा नहीं किन्तु अब ही-वर्तमानमें ही मोहक्षयका उपाय मैंने प्राप्त कर लिया है।

अहो! सम्पूर्ण स्वरूपी आत्माका साक्षात् अनुभव है तो फिर क्या नहीं है। आत्माका स्वभाव ही मोहका नाशक है, और मुझे आत्म स्वभावकी प्राप्ति हो चुकी है। इसलिये मेरे मोहका क्षय होनेमें कोई शंका नहीं है। आत्मामें सब कुछ है, उसीके बलसे दर्शनमोह और चारित्र मोह का सर्वथा क्षय करके, केवलज्ञान प्रगट करके साक्षात् अरिहन्त दशा प्रगट करूंगा। जब तक ऐसी सम्पूर्ण स्वभावकी निःशंकताका बल प्राप्त नहीं होता तब तक मोह दूर नहीं होता।

सच्ची दया और हिंसा

मोहका नाश करनेके लिये न तो पर जीवोंकी दया पालन करने कहा है और न पूजा, भक्ति करनेका ही आदेश दिया है किन्तु यह कहा है कि अरिहन्तका और अपने आत्माका निर्णय करना ही मोह क्षयका उपाय है। पहले आत्माकी प्रतीति न होनेसे अपनी अनन्त हिंसा करता था, और अब यथार्थ प्रतीति करनेसे अपनी सच्ची दया प्रगट होगई है और स्व हिंसाका महा पाप दूर हो गया है।

उपसंहार

—पुरुषार्थ की प्रतीति—

पहले हारके दृष्टान्तसे द्रव्य, गुण, पर्यायका स्वरूप बताया है। जैसे हारमें मोती एकके बाद दूसरा क्रमशः होता है, उसी प्रकार द्रव्यमें एकके बाद दूसरी पर्याय होती है। जहाँ सर्वज्ञका निर्णय किया है कि वहाँ त्रिकालकी क्रमबद्ध पर्यायका निर्णय हो जाता है। केवलज्ञानगम्य त्रिकाल अवस्थायें एक के बाद दूसरी होती ही रहती है। वास्तवमें तो मेरे स्वभावमें जो क्रमबद्ध अवस्था है उसीको केवलज्ञानीने जाना है। (इस अभिप्रायके बलका झुकाव स्वभावकी ओर है), ऐसा जिसने निर्णय किया है उसीने अपने स्वभावकी प्रतीति की है। जिसे स्वभावकी प्रतीति होती है उसे अपनी पर्यायकी शंका नहीं होती। क्योंकि वह जानता है कि अवस्था तो मेरे स्वभावमें से क्रमबद्ध आती है, कोई पर द्रव्य मेरी अवस्थाको बिगाड़ने में समर्थ नही है। ज्ञानीको ऐसी शंका कदापि नहीं होती कि "बहुतसे कर्मोंका तीव्र उदय आया तो मैं गिर जाऊंगा।" जहाँ पीछे गिरनेकी शंका है वहाँ स्वभावकी प्रतीति नहीं है, और जहाँ स्वभावकी प्रतीति है वहाँ पीछे गिरनेकी शंका नहीं होती। जिसने अरिहन्त जैसे ही अपने स्वभावका विश्वास करके क्रमबद्ध पर्याय और केवलज्ञानको स्वभावमें अन्तर्गत किया है उसे क्रमबद्ध पर्यायमें केवलज्ञान होता है।

जो दशा अरिहन्त भगवानके प्रगट हुई है वैसी ही दशा मेरे स्वभावमें है। अरिहन्तके जो दशा प्रगट हुई है वह उनके अपने स्वभावमें से ही प्रगट हुई है। मेरा स्वभाव भी अरिहन्त जैसा है। उसीमें से मेरी शुद्ध दशा प्रगट होगी। जिसे अपनी अरिहन्त दशाकी ऐसी प्रतीति नहीं होती उसे अपने सम्पूर्ण द्रव्यकी ही प्रतीति नहीं होती। यदि द्रव्यकी प्रतीति हो तो द्रव्यकी क्रमबद्धदशा विकसित होकर जो अरिहन्त दशा प्रगट होती है उसकी प्रतीति होती है।

मेरे द्रव्यमें से अरिहन्त दशा आने वाली है, उसमें परका कोई विघ्न नहीं है। कर्मका तीव्र उदय आकर मेरे द्रव्यकी शुद्ध दशाको रोकने के लिये समर्थ नहीं है। क्योंकि मेरे स्वभावमें कर्मकी नास्ति ही है। जिसे ऐसी शंका है कि 'आगे जाकर यदि तीव्र कर्मका उदय आया तो गिर जाऊंगा' उसने अरिहन्तका स्वीकार नहीं किया है। अरिहन्त अपने पुरुषार्थ के बलसे कर्मका क्षय करके पूर्ण दशाको प्राप्त हुये हैं। उसीप्रकार मैं भी अपने पुरुषार्थके बलसे ही कर्मका क्षय करके पूर्णदशाको प्राप्त होऊंगा बीचमें कोई विघ्न नहीं है।

जो अरिहंतकी प्रतीति करता है वह अवश्य अरिहंत होता है।

[गाथा ८० की टीका समाप्त]

(१६) भेदविज्ञानीका उल्लास

जो चैतन्यका लक्षण नहीं है—ऐसी समस्त बंधभावकी वृत्तियाँ मुझसे भिन्न हैं—इसप्रकार बन्ध भावसे भिन्न स्वभावका निर्णय करने पर चैतन्यको उस बन्धभावकी वृत्तिओंका आधार नहीं रहता; अकेले आत्मा का ही आधार रहता है। ऐसे स्वाश्रयपनेकी स्वीकृतिमें चैतन्यका अनन्त वीर्य आया है। अपनी प्रज्ञाशक्तिके द्वारा जिसने बन्ध रहित स्वभावका निर्णय किया उसे स्वभावकी रुचि उत्साह और प्रमोद आता है कि अहो! यह चैतन्य स्वभाव स्वयं भव रहित है, मैंने उसका आश्रय किया इससे अब मेरे भवका अन्त निकट आगया है और मुक्ति दशाकी नौबत बज रही है। अपने निर्णयसे जो चैतन्य स्वभावमें निःशंकता करे उसे चैतन्य प्रदेशोंमें उल्लास होता है, और अल्पकालमें मुक्त दशा होती ही है।

(श्री समयसार—मोक्ष अधिकारके व्याख्यानमें से)

(१७) अरे भव्य! तू तत्त्वका कौतूहली होकर आत्माका अनुभव कर!

अयि कथमपि मृत्वा तत्वकौतूहली सन्,
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन,
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

(समयसार कलश—२३)

श्री आचार्यदेव कोमल सम्बोधनसे कहते हैं कि हे भाई। तू किसी भी प्रकार महाकष्टसे अथवा मरकरभी तत्त्वका कौतूहली होकर इन शरीरादि मूर्त द्रव्योंका एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर आत्माका अनुभव कर, कि जिससे अपने आत्माको विलास रूप सर्व पर द्रव्योंसे पृथक् देखकर इन शरीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्योंके साथ एकत्वके मोहको तू तुरंत ही छोड़ देगा।

मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वका नाश कैसे हो? तथा अनादि कालीन विपरीत मान्यता और पाप कैसे दूर हों? उसका उपाय बतलाते हैं।

आचार्यदेव तीव्र संबोधन करके नहीं कहते हैं, किन्तु कोमल संबोधन करके कहते हैं कि हे भाई। यह तुझे शोभा देता है? कोमल संबोधन करके जागृत करते हैं कि तू किसी भी प्रकार महाकष्टसे अथवा मरकर भी—मरण जितने कष्ट आयें तो भी, वह सब सहन करके तत्त्वका कौतूहली हो।

जिसप्रकार कुयेंमें कुश मारकर ताग लाते हैं उसीप्रकार ज्ञानसे भरे हुए चैतन्य कुएँमें पुरुषार्थ रूपी गहरा कुश मारकर ताग लाओ, विस्मयता लाओ, दुनियां की दरकार छोड़। दुनियां एकवार तुझे पागल कहेगी, भूत भी कहेगी। दुनियांकी अनेक प्रकारकी प्रतिकूलता आये तथापि उसे सहन करके, उसकी उपेक्षा करके चैतन्य भगवान कैसा है उसे देखनेका एकबार

कौतूहल तो कर ! यदि दुनियांकी अनुकूलता या प्रतिकूलतामे रुकेगा तो अपने चैतन्य भगवानको तू नहीं देख सकेगा; इसलिए दुनियांका लक्ष छोड़कर और उससे पृथक् होकर एकबार महान् कष्टसे भी तत्त्वका कौतूहली हो।

जिस प्रकार सूत और नेतरका मेल नहीं बैठता, उसीप्रकार जिसे आत्माकी पहिचान करना हो उसका और जगतका मेल नहीं बैठता। सम्यक्दृष्टिरूप सूत और मिथ्यादृष्टिरूप नेतरका मेल नहीं खाता। आचार्यदेव कहते हैं कि बन्धु ! तूँ चौरासीके कुएँमें पड़ा है, उसमें से पार होनेके लिये चाहे जितने परीषह या उपसर्ग आयें, मरण जितने कष्ट आयें, तथापि उनकी दरकार छोड़कर पुण्य-पापरूप विकार भावोंका दो घड़ी पड़ौसी हो-तो तुझे चैतन्य दल पृथक् मालूम होगा। 'शरीरादि तथा शुभाशुभ भाव-यह सब मुझसे भिन्न हैं और मैं इनसे पृथक् हूँ, पड़ौसी हूँ'—इसप्रकार एकबार पड़ौसी होकर आत्माका अनुभव कर।

सच्ची समझ करके निकटस्थ पदार्थोंसे मैं पृथक्, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, शरीर, वाणी, मन वे सब बाह्य नाटक हैं, उन्हें नाटक स्वरूपसे देख। तू उनका साक्षी है। स्वाभाविक अंतरज्योतिसे ज्ञानभूमिकाकी सत्तामें यह सब जो ज्ञात होता है वह मैं नहीं हूँ, परन्तु उसका ज्ञाता जितना हूँ—ऐसा उसे जान तो सही ! और उसे जानकर उसमें लीन तो हो ! आत्मामें श्रद्धा, ज्ञान और लीनता प्रगट होते हैं उनका आश्चर्य लाकर एकबार पड़ौसी हो।

जैसे—मुसलमान और वणिकका घर पास पास हो तो वणिक उसका पड़ौसी होकर रहता है, लेकिन वह मुसलमानके घरको अपना नहीं मानता; उसी प्रकार हे भव्य ! तू भी चैतन्य स्वभावमें स्थिर होकर परपदार्थोंका दो घड़ी पड़ौसी हो; परसे भिन्न आत्माका अनुभव कर !

शरीर, मन, वाणीकी क्रिया तथा पुण्य-पापके परिणाम वे सब पर हैं। विपरीत पुरुषार्थ द्वारा परका स्वामित्व माना है, विकारी भावोंकी ओर तेरा बाह्य का लक्ष है; वह सब छोड़कर स्वभावमें श्रद्धा, ज्ञान और

लीनता करके एक अंतर्मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी पृथक् होकर चैतन्यमूर्ति आत्माको पृथक् देख। चैतन्यकी विलासरूप मौजको किंचित् पृथक् होकर देख। उस मौजको अंतरमें देखनेसे शरीरादिके मोहको तू तुरन्त ही छोड़ सकेगा। 'झगिति' अर्थात् तुरन्त छोड़ सकेगा। यह बात सरल है, क्योंकि तेरे स्वभाव की है। केवलज्ञान लक्ष्मीको स्वरूपसत्ता भूमिमें स्थित होकर देख! तो परके साथके मोहको तुरन्त छोड़ सकेगा।

तीन काल तीनलोककी प्रतिकूलताके समूह एक साथ आकर सम्मुख खड़े रहें, तथापि मात्र ज्ञाता रूपसे रहकर वह सब सहन करने की शक्ति आत्माके ज्ञायक स्वभावकी एक समयकी पर्यायमें विद्यमान है। शरीरादिसे भिन्नरूप आत्माको जाना है उसे इस परीषहोंके समूह किंचित् मात्र असर नहीं कर सकते अर्थात् चैतन्य अपने व्यापारसे किंचित् मात्र नहीं डिगता।

जिस प्रकार, किसी जीवित राजकुमारको—जिसका शरीर अति कोमल हो— जमशेदपुर-टाटानगरकी अग्निकी भट्टीमें झोंक दिया जाये तो उसे जो दुःख होगा उससे अनंत गुना दुःख पहले नरक में है, और पहले की अपेक्षा दूसरे, तीसरे आदि सात नरकोंमें एक-एकसे अनंत गुना दुःख है; ऐसे अनंत दुःखोंकी प्रतिकूलताकी वेदनामें पड़े हुए, घोर पाप करके वहां गये हुए, तीव्र वेदनाके गंजमें पड़े होनेपर भी किसी समय कोई जीव ऐसा विचार कर सकते हैं कि अरे रे! ऐसी वेदना! ऐसी पीड़ा! ऐसे विचार को बदलकर स्वसन्मुख वेग होने पर सम्यग्दर्शन हो जाता है। वहाँ सत्समागम नहीं है, परन्तु पूर्वमें एकबार सत्समागम किया था, सत् का श्रवण किया था और वर्तमान सम्यक् विचार के बलसे सातवें नरककी महा तीव्र पीड़ामें पड़ा होनेपर भी पीड़ा का लक्ष चूककर सम्यक्दर्शन होता है, आत्माका सच्चा वेदन होता है। सातवें नरक

में पड़े हुए सम्यग्दर्शन प्राप्त जीवको वह नरककी पीड़ा असर नहीं कर सकती; क्योंकि उसे भान है कि—मेरे ज्ञान स्वरूप चैतन्यको कोई पर पदार्थ असर नहीं कर सकता। ऐसी अनन्ती वेदनामें पड़े हुए भी आत्मानुभवको प्राप्त हुए हैं, तब फिर सातवें नरक जितना कष्ट तो यहाँ नहीं है न ? मनुष्यत्व पाकर रोना क्या रोता रहता है ? अब सत्समागमसे आत्माकी पहिचान करके आत्मानुभव कर ! आत्मानुभवका ऐसा माहात्म्य है कि—परिषह आनेपर भी न डिगे और दो घड़ी स्वरूप में लीन हो तो पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करे ! जीवन्मुक्त दशा हो—मोक्ष दशा हो ! तब फिर मिथ्यात्वका नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना तो सुगम है।

[श्री समयसार प्रवचन भाग ३]

सम्यक्त्व की प्रधानता

"जे सम्यक्त्वप्रधान बुध, तेज त्रिलोक प्रधान;
पामे केवलज्ञान झट, शाश्वत सौख्य निधान।"

(योगसार-९०)

जिसे सम्यक्त्व की प्रधानता है वह ज्ञानी है, और वही तीन लोकमें प्रधान है, जिसे सम्यक्त्व की प्रधानता है वह जीव शाश्वत सुखके निधान—ऐसे केवलज्ञानको भी जल्दी प्राप्त कर लेता है।

(१८) सबमें बड़ेमें बड़ा पाप, सबमें बड़ेमें बड़ा पुण्य और सबमें पहलेमें पहला धर्म ।

प्रश्न—जगतमें सबसे बड़ा पाप कौनसा है ?

उत्तर—मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है ।

प्रश्न—सबसे बड़ा पुण्य कौनसा है ?

उत्तर—तीर्थंकर नामकर्म सबसे बड़ा पुण्य है । यह पुण्य सम्यग्दर्शनके बादकी भूमिकामें शुभरागके द्वारा बँधता है । मिथ्यादृष्टिको यह पुण्य लाभ नहीं होता ।

प्रश्न—सर्वप्रथम धर्म कौनसा है ?

उत्तर—सम्यग्दर्शन ही सर्व प्रथम धर्म है । सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान चारित्र तप इत्यादि कोई भी धर्म सच्चा नहीं होता । यह सब धर्म सम्यग्दर्शन होनेके बाद ही होते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन ही सर्वधर्मका मूल है ।

प्रश्न—मिथ्यात्व को सबसे बड़ा पाप क्यों कहा है ?

उत्तर—मिथ्यात्वका अर्थ है विपरीत मान्यता; अयथार्थ समझ । जो यह मानता है कि जीव परका कुछ कर सकता है और पुण्यसे धर्म होता है उसकी उस विपरीत मान्यतामें प्रतिक्षण अनंत पाप आते हैं । वह कैसे ? सो कहते हैं:—

जो यह मानता है कि 'पुण्यसे धर्म होता है और जीव दूसरेका कुछ कर सकता है' वह यह मानता कि 'पुण्यसे धर्म नहीं होता और जीव परका कुछ नहीं कर सकता—ऐसे कहने वाले झूठे हैं' और इसलिये 'पुण्य से धर्म नहीं होता और जीव परका कुछ नहीं कर सकता' ऐसा कहने वाले

त्रिकालके अनन्त तीर्थंकर केवली भगवान, संत-मुनि और सम्यग्ज्ञानी जीवोंको-इन सबको उसने एक क्षणभरमें झूठा माना है। इसप्रकार मिथ्यात्वके एक समयके विपरीत वीर्यमें अनन्त सत्‌के निषेधका महापाप है।

और फिर मिथ्यादृष्टि जीवके अभिप्रायमें यह भी होता है कि— जैसे मैं (जीव) परका कर्ता हूँ और पुण्य पापका कर्ता हूँ उसीप्रकार जगतके सभी जीव सदाकाल पर वस्तुके और पुण्य पापरूप विकारके कर्ता हैं। इसप्रकार विपरीत मान्यतासे उसने जगतके सभी जीवोंको परका कर्ता और विकारका स्वामी बना डाला; अर्थात् उसने अपनी विपरीत मान्यता के द्वारा सभी जीवोंके शुद्ध अविकार स्वरूप की हत्या कर डाली। यह महा विपरीत दृष्टिका सबसे बड़ा पाप है। त्रैकालिक सत्‌का एक क्षण भरके लिये भी अनादर होना सो ही बहुत बड़ा पाप है।

मिथ्यात्वी जीव मानता है कि एक जीव दूसरे जीवका कुछ कर सकता है अर्थात् दूसरे जीव मेरा कार्य कर सकते है और मैं दूसरे जीवों का कार्य कर सकता हूँ। इस मान्यताका अर्थ यह हुआ कि जगत्‌के सभी जीव परमुखापेक्षी है और पराधीन हैं। इसप्रकार उसने अपनी विपरीत मान्यतासे जगत्‌के सभी जीवोंके स्वाधीन स्वभावकी हिंसा की है, इसलिये मिथ्या मान्यता ही महान् हिंसक भाव है और यही सबसे बड़ा पाप है।

श्री परमात्म प्रकाशमें कहा है कि—सम्यक्त्व सहित नरकवास भी अच्छा है और मिथ्यात्व सहित स्वर्गवास भी बुरा है। इससे निश्चय हुआ है कि जिस भावसे नरक मिलता है उस अशुभ भावसे भी मिथ्यात्वका पाप बहुत बड़ा है, यह समझकर जीवोंको सर्व प्रथम यथार्थ समझ के द्वारा मिथ्यात्वके महापाप को दूर करनेका उपाय करना चाहिये। इस जगतमें जीवको मिथ्यात्व समान अहित कर्ता दूसरा कोई नहीं है और सम्यक्त्व समान उपकार करनेवाला दूसरा कोई नही है।

(१६) प्रभु, तेरी प्रभुता !

हे जीव ! हे प्रभु ! तू कौन है ? इसका कभी विचार किया है ? तेरा स्थान कौनसा है और तेरा कार्य क्या है, इसकी भी खबर है ? प्रभु, विचार तो कर तू कहाँ है और यह सब क्या है, तुझे शांति क्यों नहीं है ?

प्रभु ! तू सिद्ध है, स्वतन्त्र है, परिपूर्ण है, वीतराग है, किन्तु तुझे अपने स्वरूपकी खबर नहीं है इसीलिये तुझे शांति नहीं है। भाई, वास्तवमें तू घर भूला है, मार्ग भूल गया है। दूसरेके घरको तू अपना निवास मान बैठा है किन्तु ऐसे अशांतिका अन्त नहीं होगा।

भगवान ! शांति तो तेरे अपने घरमें ही भरी हुई है। भाई ! एक बार सब ओरसे अपना लक्ष हटाकर निज घरमें तो देख। तू प्रभु है, तू सिद्ध है। प्रभु, तू अपने निज घरमें देख, परमें मत देख। परमें लक्ष्य कर करके तो तू अनादिकालसे भ्रमण कर रहा है। अब तू अपने अंतर-स्वरूप की ओर तो दृष्टि डाल। एकबार तो भीतर देख। भीतर परम आनन्दका अनन्त भण्डार भरा हुआ है उसे तनिक सम्हाल तो देख। एकबार भीतर को झांक, तुझे अपने स्वभावका कोई अपूर्व, परम, सहज, सुख अनुभव होगा।

अनन्त ज्ञानियोंने कहा है कि तू प्रभु है, प्रभु ! तू अपने प्रभुत्वकी एकबार हां तो कह।

—श्री कानजी स्वामी

सम्यक्त्व सिद्धि-सुखका दाता है !

प्रज्ञा, मैत्री, समता, करुणा तथा क्षमा—इन सबका सेवन यदि सम्यक्त्व सहित किया जाये तो वह सिद्धिसुखको देने वाला है। [सार समुच्चय]

(२०) परम सत्यका हकार और उसका फल

परम सत्य सुनने पर भी समझमें क्यों नहीं आता ? 'मैं लायक नहीं हूँ, मैं इसे नहीं समझ सकता' ऐसी दृष्टि ही उसे समझनेमें अयोग्य रखती है। सत्‌के एक शब्दका भी यदि अंतरसे सर्व प्रथम 'हकार' आया तो वह भविष्यमें मुक्तिका कारण हो जाता है। एकको सत्‌के सुनते ही भीतरसे बड़े ही वेगके साथ हकार आता है और दूसरा 'मैं लायक नहीं हूँ-यह मेरे लिये नहीं है' इसप्रकार की मान्यताका व्यवधान करके सुनता है, वही व्यवधान उसे समझने नहीं देता। दुनियाँ विपरीत बातें तो अनादि कालसे कर ही रही है, आज इसमें नवीनता नहीं है। अंतर्वस्तुके भानके बिना बाहरसे त्यागी होकर अनन्तबार सुख गया किन्तु अंतरसे सत्‌का हकार न होनेसे धर्मको नहीं समझ पाया।

जब ज्ञानी कहते हैं कि 'सभी जीव सिद्ध समान है और तू भी सिद्ध समान है, भूल वर्तमान एक समय मात्र की है, इसे तू समझ सकेगा; इसलिये कहते हैं,' तब यह जीव 'मैं इस लायक नहीं हूँ, मैं इसे नहीं समझ सकूंगा' इस प्रकार ज्ञानियोंके द्वारा कहे गये सत्‌का इनकार करके सुनता है। इसलिये उनकी समझमें नही आता।

भूल स्वभावमें नहीं है, केवल एक समय मात्रके लिये पर्यायमें है वह भूल दूसरे समयमें नहीं रहती। हाँ, यदि वह स्वयं दूसरे समय में नई भूल करे तो बात दूसरी है (पहले समयकी भूल दूसरे समयमें नष्ट हो जाती है)। शरीर अनन्त परमाणुओंका समूह है और आत्मा चैतन्य मूर्ति है। भला, इसे शरीरके साथ क्या लेना देना ? जैन धर्मका यह त्रिकालाबाधित कथन है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायको उत्पन्न नहीं कर सकता, इसे न मानकर मेरेसे परकी अवस्था हुई अथवा हो सकती है' यों मानता है, यही अज्ञान है। जहाँ जैनकी कथनी को भी नहीं मानता वहाँ जैनधर्म को कहाँसे समझेगा ? यह आत्मा यदि परका कुछ कर सकता होता तभी तो परका कुछ न करनेका अथवा परके त्याग करनेका प्रश्न आता।

विकार परमें नहीं किन्तु अपनी एक समयकी पर्याय में है। यदि दूसरे समयमें नया विकार करे तो वह होता है। 'रागका त्याग करूं' ऐसी मान्यता भी नास्तिसे है, अस्तिस्वरूप शुद्धात्मा के भानके विना रागकी नास्ति कौन करेगा ? आत्मा में कोई परका प्रवेश है ही नहीं तो फिर त्याग किसका ? पर वस्तुका त्यागका कर्तृत्व व्यर्थ ही विपरीत मान रखा है, उसी मान्यता का त्याग करना है।

प्रश्न —यदि सत्य समझमें आजाय तो वाह्य वर्तनमें कोई फर्क न दिखाई दे अथवा लोगों के ऊपर उसके ज्ञानकी छाप न पड़े ?

उत्तरः—एक द्रव्य की छाप दूसरे द्रव्य पर कभी तीन लोक और तीन कालमें पड़ती ही नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। यदि एक की छाप दूसरे पर पड़ती होती तो त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान की छाप अभव्य जीव पर क्यों नहीं पड़ती ? जब जीव स्वय अपने द्वारा ज्ञान करके अपनी पहिचान की छाप अपने ऊपर डालता है तब निमित्तमे मात्र आरोप किया जाता है। वाहर से ज्ञानी पहिचाना नहीं जा सकता। क्योंकि यह हो सकता है कि ज्ञानी होनेपर भी वाह्य में हजारों क्रियां हों और अज्ञानी के वाह्य में कुछ भी न हो। ज्ञानी को पहिचानने के लिये यदि तत्त्वदृष्टि हो तो ही वह पहिचाना जा सकता है। ज्ञानके उत्पन्न हो जाने पर वाह्य में कोई फर्क दिखाई दे या न दे किन्तु अन्तर्दृष्टि में फर्क पड़ ही जाता है।

सत् के सुनते ही एक कहता है कि अभी ही सत् वताइये, यों कहनेवाला सत्का हकार करके सुनता है, वह समझनेके योग्य है और दूसरा कहता है कि 'अभी यह नहीं, अभी यह मेरी समझ में नहीं आ सकता' यों कहने वाला सत के नकारसे सुनता है, इसलिये वह समझ नहीं सकता।

श्री समयसार जी की पहली गाथामें यों स्थापित किया गया है कि मैं और तू दोनों सिद्ध हैं, इसके सुनते ही सबसे पहली आवाज में यदि

हाँ आगई तो वह योग्य है-उसकी अल्पकालमें मुक्ति हो जायगी और यदि उसके बीचमें कोई नकार आगया तो वह समझनेमें अर्गला समान है।

प्रश्न —यदि अच्छा सत्समागम हो तो उसका असर होता है या नहीं।

उत्तर:—बिल्कुल नहीं, किसी का असर परके ऊपर हो ही नहीं सकता। सत्समागम भी पर है। परकी छाप तीन काल और तीन लोकमें अपने ऊपर नहीं पड़ सकती।

अहो! यह परम सत्य दुर्लभ है। सच्ची समझके लिये सर्व प्रथम सत् का हकार आना चाहिये।

मुख्यगति दो है-एक निगोद और दूसरी सिद्ध। यदि सत्का इनकार कर दिया गया तो कदाचित् एकाध अन्य भव लेकर भी बादमें निगोद में ही जाता है। सत्के विरोध का फल निगोद ही है। और यदि एकबार भी अन्तरसे सत्का हकार आगया तो उसकी मुक्ति निश्चित है। हकार का फल सिद्ध और नकार का फल निगोद है।

यह जो कहा गया है सो त्रिकाल परम सत्य है। तीन काल और तीन लोकमें यदि सत् चाहिये हो तो जगत को यह मानना ही पड़ेगा। सत्में परिवर्तन नहीं होता, सत् को समझने के लिये तुझे ही बदलना होगा। सिद्ध होने के लिये सिद्ध स्वरूप का हकार होना चाहिये।

"धर्मका मूल सम्यग्दर्शन है।"

दंसण मूलो धम्मो

(२१) निःशंकता

जिसका वीर्य भवके अंतकी निःसंदेह श्रद्धामें प्रवर्तित नहीं होता और अभी भी भवकी शंकामें प्रवर्तमान है उसके वीर्यमें अनन्तों भव करने की सामर्थ्य मौजूद है।

भगवानने कहा है कि—'तेरे स्वभावमें भव नहीं है' यदि तुझे भवकी शंका हो गई तो तूने भगवानकी वाणीको अथवा अपने भव रहित स्वभावोंको माना ही नहीं है। जिसका वीर्य अभी भव रहित स्वभावकी निःसंदेह श्रद्धामें प्रवर्तित नहीं हो सकता जिसके अभी यह शंका मौजूद है कि मैं भव्य हूँ या अभव्य हूँ उसका वीर्य वीतरागकी वाणीको कैसे निर्णय कर सकेगा और वीतरागकी वाणीके निर्णयके बिना उसे अपने स्वभावकी पहचान कैसे होगी। इसलिये पहले भव रहित स्वभावकी निःशकता को लाओ।

भवपार होनेका उपाय

शेष अचेतन सर्व छे, जीव सचेतन सार;
जाणी जेने मुनिवरो, शीघ्र लहे भवपार ॥३६॥
जो शुद्धातम अनुभवो, तजी सकल व्यवहार;
जिनप्रभु अेमज भणे, शीघ्र थशो भवपार ॥३७॥

[योगसार]

जीवके अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं वे सब अचेतन हैं, चेतन तो मात्र जीव ही है और वही सारभूत है, उसे जानकर परम मुनिवरो शीघ्र ही भवपारको प्राप्त होते हैं।

श्री जिनेन्द्रदेव कहते हैं कि हे जीव! सर्व व्यवहारको छोड़कर यदि तू निर्मल आत्माको जानेगा तो शीघ्र ही भवपार हो जायेगा।

(२२) बिना धर्मात्मा धर्म नहीं रहता

—न धर्मो धार्मिकैर्विना—

धर्मात्माओंके बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्मरुचि होती है उसे धर्मात्माके प्रति रुचि होती है। जिसे धर्मात्माओंके प्रति रुचि नहीं होती उसे धर्मरुचि नहीं होती। जिसे धर्मात्माके प्रति रुचि और प्रेम नहीं है उसे धर्मरुचि और प्रेम नहीं है। और जिसे धर्मरुचि नहीं है उसे धर्मी (आपका) आत्माके प्रति ही रुचि नहीं है। धर्मीके प्रति रुचि न हो और धर्मके प्रति रुचि हो, यह हो ही नहीं सकता। क्योंकि धर्म तो स्वभाव है, वह धर्मीके बिना नहीं होता। जिसे धर्मके प्रति रुचि होती है उसे किसी धर्मात्मा पर अरुचि, अप्रेम या क्रोध नहीं हो सकता। जिसे धर्मात्मा प्यारा नहीं उसे धर्म भी प्यारा नहीं हो सकता। और जिसे धर्म प्यारा नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है। जो धर्मात्माका तिरस्कार करता है वह धर्मका ही तिरस्कार करता है। क्योंकि धर्म और धर्मी पृथक् नहीं है।

स्वामी समन्तभद्राचार्यने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके २६ वें श्लोकमें कहा है कि:—"न धर्मो धार्मिकैर्विना।" इसमें दुतरफा बात कही गई है, एक तो यह कि–जिसे अपने निर्मल शुद्ध स्वरूपकी अरुचि है वह मिथ्यादृष्टि है और दूसरा यह कि–जिसे धर्मस्थानों या धर्मी जीवोंके प्रति अरुचि है वह मिथ्यादृष्टि है।

यदि इसी बातको दूसरे रूपमें विचार करें तो यों कहा जा सकता है कि जिसे धर्म रुचि है उसे आत्मरुचि है, और वह अन्यत्र जहाँ जहाँ दूसरेमें धर्म देखता है वहाँ वहाँ उसे प्रमोद उत्पन्न होता है। जिसे धर्म रुचि होगई उसे धर्म स्वभावी आत्माकी और धर्मात्माओंकी रुचि होती ही है। जिसे अतरंगमें धर्मी जीवोंके प्रति किंचित् मात्र भी अरुचि हुई उसे धर्मकी भी अरुचि होगी ही। उसे आत्मरुचि नहीं हो सकती।

जिसे आत्माका धर्म रुच गया उसे, जहाँ जहाँ वह धर्म देखता है वहाँ वहाँ प्रमोद और आदरभाव उत्पन्न हुये बिना नहीं रहता। धर्मस्वरूप

का भान होनेके बाद भी वह स्वयं वीतराग नहीं होता इसलिये स्वयं स्वधर्म की पूर्णताकी भावनाका विकल्प उठता है; और विकल्प पर निमित्तकी अपेक्षा रखता है, इसलिये अपने धर्मकी प्रभावनाका विकल्प उठने पर वह जहाँ जहाँ धर्मी जीवोंको देखता है वहाँ वहाँ उसे रुचि, प्रमोद और उत्साह उत्पन्न होता है। वास्तवमें तो उसे अपने अन्तरंग धर्मकी पूर्णताकी रुचि है। धर्मनायक देवाधिदेव तीर्थंकर और मुनिधर्मात्मा, सद्गुरु, सत्शास्त्र, सम्यग्दृष्टी एवं सम्यग्ज्ञानी, यह सब धर्मात्मा धर्मके स्थान है। उनके प्रति धर्मात्माको आदर-प्रमोदभाव उमड़े बिना नहीं रहता। जिसे धर्मात्माओंके प्रति अरुचि है, उसे अपने धर्मके ही प्रति अरुचि है, अपने आत्मा पर क्रोध है।

जिसका उपयोग धर्मी जीवोंको हीन बताकर अपकी बड़ाई लेनेके लिये होता है—जो धर्मीका विरोध करके स्वयं बड़ा बनना चाहता है वह निजात्म कल्याणका शत्रु है—मिथ्यादृष्टि है। धर्म यानी स्वभाव, और उसे धारण करनेवाला धर्मी यानी आत्मा। इसलिये जिसे धर्मात्माके प्रति अरुचि है उसे धर्मके प्रति अरुचि है। जिसे धर्मकी अरुचि हुई उसे आत्माकी अरुचि हुई। और आत्माकी अरुचि पूर्वक जो क्रोध, मान, माया, लोभ होता है वह अनन्तानुवन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबंधी माया और अनन्तानुवन्धी लोभ होता है। इसलिये जो धर्मात्मा का अनादर करता है वह अनन्तानुबन्धी रागद्वेष वाला है, और उसका फल अनन्त संसार है।

जिसे धर्मरुचि है उसे परिपूर्ण स्वभावकी रुचि है। उसे अन्य धर्मात्माओं के प्रति उपेक्षा अनादर या ईर्ष्या नहीं हो सकती। यदि अपने से पहले कोई दूसरा केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हो जाय तो उसे खेद नहीं होगा, किन्तु अन्तरसे प्रमोद जागृत होगा कि ओहो! धन्य है इस धर्मात्माको! जो मुझे इष्ट है वह इसने प्रगट किया है। मुझे इसीकी रुचि है, आदर है, भाव है, चाह है। इस प्रकार अन्य जीवों की धर्मवृद्धि देखकर धर्मात्मा अपने धर्मकी पूर्णता की भावना भाता है इसलिये उसे अन्य

धर्मात्माओं को देखकर हर्ष होता है, उल्लास होता है। और इस प्रकार धर्म के प्रति आदरभाव होने से वह अपने धर्म की वृद्धि करके पूर्ण धर्म प्रगट करके सिद्ध हो जायगा।

[ता० १२–४–४५ का व्याख्यान]

(२३) सत् की प्राप्तिके लिए अर्पणता।

आत्मा प्रिय हुआ कब कहा जाता है, अर्थात् यह कब कहा जाता है कि आत्माकी कीमत या प्रतिष्ठा हुई? पहली बात तो यह है कि जो वीतराग, सर्वज्ञ, परमात्मा हो गये हैं ऐसे अरिहन्तदेवके प्रति सच्ची प्रीति होनी चाहिये। किन्तु विषय कषाय या कुदेवादिके प्रति जो तीव्र राग है उसे दूर करके सच्चे देव गुरुके प्रति भक्ति प्रदर्शित करनेके लिए भी जो जीव मन्द राग नहीं कर सकते वे जीव बिल्कुल राग रहित आत्म स्वरूपकी श्रद्धा कहाँसे पा सकेंगे?

जिसमें परम उपकारी वीतरागी देव गुरू धर्मके लिए भी राग कम करनेकी भावना नहीं है वह अपने आत्माके लिए रागका बिल्कुल अभाव कैसे कर सकेगा? जिसमें दो पाई देनेकी शक्ति नहीं है वह दो लाख रुपया क्यों कर दे सकेगा? उसीप्रकार जिसे देव–गुरुकी सच्ची प्रीति नहीं है—व्यवहारमें भी अभी जो राग कम नहीं कर सकता वह निश्चयमें यह कैसे और कहाँसे ला सकेगा कि 'राग मेरा स्वरूप नहीं है।'

जिसे देव–गुरु की सच्ची श्रद्धा–भक्ति नहीं है उसे तो निश्चय या व्यवहार में से कोई भी सच्चा नहीं है, मात्र अकेले मूढ भाव की पुष्टि होती है– वह केवल तीव्र कषाय और शुष्कज्ञान को ही पुष्ट कहता है।

प्राथमिक दशा में देवगुरु धर्मकी भक्ति का शुभ राग जागृत होता है-और उसीके आवेश में भक्त सोचता है कि देवगुरु धर्म के लिये तृष्णा कम करके अर्पित होजाऊं, उनके लिये अपने शरीर की चमड़ी उतरवाकर यदि जूते बनवा दूं तो भी उनके उपकार से उऋण नहीं हो सकता। इस तरह की सर्वस्व समर्पण की भावना अपने मन में आये विना देवगुरु धर्म

के प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न नहीं होती। और देव-गुरु धर्म की प्रीतिके बिना आत्माकी पहचान नहीं हो सकती। देव गुरु शास्त्रकी भक्ति और अर्पणता के विना आये तीन लोक और त्रिकालमें भी आत्मामें प्रामाणिकता उत्पन्न नहीं हो सकती और न आत्मामें निजके लिये ही समर्पण की भावना उत्पन्न हो सकती है।

तू एक बार गुरु चरणोंमें अर्पित हो जा। पश्चात् गुरुही तुझे अपने में समा जानेकी आज्ञा देंगे। एकबार तो तू सत्की शरणमें झुक जा, और यही स्वीकार कर कि उसकी हाँ ही हाँ है और ना ही ना। तुझमें सत की अर्पणता आने के बाद सन्त कहेंगे कि तू परिपूर्ण है, अब तुझे मेरी आवश्यकता नहीं है, तू स्वयं ही अपनी ओर देख; यही आज्ञा है और यही धर्म है।

एकबार सत्-चरणमें समर्पित हो जा। सच्चे देव गुरुके प्रति समर्पित हुए विना आत्माका उद्धार नहीं हो सकता–कितु यदि उसीका आश्रय मानकर बैठ जाय तो भी पराश्रय होनेके कारण आत्माका उद्धार नहीं होगा। इस प्रकार परमार्थ स्वरूपमें तो भगवान आत्मा अकेला ही है, परन्तु वह परमार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता तब तक पहले देव गुरु शास्त्रको स्वत्वरूपके आँगनमें विराजमान करना, यह व्यवहार है। देव गुरु शास्त्रकी भक्ति–पूजाके बिना केवल निश्चयकी मात्र बातें करनेवाला शुष्कज्ञानी है।

देव गुरु धर्मको तेरी भक्तिकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु जिज्ञासु जीवोंको साधक दशामें अशुभ रागसे बचनेके लिये सत्के प्रति बहुमान उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। श्रीमद् राजचन्द्रने कहा है कि—"यद्यपि ज्ञानी भक्ति नहीं चाहते, फिर भी वैसा किये विना मुमुक्षु जीवोंका कल्याण नहीं हो सकता। सन्तोंके हृदयमें निवास करनेवाला यह गुप्त रहस्य यहां खोल कर रख दिया गया है।" सत्के जिज्ञासुको सत् निमित् रूप सत् पुरुषकी भक्तिका उल्लास आये विना रह नहीं सकता।

पहले तो उल्लास जागृत होता है कि अहो! अभीतक तो असग चैतन्य ज्योत आत्माकी बात ही नहीं बनी और सच्चे देव शास्त्र गुरुकी भक्ति से भी अलग रहा। इतना समय बीत गया। इसीप्रकार जिज्ञासुको पहलेकी भूलका पश्चाताप होता है और वर्तमानमें उल्लास जागृत होता है। किन्तु यह देव गुरु शास्त्रका राग आत्मस्वभाव को प्रगट नहीं करता। पहले तो राग उत्पन्न होता है और फिर "यह राग भी मेरा स्वरूप नहीं है" इसप्रकार स्वभाव दृष्टिके बल से अपूर्व आत्मभान प्रगट होता है।

सच पूछा जाय तो देव गुरु शास्त्रके प्रति अनादिसे सत्य समर्पण ही नहीं हुआ। और उनका कहा हुआ सुना तक नहीं। अन्यथा देवगुरु शास्त्र तो यह कहते हैं कि तुझे मेरा आश्रय नहीं है, तू स्वतंत्र है। यदि देव गुरु शास्त्रकी सच्ची श्रद्धा की होती तो उसे अपनी स्वतंत्रताकी श्रद्धा अवश्य हो जाती। देव गुरु शास्त्रके चरणोंमें तन मन धन समर्पण किये बिना जिसमें सम्पूर्ण आत्माका समर्पण समाविष्ट है–सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र कहाँ से प्रगट होगा?

अहो! जगतको वस्त्र मकान धन आदिमें बड़प्पन मालूम होता है परन्तु जो जगतका कल्याण कर रहे हैं ऐसे देव गुरु शास्त्रके प्रति भक्ति-समर्पण भाव उत्पन्न नहीं होता। उसके बिना उद्धारकी कल्पना भी कैसी?

प्रश्न—आत्माके स्वरूपमें राग नहीं है। फिर भी देव गुरु शास्त्रके प्रति शुभ राग करनेके लिये क्यों कहते हैं?

उत्तर—जैसे किसी म्लेच्छको मांस छुड़ानेका उपदेश देनेके लिये म्लेच्छ भाषाका भी प्रयोग करना पड़ता है, किन्तु उससे ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व नष्ट नहीं हो जाता, उसीप्रकार सम्पूर्ण राग छुड़ानेके लिये उसे अशुभ रागसे हटाकर देव गुरु धर्मके प्रति शुभराग करनेको कहा जाता है। (वहाँ राग करानेका हेतु नहीं है, किन्तु राग छुड़ानेका हेतु है। जिसका राग कम हुआ, उतना ही प्रयोजन है। राग रहे यह प्रयोजन नहीं है।)

उसके बाद "देव शास्त्र गुरुका शुभ राग भी मेरा स्वरूप नहीं है" इसप्रकार रागका निषेध करके वीतराग स्वरूपकी श्रद्धा करने लगता है।

हे प्रभु! पहले जिनने प्रभुता प्रगट की है ऐसे देव गुरुकी भक्ति, बड़प्पन न आवे और जगतका बड़प्पन दिखाई दे तबतक तेरी प्रभुता प्रगट नहीं होगी। देव गुरु शास्त्रकी व्यवहार श्रद्धा तो जीव अनन्तबार कर चुका परन्तु इस आत्माकी श्रद्धा अनन्तकालसे नहीं की है—परमार्थको नहीं समझा है। शुभ रागमें अटक गया है।

(२४) सम्यग्दृष्टिका अन्तर परिणमन

चिन्मूरत दृगधारीकी मोहि रीति लगत है अटापटी॥ चिन्मू०॥
बाहिर नारकिकृत दुख भोगे, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस, परनतितैं नित हटाहटी॥ चिन्मू०॥ १॥
ज्ञान विराग शक्ति तैं विधिफल, भोगत पै विधि घटाघटी।
सदन निवासी तदपि उदासी, तातैं आस्रव छटाछटी॥ चिन्मू०॥ २॥
जे भवहेतु अबुधके ते तस, करत बन्धकी झटाझटी।
नारक पशु तिय, षँढ विकलत्रय, प्रकृतिनकी है कटाकटी॥ चिन्मू०॥ ३॥
संयम धर न सकै पै संयम,–धारनकी उर चटाचटी।
तासु सुयश गुनकी 'दौलत' को लगी रहे नित रटारटी॥ चिन्मू०॥

"सम्यक्त्व प्रभु है!"

सम्यक्त्व वास्तवमें प्रभु है, इससे वह परम आराध्य है; क्योंकि उसीके प्रसादसे सिद्धि प्राप्त होती है और उसीके निमित्तसे मनुष्यका ऐसा माहात्म्य प्रगट होता है कि जिसमें वह जीव जगत पर विजय प्राप्त कर लेता है—अर्थात् सर्वज्ञ होकर समस्त जगतको जानता है। सम्यक्त्वकी ऐसी महिमा है कि उससे समस्त सुखोंकी प्राप्ति होती है।

अधिक क्या कहा जाये? भूतकालमें जितने नरपुंगव सिद्ध हुये हैं और भविष्यमें होंगे वह सब इस सम्यक्त्वका ही प्रताप है! [अनगार धर्मामृत]

(२५) जिज्ञासुको धर्म कैसे करना चाहिये ?

जो जीव जिज्ञासु होकर स्वभावको समझनेके लिये आया है वह सुख लेने को और दुःख दूर करनेको आया है। सुख अपना स्वभाव है और वर्तमानमें जो दुःख है वह क्षणिक है इसलिये वह दूर हो सकता है। वर्तमान दुःखरूप अवस्थाको दूर करके स्वयं सुखरूप अवस्थाको प्रगट कर सकता है। जो सत्‌को समझनेके लिये आया है उसने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है। आत्माको अपने भावमें पुरुषार्थ करके विकार रहित स्वरूपका निर्णय करना चाहिये। वर्तमान विकार होने पर भी विकार रहित स्वभावकी श्रद्धा की जा सकती है अर्थात् यह निश्चय हो सकता है कि यह विकार और दुःख मेरा स्वरूप नहीं है।

पात्र जीवका लक्षण

जिज्ञासु जीवोंको स्वरूपका निर्णय करनेके लिये शास्त्रोंने पहली ही ज्ञान क्रिया बताई है। स्वरूपका निर्णय करनेके लिये अन्य कोई दान, पूजा, भक्ति, व्रत, तपादि करनेको नहीं कहा है परन्तु श्रुतज्ञानसे आत्माका निर्णय करना ही कहा है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रका आदर और उस ओरका खिंचाव तो दूर हो ही जाना चाहिये, तथा विषयादि परवस्तुमें जो सुख बुद्धि है वह दूर हो जाना चाहिये। सब ओरसे रुचि दूर होकर अपनी ओर रुचि होनी चाहिये। देव, गुरु, और शास्त्रको यथार्थ रीत्या पहचान कर उस ओर आदर करे और यदि यह सब स्वभावके लक्ष्यसे हुआ हो तो उस जीवके पात्रता हुई कही जा सकती है, इतनी पात्रता भी सम्यग्दर्शन का मूल कारण नहीं है। सम्यग्दर्शनका मूलकारण तो चैतन्य स्वभावका लक्ष्य करना है। परन्तु पहले कुदेवादिका सर्वथा त्याग तथा सच्चे देव गुरु शास्त्र और सत्समागमका प्रेम तो पात्र जीवोंके होता ही है, ऐसे पात्र जीवों को आत्माका स्वरूप समझनेके लिये क्या करना चाहिये, यह इस समयसारमें स्पष्टतया बतलाया है।

सम्यग्दर्शनके उपायके लिये समयसारमें बताई गई क्रिया

'पहले श्रुतज्ञानके अवलंबनसे ज्ञानस्वभावी आत्माका निश्चय करके पश्चात् आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारण जो इन्द्रियोंके द्वारा और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धि है उसे मर्यादामें लाकर जिसने मतिज्ञान तत्त्वको आत्मसन्मुख किया है ऐसा, तथा नानाप्रकारके पक्षोंके अवलम्बनसे होने वाले अनेक विकल्पोंके द्वारा आकुलताको उत्पन्न करनेवाली श्रुतज्ञान की बुद्धियोंको भी मर्यादामें लाकर श्रुतज्ञान तत्त्वको भी आत्म सन्मुख करता हुआ अत्यन्त विकल्प रहित होकर तत्काल परमात्मा-रूप समयसारका जब आत्मा अनुभव करता है उस समय ही आत्मा सम्यक्तया दिखाई देता है (अर्थात् श्रद्धा की जाती है) और मालूम होता है इसलिये समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।'

[समयसार गाथा १४४ की टीका]

अब यहाँ पर इसका स्पष्टीकरण किया जाता है।

श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिये ?

'प्रथम श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञान स्वभावी आत्माका निर्णय करना' कहा है। श्रुतज्ञान किसे कहना चाहिये ? सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहा गया श्रुतज्ञान अस्ति नास्तिके द्वारा वस्तु स्वरूप सिद्ध करता है। अनेकान्त स्वरूप वस्तुको 'स्व अपेक्षासे है और पर अपेक्षासे नहीं है' इसप्रकार जो स्वतंत्र सिद्ध करता है वह श्रुतज्ञान है।

बाह्यत्याग श्रुतज्ञानका लक्षण नहीं है

परवस्तुको छोड़नेके लिये कहे अथवा परके ऊपरके रागको कम करनेके लिये कहे इसप्रकार भगवानके द्वारा कहा गया श्रुतज्ञानका लक्षण नहीं है। एक वस्तु अपनी अपेक्षासे है और वह वस्तु अनन्त पर द्रव्योंसे पृथक् है इसप्रकार अस्ति नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंको प्रकाशित करके जो वस्तुस्वरूपको बतलाना है वह अनेकान्त है और यही श्रुतज्ञानका

लक्षण है। वस्तु स्व अपेक्षा से है और परापेक्षा से नहीं है, इससे वस्तुको स्वतः सिद्ध-ध्रुवरूपमें सिद्ध किया है।

श्रुतज्ञानका वास्तविक लक्षण—अनेकान्त

एक वस्तुमें 'है' और 'नहीं है' ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ भिन्न भिन्न अपेक्षासे प्रकाश कर वस्तुका परसे भिन्न स्वरूप बताती है, यही श्रुतज्ञान भगवानके द्वारा कहा गया शास्त्र है। इसप्रकार आत्मा सर्व पर द्रव्योंसे पृथक् वस्तु है इसप्रकार पहले श्रुतज्ञानसे निश्चय करना चाहिये।

अनन्त पर वस्तुओंसे यह आत्मा भिन्न है, इसप्रकार सिद्ध होने पर अब अपनी द्रव्य पर्यायमें देखना चाहिये। मेरा त्रिकाल द्रव्य एक समयमात्रकी अवस्था रूप नहीं है अर्थात् विकार क्षणिक पर्यायके रूपमें है परन्तु त्रिकाल स्वरूपके रूपमें नहीं है। इसप्रकार विकाररहित स्वभावकी सिद्धि भी अनेकान्तसे होती है भगवानके द्वारा कहे गये सत् शास्त्रोंकी महत्ता अनेकान्तसे ही है। भगवान ने पर जीवोंकी दया पालन करनेको कहा है और अहिंसा बतलाकर कर्मोंका वर्णन किया है। यह कहीं भगवानको अथवा भगवानके द्वारा कहे गये शास्त्रको पहचाननेका वास्तविक लक्षण नहीं है।

भगवान भी दूसरेका नहीं कर सके

भगवानने अपना कार्य परिपूर्ण किया और दूसरेका कुछ भी नहीं किया क्योंकि एक तत्त्व अपने रूपमें है और पररूपमें नहीं है इसलिये वह किसी अन्यका कुछ नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य भिन्न भिन्न स्वतन्त्र है, कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता, इसप्रकार जानना ही भगवानके शास्त्रकी पहिचान है, यही श्रुतज्ञान है। यह तो अभी स्वरूपको समझने वालेकी पात्रता कही गई है।

जैनशास्त्रमें कथित प्रभावनाका सच्चा स्वरूप

कोई परद्रव्यकी प्रभावना नहीं कर सकता परन्तु जैनधर्म अर्थात् आत्माका जो वीतराग स्वभाव है उसकी प्रभावना धर्मी जीव कर सकते

हैं आत्माको जाने विना आत्माके स्वभावकी वृद्धिरूप प्रभावना किस प्रकार करे ? प्रभावना करनेका जो विकल्प उठता है वह भी परके कारण नहीं, क्योंकि दूसरेके लिये कुछ भी अपनेमें होता है यह कहना जैनशासनकी मर्यादामें नहीं है। जैनशासन तो वस्तुको स्वतन्त्र स्वाधीन परिपूर्ण स्थापित करता है।

भगवानने परजीवकी दयाका पालन करना नहीं कहा

भगवानने अन्य जीवोंकी दयाकी स्थापना की है यह बात गलत है यह जीव परजीवकी क्रिया कर ही नहीं सकता तो फिर भगवान उसे बचाने के लिये क्यों कहेंगे भगवानने तो आत्म स्वभावको पहचानकर अपने आत्माको कषाय भावसे बचानेको कहा है यही सच्ची दया है। अपने आत्माका निर्णय किये विना कोई क्या करेगा। भगवानके श्रुतज्ञानमें तो यह कहा है कि तू अपनेसे परिपूर्ण वस्तु है प्रत्येक तत्त्व अपने आपही स्वतंत्र है। किसी तत्त्वको दूसरे तत्त्वका आश्रय नहीं है। इसप्रकार वस्तुके स्वरूपको पृथक् रखना सो अहिंसा है। और एक दूसरेका कुछ कर सकता है, इस प्रकार वस्तुको पराधीन मानना सो हिंसा है।

आनंद प्रगट करने की भावना वाला क्या करे ?

जगत्के जीवोंको सुख चाहिये है सुख कहो या धर्म कहो धर्म करना है इसलिये आत्मशांति चाहिये है। अच्छा करना है किन्तु अच्छा कहाँ करना है ? आत्माकी अवस्थामें दुःखका नाश करके वीतराग आनन्द प्रगट करना है। यह आनन्द ऐसा चाहिये कि जो स्वाधीन हो जिसके लिये परका अवलंबन न हो ऐसा आनन्द प्रगट करनेकी जिसकी यथार्थ भावना हो वह जिज्ञासु कहलाता है। अपना पूर्णानन्द प्रगट करनेकी भावना वाला जिज्ञासु पहले यह देखे कि ऐसा पूर्णानन्द किसे प्रगट हुआ। निजको अभी वैसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ क्योंकि यदि अपनेको वैसा आनन्द प्रगट हो तो प्रगट करनेकी उसे भावना न हो। तात्पर्य यह है कि अभी निजको वैसा आनन्द प्रगट नहीं हुआ किन्तु अपनेमें जैसी भावना

है वैसा आनन्द अन्य किसीको प्रगट हो चुका है और जिन्हें वैसा आनन्द प्रगट हुआ है उनके निमित्तसे स्वयं वह आनन्द प्रगट करनेका यथार्थ मार्ग जाने। अर्थात् इसमें सच्चे निमित्तोंकी पहचान भी आगई जबतक इतना करता है तबतक अभी जिज्ञासु है।

अपनी अवस्थामें अधर्म–अशांति है उसे दूर करके धर्म–शांति प्रगट करना है वह शांति अपने आधार पर और परिपूर्ण होनी चाहिये। जिसे ऐसी जिज्ञासा हो वह पहले यह निश्चय करे कि मै एक आत्मा अपना परिपूर्ण सुख प्रगट करना चाहता हूँ तो वैसा परिपूर्ण सुख किसीके प्रगट हुआ होना चाहिये। यदि परिपूर्ण सुख–आनन्द प्रगट न हो तो दुःखी कहलायगा। जिसे परिपूर्ण और स्वाधीन आनन्द प्रगट हुआ है वही सम्पूर्ण सुखी है। ऐसे सर्वज्ञ ही हैं। इस प्रकार जिज्ञासु अपने ज्ञानमें सर्वज्ञका निर्णय करता है परके करने धरनेकी बात तो है ही नहीं। जब वह परसे किंचित् पृथक् हुआ है तब तो आत्माकी जिज्ञासा हुई है। यह तो परसे अलग होकर अब जिसको अपना हित करनेकी तीव्र आकांक्षा जागृत हुई है ऐसे जिज्ञासु जीवकी यह बात है। पर द्रव्यके प्रति जो सुख बुद्धि है और जो रुचि है उसे दूर कर देना सो पात्रता है तथा स्वभावकी रुचि और पहचानका होना सो पात्रताका फल है।

दुःखका मूल भूल है जिसने अपनी भूलसे दुःख उत्पन्न किया है यदि वह अपनी भूलको दूर करदे तो उसका दुःख दूर हो जाय। अन्य किसीने वह भूल नही कराई है इसलिये दूसरा कोई अपना दुःख दूर करने में समर्थ नहीं है।

श्रुतज्ञानका अवलंबन ही प्रथम क्रिया है

जो आत्मकल्याण करनेके लिये तैयार हुआ है ऐसे जिज्ञासुको पहले क्या करना चाहिये? सो बताया जाता है। आत्म कल्याण अपने आप नहीं हो जाता किन्तु अपने ज्ञानमें रुचि और पुरुषार्थसे आत्म कल्याण होता है। अपना कल्याण करनेके लिये जिनके पूर्ण कल्याण प्रगट हुआ है

वे कौन हैं? वे क्या कहते हैं? उनने पहले क्या किया था? इसका अपने ज्ञानमें निर्णय करना होगा अर्थात् सर्वज्ञके स्वरूपको जानकर उनके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञानके अवलंबनसे अपने आत्माका निर्णय करना चाहिये, यही प्रथम कर्त्तव्य है। किसी परके अवलंबनसे धर्म प्रगट नहीं होता तथापि जब स्वयं अपने पुरुषार्थसे समझता है तब सामने निमित्तके रूपमें सच्चे देव और गुरु ही होते हैं।

इसप्रकार पहला निर्णय यही हुआ कि कोई पूर्ण पुरुष सम्पूर्ण सुखी है और सम्पूर्ण ज्ञाता है वही पुरुष पूर्णसुखका पूर्ण सत्यमार्ग कह सकता है। इसे स्वयं समझकर अपने पूर्ण सुखको प्रगट किया जा सकता है और जब स्वयं समझता है तब सच्चे देव शास्त्र गुरु ही निमित्त होते हैं। जिसे स्त्री पुत्र पैसा इत्यादिकी अर्थात् संसारके निमित्तोंकी तीव्र रुचि होगी उसे धर्मके निमित्तों-देव, शास्त्र, गुरुके प्रति रुचि नहीं होगी अर्थात् उसके श्रुतज्ञानका अवलंबन नहीं होगा और श्रुतज्ञानके अवलंबनके बिना आत्मा का निर्णय नहीं होता क्योंकि आत्माके निर्णयमें सत् निमित्त ही होते है परन्तु कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र आत्माके निर्णयमें निमित्तरूप नहीं हो सकते। जो कुदेवादिको मानता है उसके आत्म निर्णय हो ही नहीं सकता।

जिज्ञासु यह तो मानता ही नहीं है कि दूसरेकी सेवा करनेसे धर्म होता है किन्तु वह यथार्थ धर्म कैसे होता है इसके लिये पहले पूर्ण ज्ञानी भगवान और उनके द्वारा कहे गये शास्त्रके अवलंबनसे ज्ञान स्वभावी आत्माका निर्णय करनेके लिये उद्यमी होता है। जगत् धर्मकी कलाको ही नहीं समझ पाया यदि धर्मकी एक ही कलाको सीख ले तो उसे मोक्ष हुये बिना न रहे।

जिज्ञासु-जीव पहले सुदेवादिका और कुदेवादिका निर्णय करके कुदेवादिको छोड़ता है और उसे सच्चे देव, गुरुकी ऐसी लगन लगी है कि उसका यही समझनेकी ओर लक्ष्य है कि सत् पुरुष क्या कहते हैं। इसलिये अशुभसे तो वह हट ही गया है। यदि सांसारिक रुचिसे अलग न

हो तो श्रुतके अवलम्बनमें टिक नहीं सकता।

धर्म कहाँ है और वह कैसे होता है ?

बहुतसे जिज्ञासुओं के यही प्रश्न उठता है कि धर्मके लिये पहले क्या करना चाहिये। पर्वत पर चढ़ा जाय, सेवा पूजा की जाय, गुरुकी भक्ति करके उनकी कृपा प्राप्त की जाय अथवा दान किया जाय ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि इसमें कहीं भी आत्माका धर्म नही है, धर्म तो अपना स्वभाव है धर्म पराधीन नहीं है किसीके अवलम्बनसे धर्म नहीं होता धर्म किसीके देनेसे नहीं मिलता किन्तु आत्माकी पहिचानसे ही धर्म होता है। जिसे अपना पूर्णानन्द चाहिये है उसे पूर्ण आनन्दका स्वरूप क्या है वह किसे प्रगट हुआ है यह निश्चय करना चाहिये। जो आनन्द मैं चाहता हूँ उसे पूर्ण अबाधित चाहता हूं। अर्थात् कोई आत्मा वैसी पूर्णानन्द दशाको प्राप्त हुये हैं और उन्हें पूर्णानन्ददशामें ज्ञान भी पूर्ण ही है क्योंकि यदि पूर्ण ज्ञान न हो तो रागद्वेष रहे और रागद्वेष रहे तो दुःख रहे। जहाँ दुःख होता है वहाँ पूर्णानन्द नहीं हो सकता इसलिये जिन्हें पूर्णानन्द प्रगट हुआ है ऐसे सर्वज्ञ भगवान हैं उनका और वे क्या है इसका जिज्ञासुको निर्णय करना चाहिये। इसलिये कहा है कि—पहले श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे आत्माका निर्णय करना चाहिये इसमें उपादान निमित्तकी संधि विद्यमान है। ज्ञानी कौन है ? सत् बात कौन कहता है ? यह सब निश्चय करनेके लिये निवृत्ति लेनी चाहिये। यदि स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मीका प्रेम और संसारकी रुचिमें कमी न हो तो सत् समागमके लिये निवृत्ति नहीं ली जा सकती। जहाँ श्रुतका अवलम्बन लेनेकी बात कही गई है वहाँ तीव्र अशुभभावके त्यागकी बात अपने आप आगई और सच्चे निमित्तोंकी पहिचान करनेकी बात भी आगई है।

सुखका उपाय ज्ञान और सत्समागम है

तुझे सुख चाहिये है न ? यदि सचमुचमें तुझे सुख चाहिये हो तो पहले यह निर्णय कर और यह ज्ञान कर कि सुख कहाँ है और वह कैसे

प्रगट होता है ? सुख कहाँ है और कैसे प्रगट होता है इसका ज्ञान हुये बिना प्रयत्न करते करते सूख जाय तो भी सुख नहीं मिलता-धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहे गये श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे यह निर्णय होता है। और यह निर्णय करना ही प्रथम धर्म है जिसे धर्म प्राप्त करना हो वह धर्मीको पहचानकर वे क्या कहते हैं इसका निर्णय करनेके लिये सत्समागम करे। सत्समागमसे जिसे श्रुतज्ञानका अवलम्बन हुआ कि अहो! पूर्ण आत्म वस्तु उत्कृष्ट महिमावान् है ऐसा परम स्वरूप मैंने अनन्तकालमें कभी सुना भी नहीं था। ऐसा होने पर उसके स्वरूपकी रुचि जागृत होती है और सत्समागमका रंग लग जाता है, इसलिये उसे कुदेवादि अथवा संसारके प्रति रुचि नहीं होती।

यदि वस्तुको पहचाने तो प्रेम जागृत हो और उस ओर पुरुषार्थ झुके। आत्मा अनादिसे स्वभावको भूल कर परभावरूपी परदेशमें चक्कर लगाता है, स्वरूपसे बाहर संसारमें परिभ्रमण करते करते परम पिता सर्वज्ञ परमात्मा और परम हितकारी श्री परम गुरु मिले और वे सुनाते हैं कि पूर्ण हित कैसे हो सकता है और आत्माके स्वरूपकी पहचान कराते हैं तब अपने स्वरूपको सुनकर किस धर्मीको उल्लास न आयगा, आता ही है। आत्मस्वभावकी बातको सुनकर जिज्ञासु जीवोंके महिमा जागृत होती ही है। अहो! अनन्त कालसे यह अपूर्व ज्ञान न हुआ, स्वरूपसे बाहर परभावमें परिभ्रमण करके अनन्त काल तक वृथा दुःख उठाया। यदि पहले यह अपूर्व ज्ञान प्राप्त किया होता तो यह दुःख न होता इसप्रकार स्वरूपकी आकांक्षा जागृत करे रुचि उत्पन्न करे और इस महिमाको यथार्थतया रटते हुये स्वरूपका निर्णय करे। इसप्रकार जिसे धर्म करके सुखी होना हो उसे पहले श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेकर आत्माका निर्णय करना चाहिये। भगवानकी श्रुतज्ञानरूपी डोरीको दृढ़तासे पकड़ कर उसके अवलम्बनसे स्वरूपमें पहुँचा जा सकता है। श्रुतज्ञानके अवलम्बनका अर्थ है सच्चे श्रुतज्ञानकी रुचिका होना और अन्य कुश्रुतज्ञानमें रुचिका न होना। जिसको संसार

सम्बन्धी बातोंकी तीव्र रुचि दूर हो गई है और श्रुतज्ञानमें तीव्र रुचि जम गई है और जो श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञान स्वभावी आत्माका निर्णय करनेके लिये तैयार हुआ है उसे अल्पकालमें ही आत्मभान हो जायगा। जिसके हृदयमें संसार सम्बन्धी तीव्र रंग जमा है उसके परम शांत स्वभावकी बातको समझनेकी पात्रता जागृत नहीं हो सकती। जहाँ जो श्रुतका अवलम्बन शब्द रखा है वह अवलम्बन तो स्वभावके लक्ष्य है, वापिस न होनेके लक्ष्यसे है। समयसारजीमें अप्रतिहत शैलीसे बात है। ज्ञान स्वभावी आत्माका निर्णय करनेके लिये जिसने श्रुतका अवलम्बन लिया है वह आत्म स्वभाव का निर्णय करता ही है। वापिस होने की बात ही समयसारमें नहीं है।

संसारकी रुचिको कम करके आत्माका निर्णय करनेके लक्ष्य से जो यहाँ तक आया है उसे श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे निर्णय अवश्य होगा। निर्णय न हो यह हो ही नहीं सकता। साहूकारके बही खातेमें दिवालेकी बात ही नहीं होती इसी प्रकार यहाँ दीर्घ संसारकी बात ही नहीं है। यहाँ तो एक दो भवमें अल्पकालमें ही मोक्ष जानेवाले जीवोंकी बात है। सभी बातोंकी हाँ हाँ कहा करे और अपने ज्ञानमें एकभी बातका निर्णय न करे ऐसे 'ध्वज पुच्छल' जीवोंकी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो सुहागा जैसी स्पष्ट बात है। जो अनन्त संसारका अत लानेके लिये पूर्ण स्वभावके लक्ष्यसे प्रारम्भ करनेको निकले हैं ऐसे जीवोंका किया हुआ प्रारम्भ वापिस नहीं होता, ऐसे लोगोंकी ही यहाँ बात है। यह तो अप्रतिहत मार्ग है, पूर्णताके लक्ष्यसे किया गया प्रारम्भ वापिस नहीं होता। पूर्णताके लक्ष्यसे पूर्णता होती ही है।

रुचि की रटन

यहाँ पर एक ही बातको अदल बदल कर बारम्बार कहा है। इसलिये रुचिवान् जीव उकलाता नहीं है। नाटक की रुचिवाला आदमी नाटक में 'वन्समोर' कहके भी अपनी रुचिकी वस्तुको बारम्बार देखता है।

इसीप्रकार जिन भव्य जीवोंको आत्मा की रुचि हो गई है और जो आत्मा का भला करने के लिये निकले हैं वे बारम्बार रुचिपूर्वक प्रति समय-खाते पीते, चलते सोते, बैठते बोलते, और विचार करते हुए निरंतर श्रुतका ही अवलम्बन स्वभावके लक्ष्यसे करते हैं। उसमें कोई काल अथवा क्षेत्रकी मर्यादा नहीं करता। उन्हें श्रुतज्ञानकी रुचि और जिज्ञासा ऐसी जम गई है कि वह कभी भी दूर नहीं होती। अमुक समय तक अवलम्बन करके फिर उसे छोड़ देनेकी बात नहीं है परन्तु श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे आत्माका निर्णय करने को कहा गया है। जिसे सच्चे तत्त्वकी रुचि है वह अन्य समस्त कार्योंकी प्रीतिको गौण कर देता है।

प्रश्न—तब क्या सत्‌की प्रीति होने पर खाना पीना और धन्धा व्यापार इत्यादि सब छोड़ देना चाहिये? क्या श्रुतज्ञानको सुनते ही रहना चाहिये और फिर उसे सुनकर किया क्या जाय?

उत्तर—सत् की प्रीति होने पर तत्काल खाना पीना इत्यादि सब छूट ही जाता हो सो बात नहीं है किन्तु उस ओर से रुचि अवश्य ही कम हो जाती है। परमें से सुखबुद्धि उठ जाय और सर्वत्र एक आत्मा ही आगे हो तो निरन्तर आत्माकी ही चाह स्वतः होगी, मात्र श्रुतज्ञानको सुनने ही रहना चाहिये ऐसा नहीं कहा किन्तु श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका निर्णय करना चाहिये। श्रुतके अवलम्बन की धुनि लगने पर देव, गुरु, शास्त्र, धर्म, निश्चय व्यवहार इत्यादि अनेक पहलुओंकी बातें आती हैं उन सब पहलुओं को जानकर एक ज्ञानस्वभावी आत्माका निश्चय करना चाहिये इसमें भगवान कैसे है, उनके शास्त्र कैसे हैं और वे क्या कहते हैं? इन सबका अवलम्बन यह निर्णय कराता है कि तू ज्ञान है, आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, तू ज्ञानके सिवाय दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

इसमे यह बताया गया है कि देव शास्त्र गुरु कैसे होते हैं और उन देव शास्त्र गुरुको पहचान कर उनका अवलम्बन लेने वाला स्वयं क्या समझा होता है। तू ज्ञान स्वभावी आत्मा है, तेरा जानना ही स्वभाव है

किसी परका कुछ करना अथवा पुण्य पापके भाव करना तेरा स्वरूप नहीं है। यह सब जो बतलाते हों वे सच्चे देव शास्त्र गुरु हैं और इसप्रकार जो समझता है वही देव शास्त्र गुरुके अवलम्बन से श्रुतज्ञानको समझा है किन्तु जिस रागसे धर्मको मनवाने हों और शरीराश्रित क्रिया आत्मा करता है यह मनवाने हों तथा जो यह कहते हों कि जड़ कर्म आत्माको परेशान करते हों वे सच्चे देव, शास्त्र, गुरु नहीं हो सकते।

जो शरीरादि सर्व परसे भिन्न ज्ञान स्वभावी आत्माका स्वरूप बताते हों और यह बताते हों कि पुण्य-पापका कर्तव्य आत्माका नहीं है वही सच्चा शास्त्र है, वही सच्चे देव हैं और वही सच्चे गुरु हैं। जो पुण्यसे धर्म बतलाते हैं और जो यह बतलाते है कि शरीरकी क्रियाका कर्ता आत्मा है तथा जो रागसे धर्म होना बतलाते हैं वे सब कुगुरु, कुदेव, और कुशास्त्र हैं क्योंकि वे यथावत् वस्तु स्वरूपके ज्ञाता नहीं हैं और वे विपरीत स्वरूप ही बतलाते हैं। जो वस्तु स्वरूप जैसा है वैसा न बताये और किंचित् मात्र भी विरुद्ध बताये, वह सच्चा देव, सच्चा शास्त्र, या सच्चा गुरु नहीं हो सकता।

श्रुतज्ञानके अवलम्बनका फल-आत्मानुभव है

मैं आत्मा तो ज्ञायक हूँ, पुण्य पापकी वृत्तियां मेरी ज्ञेय हैं, वे मेरे ज्ञानसे भिन्न हैं। इसप्रकार पहले विकल्पके द्वारा देव, गुरु, शास्त्रके अवलंबनसे यथार्थ निर्णय करता है, ज्ञान स्वभावका अनुभव होनेसे पहलेकी यह बात है। जिसने स्वभावके लक्ष्यसे श्रुत अवलम्बन लिया है वह अल्प कालमें ही आत्मानुभव अवश्य करेगा। पहले विकल्पमें यह निश्चय किया कि मैं परसे भिन्न हूँ, पुण्य पाप भी मेरा स्वरूप नहीं है मेरे शुद्ध स्वभावके अतिरिक्त देव, गुरु, शास्त्रका भी अवलम्बन परमार्थतः नहीं है। मैं तो स्वाधीन ज्ञान स्वभाव वाला हूँ इसप्रकार जिसने निर्णय किया उसे अनुभव हुये बिना कदापि नहीं रह सकता। यहाँ प्रारम्भ ही ऐसे बलपूर्वक किया है कि पीछे हटनेकी बात ही नहीं है।

पुण्य–पाप मेरा स्वरूप नहीं है, मैं ज्ञायक हूँ, इसप्रकार जिसने निर्णय पूर्वक स्वीकार किया है अर्थात् उसका परिणमन पुण्य-पापकी ओरसे हटकर ज्ञायक स्वभावकी ओर गया है, उसके पुण्य पापके प्रति आदर नहीं रहा, इसलिये वह अल्प कालमें ही पुण्य पाप रहित स्वभावका निर्णय करके और उसकी स्थिरता करके वीतराग होकर पूर्ण हो जायगा। यहाँ पूर्णकी ही बात है। प्रारम्भ और पूर्णताके बीच कोई भेद रखा ही नहीं है। जो प्रारभ हुआ है वह पूर्णताको लक्ष्यमें लेकर ही हुआ है। सुनानेवाले और सुनने वाले दोनोंकी पूर्णता ही है। जो पूर्ण स्वभावकी बात करते हैं वे देव, शास्त्र, गुरु तो पवित्र ही हैं, उनके अवलम्बनसे जिनने स्वीकार किया है वे भी पूर्ण पवित्र हुए बिना कदापि नहीं रह सकते। पूर्णको स्वीकार करके आया है तो पूर्ण अवश्य होगा, इसप्रकार उपादान निमित्त की संधि साथ ही साथ है।

सम्यग्दर्शन होने से पूर्व—

आत्मानन्दको प्रगट करनेकी पात्रताका स्वरूप कहा जाता है। तुझे धर्म करना है न, तो तू अपनेको पहिचान। सर्व प्रथम सच्चा निर्णय करनेकी बात है। अरे! तू है कौन, क्या क्षणिक पुण्य पापका करने वाला तू ही है, नहीं नहीं। तू तो ज्ञानका कर्ता ज्ञानस्वभावी है। परका ग्रहण करने वाला अथवा छोड़ने वाला नहीं है, तू तो मात्र ज्ञाता ही है। ऐसा निर्णय ही धर्मके प्रथम प्रारम्भ (सम्यग्दर्शन) का उपाय है। प्रारम्भमें अर्थात् सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व ऐसा निर्णय न करे तो वह पात्रतामें ही नहीं है। मेरा सहज स्वभाव जानना है इसप्रकार श्रुतके अवलम्बनसे जो निर्णय करता है वह पात्र जीव है। जिसे पात्रता प्रगट होगई उसे अंतरंग अनुभव अवश्य होगा। सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व जिज्ञासु जीव, धर्म सन्मुख हुआ जीव, सत्समागमको प्राप्त हुआ जीव श्रुतज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञान स्वभावी आत्माका निर्णय करता है।

मैं ज्ञान स्वभावी जाननेवाला हूँ। कहीं भी रागद्वेष करके ज्ञेयमें अटक जाना मेरा स्वभाव नहीं है। चाहे जो हो, मैं तो मात्र उसका ज्ञाता हूँ, मेरा

ज्ञाता स्वभाव परका कुछ करनेवाला नहीं है जैसे मैं ज्ञानस्वभावी हूँ वैसे ही जगतके सब आत्मा ज्ञान स्वभावी हैं, वे स्वयं अपने ज्ञान स्वभावका निर्णय भूले हैं इसलिये दुःखी हैं। यदि वे स्वयं निर्णय करें तो उनका दुःख दूर हो। मैं किसीके बदलनेमें समर्थ नहीं हूँ, मैं पर जीवोंके दुःखोंको दूर नहीं कर सकता। क्योंकि दुःख उनने अपनी भूलसे किया है, इसलिये वे यदि अपनी भूलको दूर करें तो उनका दुःख दूर हो सकता है। ज्ञानका स्वभाव किसी परके लक्ष्यसे अटकना नहीं है।

पहले जो श्रुतज्ञानका अवलम्बन बताया है उसमें पात्रता आ चुकी है अर्थात् श्रुतके अवलम्बनसे आत्माका अव्यक्त निर्णय हो चुका है। तत्पश्चात् प्रगट अनुभव कैसे होता है? यह अब कहते हैं।

सम्यग्दर्शनसे पूर्व श्रुतज्ञानके अवलम्बनके बलसे आत्माके ज्ञान स्वभावको अव्यक्त रूपमें लक्ष्यमें लिया है। अब प्रगटरूपमें लक्ष्यमें लेते हैं, अनुभव करते हैं, आत्मसाक्षात्कार अर्थात् सम्यग्दर्शन करते हैं सो कैसे? उसकी बात यहाँ कहते हैं। पश्चात् आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये पर पदार्थकी प्रसिद्धिका कारण जो इन्द्रिय और मनके द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं उनको मर्यादामें लेकर जिसने मतिज्ञान तत्त्वको आत्मसन्मुख किया है ऐसा अप्रगटरूप निर्णय हुआ था, वह अब प्रगटरूप कार्यको लाता है जो निर्णय किया था उसका फल प्रगट होता है।

यह निर्णय जगतके सभी आत्मा कर सकते हैं। सभी आत्मा परिपूर्ण भगवान ही हैं, इसलिये सब अपने ज्ञान स्वभावका निर्णय कर सकनेमें समर्थ है। जो आत्माका कुछ करना चाहता है उसके वह हो सकता है। किन्तु अनादि कालसे अपनी परवाह नहीं की। हे भाई! तू कौनसी वस्तु है यह जाने बिना तू क्या करेगा? पहले इस ज्ञान स्वभावी आत्माका निर्णय करना चाहिये। यह निर्णय होने पर अव्यक्त रूपमें आत्माका लक्ष्य हुआ फिर परके लक्ष्य और विकल्पसे

हटकर स्वका लक्ष्य प्रगटरूपमें, अनुभवरूपमें कैसे करना चाहिये? सो बताते हैं।

आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये इन्द्रिय और मनसे जो परलक्ष्य होता है उसे बदलकर मतिज्ञानको स्व में एकाग्र करते हुये आत्माका लक्ष्य होता है अर्थात् आत्माकी प्रगट रूपमें प्रसिद्धि होती है। आत्माका प्रगट रूपमें अनुभव होना ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन ही धर्म है।

धर्मके लिये पहले क्या करना चाहिये?

यह कर्ता कर्म अधिकारकी अन्तिम गाथा है, इस गाथामें जिज्ञासु को मार्ग बताया है। लोक कहते हैं कि आत्माके सम्बन्धमें कुछ समझमें न आये तो पुण्यके शुभभाव करना चाहिये या नहीं?

उत्तर—पहले स्वभावको समझना ही धर्म है धर्मके द्वारा ही संसारका अंत है, शुभभावसे धर्म नहीं होता और धर्मके विना संसारका अन्त नहीं होता। धर्म तो अपना स्वभाव है, इसलिये पहले स्वभावको समझना चाहिये।

प्रश्न—स्वभाव समझमें न आये तो क्या करना चाहिये? समझने में देर लगे और एकाध भव हो तो क्या अशुभभाव करके मर जाय?

उत्तर—पहले तो यह हो ही नहीं सकता कि यह बात समझमें न आये। समझनेमें विलम्ब हो तो वहाँ समझनेके लक्ष्यसे अशुभभावको दूर करके शुभभाव करनेसे इनकार नहीं है, परन्तु यह जान लेना चाहिये कि शुभभावसे धर्म नहीं होता। जबतक किसी भी जड़ वस्तुकी क्रिया और रागकी क्रियाको जीव अपनी मानता है तबतक वह यथार्थ समझके मार्गपर नहीं है।

सुखका मार्ग सच्ची समझ और विकारका फल जड़ है।

यदि आत्माकी सच्ची रुचि हो तो समझका मार्ग लिये विना न रहे। सत्य चाहिये हो, सुख चाहिये हो तो यही मार्ग है। समझनेमें भले विलम्ब हो जाय किन्तु मार्ग तो सच्ची समझका ही लेना चाहिये न?

सच्ची समझका मार्ग ग्रहण करे तो सत्य समझमें आये बिना न रहे। यदि ऐसे मनुष्य शरीरमें और सत्समागमके योगसे भी सत्य समझमें न आये तो फिर सत्यका ऐसा सुयोग नहीं मिलता। जिसे यह खबर नहीं है कि मैं कौन हूँ और यहीं स्वरूप को भूल कर जाता है वह जहाँ जायेगा वहाँ क्या करेगा? शांति कहाँ से लायेगा? आत्माकी प्रतीतिके बिना कदाचित शुभ भाव किये हों तो भी उस शुभका फल जड़में जाता है। आत्मामें पुण्यका फल नहीं आता। जिसने आत्माकी परवाह नहीं की और यहीं से जो मूढ़ होगया है उसने यदि शुभभाव किया भी तो रजकणों का बन्ध हुआ और उन रजकणोंके फलमें भी उस रजकणोंका ही संयोग मिलेगा। रजकणोंका संयोग मिला तो उसमें आत्माके लिये क्या है? आत्माकी शांति तो आत्मामें है किन्तु उसकी परवाह तो की नहीं।

असाध्य कौन हैं और शुद्धात्मा कौन हैं?

यहीं पर जड़का लक्ष्य करके जड़ जैसा होगया है, मरनेसे पूर्व ही अपने को भूलकर संयोग दृष्टिसे मरता है असाध्यभावसे वर्तन करता है इसलिये चैतन्य स्वरूपकी प्रतीति नहीं है। वह जीते जी असाध्य ही है। भले ही शरीर हिले डुले और बोले, किन्तु यह जड़की क्रिया है उसका मालिक हुआ, किन्तु अन्तरंगमें साध्य जो ज्ञानस्वरूप है उसकी जिसे खबर नहीं है, वह असाध्य (जीवित मुर्दा) है। वस्तुका स्वभाव यथार्थतया सम्यग्दर्शन पूर्वक जो ज्ञान है उससे न समझे तो जीवको स्वरूपका किंचित् मात्र भी लाभ नहीं है। सम्यग्दर्शन और ज्ञानसे स्वरूपकी पहिचान और निर्णय करके जो स्थिर हुआ, उसीको 'शुद्ध आत्मा' का नाम प्राप्त होता है और शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा विकल्प छूटकर अकेला आत्मानुभव रह जाय सो यही सम्यग्दर्शन, और सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं आत्मासे पृथक नहीं है।

जिसे सत्य चाहिये ही ऐसे जिज्ञासु समझदार जीवको यदि कोई

असत्य बताये तो वह असत्यको स्वीकार नहीं कर लेता। जिसे सत्स्वभाव चाहिये हो वह स्वभावसे विरुद्ध भावको स्वीकार नहीं करता–उसे अपना नहीं मानता। वस्तुका स्वरूप शुद्ध है, उसका बराबर निर्णय किया और वृत्तिके छूट जाने पर जो अभेद शुद्ध अनुभव हुआ वही समयसार है और वही धर्म है। ऐसा धर्म कैसे हो धर्म करनेके लिये पहले क्या करना चाहिये ? इसके सम्बन्धमें यह कथन चल रहा है।

धर्मकी रुचिवाले जीव कैसे होते हैं ?

धर्मके लिये सर्व प्रथम श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेकर श्रवण–मनन से ज्ञान स्वभावी आत्माका निश्चय करना कि मैं एक ज्ञान स्वभाव हूँ। ज्ञानमें ज्ञानके अतिरिक्त कुछ भी करने धरनेका स्वभाव नहीं है। इसप्रकार सत्को समझनेमें जो समय जाता है वह भी अनन्तकालमें कभी नहीं किया गया अपूर्व अभ्यास है। जीवकी सत्की ओर रुचि होती है अर्थात् वैराग्य जागृत होता है और समस्त संसारके ओरकी रुचि उड़ जाती है। चौरासीके अवतारका त्रास अनुभव होने लगता है कि यह त्रास कैसा ? स्वरूपकी प्रतीति नहीं होती और प्रतिक्षण पराश्रय भावमें लगा रहना पड़ता है, यह भी कोई मनुष्यका जीवन है। तिर्यंच इत्यादिके दुःखोंकी तो बात ही क्या, परन्तु इस मानवका भी ऐसा दुःखी जीवन। और यह अन्तमें स्वरूपकी प्रतीतिके बिना असाध्य होकर- मरता है ? इसप्रकार संसार के त्रासका अनुभव होने पर स्वरूपको समझनेकी रुचि होती है। वस्तुको समझनेके लिये जो समय जाता है वह भी ज्ञानकी क्रिया है सत्का मार्ग है।

जिज्ञासुओंको पहले ज्ञान स्वभावी आत्माका निर्णय करना चाहिये। मैं एक ज्ञाता हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, वह जानने वाला है, पुण्य पाप कोई मेरे ज्ञानका स्वरूप नहीं है। पुण्य पापके भाव अथवा स्वर्ग नरकादि कोई मेरा स्वभाव नहीं है। इसप्रकार श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माका प्रथम निर्णय करना ही प्रथम उपाय है।

उपादान निमित्त और कार्य कारण

सच्चे श्रुतज्ञानके अवलम्बनके बिना और श्रुतज्ञानसे ज्ञानस्वभावी आत्माका निर्णय किये बिना आत्मा अनुभवमें नहीं आता। इसमें आत्मा का अनुभव करना सो कार्य है। आत्माका निर्णय उपादान कारण है और श्रुतका अवलम्बन निमित्त है। श्रुतके अवलम्बनसे ज्ञान स्वभावका जो निर्णय किया उसका फल उस निर्णयके अनुसार आचरण अर्थात् अनुभव करना है। आत्माका निर्णय कारण है और आत्माका अनुभव कार्य है। अर्थात् जो निर्णय करता है उसे अनुभव होता ही है।

अंतरंग अनुभवका उपाय अर्थात् ज्ञानकी क्रिया

अब आत्माका निर्णय करनेके बाद यह बताते हैं कि उसका प्रगट अनुभव कैसे करना चाहिये। निर्णयानुसार श्रद्धाका जो आचरण सो अनुभव है। प्रगट अनुभवमें शांतिका वेदन लानेके लिये अर्थात् आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये परपदार्थकी प्रसिद्धिके कारण को छोड़ देना चाहिये। मैं ज्ञानानन्द स्वरूपी आत्मा हूँ इसप्रकार प्रथम निश्चय करनेके बाद आत्माके आनन्दका प्रगट उपभोग करनेके लिये (वेदन-अनुभव करनेके लिये) पर पदार्थकी प्रसिद्धिके कारण जो इन्द्रिय और मनके द्वारा पर लक्ष्यमें प्रवर्तमान ज्ञान है उसे अपनी ओर उन्मुख करना चाहिये। देव गुरु शास्त्र इत्यादि पर पदार्थकी ओरका लक्ष्य तथा मनके अवलम्बनसे प्रवर्तमान बुद्धि अर्थात् मतिज्ञानको संकुचित करके-मर्यादामें लाकर अपनी ओर ले आना सो अन्तरंग अनुभवका पंथ है, सहज शीतल स्वरूप अनाकुल स्वभाव की छायामें बैठनेका प्रथम मार्ग है।

पहले आत्मा ज्ञान स्वभाव है ऐसा बराबर निश्चय करके पश्चात् प्रगट अनुभव करनेके लिये परकी ओर झुकते हुये भाव जो मति और श्रुतज्ञान हैं उन्हें स्व की ओर एकाग्र करना चाहिये और जो ज्ञान परमें विकल्प करके अटक जाता है उसी ज्ञानको वहाँसे हटाकर स्वभावकी ओर लाना चाहिये। मति और श्रुतज्ञानके जो भाव हैं वे तो ज्ञानमें ही रहते हैं,

परन्तु पहले वे परकी ओर झुकते थे, परन्तु अब उन्हें आत्मोन्मुख करते हुये स्वभाव की ओर लक्ष्य होता है। आत्माके स्वभावमें एकाग्र होनेकी यह क्रमिक सीढ़ियाँ है।

ज्ञानमें भव नहीं

जिसने मनके अवलम्बनसे प्रवर्तमान ज्ञानको मनसे छुड़ाकर अपनी ओर किया है अर्थात् जो मतिज्ञान परकी ओर जाता था उसे मर्यादा में लेकर आत्म सन्मुख किया है उसके ज्ञानमें अनन्त संसारका नास्तिभाव और ज्ञान स्वभावका अस्ति भाव है। ऐसी समझ और ऐसा ज्ञान करनेमें अनन्त पुरुषार्थ है। स्वभावमें भव नहीं है इसलिये जिसके स्वभावकी ओर का पुरुषार्थ जागृत हुआ है उसे भवकी शंका नहीं रहती। जहाँ भवकी शंका है वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं है और जहाँ सच्चा ज्ञान है वहाँ भवकी शका नहीं है, इसप्रकार ज्ञान और भवकी एक दूसरेमें नास्ति है।

पुरुषार्थके द्वारा सत्समागमसे मात्र ज्ञान स्वभावी आत्माका निर्णय किया, पश्चात् मैं अबन्ध हूँ या बन्ध वाला हूँ, शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ, त्रिकाल हूँ या क्षणिक हूँ इत्यादि जो वृत्तियाँ उठती हैं उनमें भी अभी आत्म शांति नहीं है। वे वृत्तियाँ आकुलतामय आत्म शांतिकी विरोधिनी हैं। नय पक्षके अवलम्बनसे होने वाले मन सम्बन्धी अनेक प्रकारके जो विकल्प हैं उन्हें भी मर्यादामें लाकर अर्थात् उन विकल्पों को रोकनेके पुरुषार्थके द्वारा श्रुतज्ञान को भी आत्मसन्मुख करने पर शुद्धात्माका अनुभव होता है। इसप्रकार मति और श्रुतज्ञानको आत्म सन्मुख करना ही सम्यग्दर्शन है। इन्द्रिय और मनके अवलम्बनसे मतिज्ञान पर लक्ष्यमें प्रवृत्ति कर रहा था उसे तथा मनके अवलम्बनसे श्रुतज्ञान अनेक प्रकारके नयपक्षोंके विकल्पमें अटक जाता था उसे अर्थात् परावलम्बनसे प्रवर्तमान मतिज्ञान और श्रुत ज्ञानको मर्यादामें लाकर—अंतरंग स्वभाव सन्मुख करके उन ज्ञानोंके द्वारा एक ज्ञान स्वभाव को पकड़कर (लक्ष्यमें लेकर) निर्विकल्प होकर तत्काल

निज रससे ही प्रगट होने वाले शुद्धात्माका अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

इसप्रकार अनुभवमें आनेवाला शुद्धात्मा कैसा है ? सो कहते हैं।

आदि मध्य और अन्तसे रहित त्रिकाल एकरूप है उसमें बंध मोक्ष नहीं है, अनाकुलता स्वरूप है। मैं शुद्ध हूं या अशुद्ध हूं ऐसे विकल्पसे होने वाली आकुलतासे रहित है। लक्ष्यमेंसे पुण्य पापका आश्रय छूटकर मात्र आत्मा ही अनुभवरूप है, मात्र एक आत्मामें पुण्य-पापके कोई भाव नहीं हैं। मानों समस्त विश्वके ऊपर तैर रहा हो अर्थात् समस्त विभावोंसे पृथक् होगया हो ऐसा चैतन्य स्वभाव पृथक् अखंड प्रतिभासमय अनुभव होता है, आत्माका स्वभाव पुण्य पापके ऊपर तैरता है। तैरता है अर्थात् उसमें एकमेक नहीं हो जाता, उसरूप नहीं हो जाता परन्तु उससे अलगका अलग ही रहता है। अनन्त है अर्थात् जिसके स्वभावमें कभी अन्त नहीं है, पुण्य पाप तो अन्तवाले हैं, ज्ञानस्वरूप अनन्त है और विज्ञान घन है-मात्र ज्ञानका ही पिंड है। मात्र ज्ञानपिंडमें किंचित् मात्र भी रागद्वेष नहीं है। अज्ञान भावसे राग का कर्ता था परन्तु स्वभाव भावसे राग का कर्ता नहीं है। अखंड आत्म स्वभावका अनुभव होने पर जो २ अस्थिरताके विभाव थे उन सब ने छूटकर जब यह आत्मा विज्ञानघन अर्थात् जिसमें कोई विकल्प प्रवेश नहीं कर सकते ऐसे ज्ञानका निविड़ पिंडरूप परमात्म स्वरूप समयसार हैं उसका अनुभव करता है तब वह स्वयं सम्यग्दर्शन स्वरूप है।

निश्चय और व्यवहार

इसमें निश्चय—व्यवहार दोनों आजाते हैं। अखंड विज्ञानघन स्वरूप ज्ञानस्वभावी जो आत्मा है सो निश्चय है और परिणतिको स्वभावके सन्मुख करना सो व्यवहार है। मतिश्रुतज्ञानको अपनी ओर करनेकी पुरुषार्थरूपी जो पर्याय है सो व्यवहार है और जो अखंड आत्मस्वभाव सो निश्चय है जब मतिश्रुतज्ञानको स्व की ओर किया और आत्माका अनुभव किया उसी समय आत्मा सम्यकरूपसे दिखाई देता है और उसकी श्रद्धा की

जाती है यह सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके समयकी बात की है।

सम्यग्दर्शन होने पर क्या होता है ?

सम्यग्दर्शन होने पर स्वरसका अपूर्व आनंद अनुभवमें आता है। आत्माका सहज आनन्द प्रगट होता है, आत्मीक आनन्दका उछाल आता है अंतरंगमें आत्मशांतिका संवेदन होता है आत्माका सुख अंतरंगमें है वह अनुभवमें आता है, इस अपूर्व सुखका मार्ग सम्यग्दर्शन ही है 'मैं भगवान आत्मा समयसार हूँ' इसप्रकार जो निर्विकल्प शांतरस अनुभवमें आता है वही समयसार और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन और आत्मा दोनों अभेद किये गये हैं। आत्मा स्वयं सम्यग्दर्शन स्वरूप है।

बारम्बार ज्ञानमें एकाग्रता का अभ्यास करना चाहिये

सर्वप्रथम आत्माका निर्णय करके पश्चात् अनुभव करनेको कहा है। सर्वप्रथम जबतक यह निर्णय न हो कि मै निश्चय ज्ञानस्वरूप हूं अन्य कोई रागादि मेरा स्वरूप नहीं है तबतक सच्चे श्रुतज्ञानको पहचान कर उसका परिचय करना चाहिये, सत् श्रुतके परिचयसे ज्ञान स्वभावी आत्मा का निर्णय करनेके बाद मति श्रुतज्ञानको उस ज्ञान स्वभावकी ओर झुकाने का प्रयत्न करना चाहिये तथा निर्विकल्प होनेका पुरुषार्थ करना चाहिये यही पहला अर्थात् सम्यक्त्वका मार्ग है। इसमें तो बारम्बार ज्ञानमें एकाग्रताका अभ्यास ही करना है बाह्य कुछ नहीं करना है किन्तु ज्ञानमें ही समझ और एकाग्रताका प्रयास करना है। ज्ञानमें अभ्यास करते २ जहाँ एकाग्र हुआ वहाँ उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके रूपमें यह आत्मा प्रगट होता है, यही जन्म मरणको दूर करनेका उपाय है। मात्र ज्ञायक स्वभाव है, उसमें अन्य कुछ करनेका स्वभाव नहीं है। निर्विकल्प अनुभव होनेमे पूर्व ऐसा निश्चय करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि अन्य कुछ माने तो व्यवहारसे भी आत्माका निश्चय नहीं है। अनन्त उपवास करे तो भी आत्माका ज्ञान नहीं होता। बाहर दौड़ धूप करे तो उससे भी ज्ञान नहीं होता किन्तु ज्ञान स्वभावकी पकड़से ही ज्ञान होता है। आत्माकी ओर

लक्ष्य और श्रद्धा किये बिना सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान कहाँसे हो सकता है ? पहले देवशास्त्रगुरुके निमित्तोंसे अनेक प्रकार श्रुतज्ञानको जानने और उसमेंसे एक आत्माको पहिचाने, फिर उसका लक्ष्य करके प्रगट अनुभव करनेके लिये मतिश्रुतज्ञानसे बाहर झुकती हुई पर्यायोंको स्वसन्मुख करनेपर तत्काल निर्विकल्प निज स्वभावरस आनन्दका अनुभव होता है। आत्मा जिस समय परमात्म स्वरूपका दर्शन करता है उसी समय स्वयं सम्यग्दर्शनरूप प्रगट होता है। जिसे आत्माकी प्रतीति होगई उसे बादमें विकल्प उठता है तब भी जो आत्मदर्शन होगया है उसकी प्रतीति तो रहती ही है अर्थात् आत्मानुभव होनेके बाद विकल्प उठनेसे सम्यग्दर्शन चला नहीं जाता। किसी वेष या मर्यादामें सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु स्वरूप ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दर्शनसे ज्ञान स्वभावी आत्माका निश्चय करनेके बाद भी शुभभाव आते तो है परन्तु आत्महित ज्ञान स्वभावका निश्चय करनेसे ही होता है। जैसे २ ज्ञान स्वभावकी दृढ़ता बढ़ती जाती है वैसे २ शुभभाव भी दूर होते जाते हैं। बाह्य लक्ष्यसे जो वेदन होता है वह सब दुःखरूप है। आत्मा आंतरिक शान्तरसकी ही मूर्ति है, उसके लक्ष्यसे जो वेदन होता है वही सुख है। सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, गुण गुणीसे पृथक् नहीं होता। एक अखण्ड प्रतिभासमय आत्माका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।

अन्तिम अनुरोध

आत्म कल्याणका यह छोटेसे छोटा (जो सबसे हो सकता है।) उपाय है। अन्य सब उपायोंको छोड़कर इसीको करना है बाह्यमें हितका साधन लेशमात्र भी नहीं है। सत्समागमसे एक आत्माका ही निश्चय करना चाहिये। वास्तविक तत्त्वकी श्रद्धाके बिना आंतरिक संवेदनका आनंद नहीं जमता। पहले अन्तरंगसे सत्की स्वीकृति आये बिना सत् स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता और सत् स्वरूपका ज्ञान हुये बिना भवबंधनकी बेड़ी नहीं टूट सकती और भवबंधनके अन्तसे रहित जीवन किस कामका ? भवके

अन्तकी श्रद्धाके बिना कदाचित् पुण्य करे तो उसका फल राजपद अथवा इन्द्रपद हो सकता है परन्तु उससे आत्माको क्या लाभ है ? आत्माकी प्रतीति के बिना यह पुण्य और यह इन्द्रपद सब व्यर्थ ही हैं, उसमें आत्म शांतिका अंश भी नहीं है इसलिये पहले श्रुतज्ञानके द्वारा ज्ञानस्वभावका दृढ़ निश्चय करनेपर प्रतीतिमें भवकी शंका ही नहीं रहती और जितनी ज्ञानकी दृढ़ता होती है उतनी शान्ति बढ़ती जाती है।

भाई ! तू कैसा है, तेरी प्रभुताकी महिमा कैसी है इसे तूने नहीं जाना। तू अपनी प्रभुताकी भानके बिना बाहर जिस तिसके गीत गाया करे तो इससे तुझे अपनी प्रभुताका लाभ नहीं होगा। परके गीत तो गाये परंतु अपने गीत नहीं गाये। भगवानकी प्रतिमाके समक्ष कहे कि 'हे नाथ ! हे भगवान ! आप अनन्त ज्ञानके धनी हो, वहाँ सामनेसे भी यही प्रति ध्वनि हो कि 'हे नाथ ! हे भगवान ! आप अनन्त ज्ञानके धनी हो' तभी तो अन्तरंगमें पहचान करके अपनेको समझेगा। बिना पहिचानके अंतरंगमें सच्ची प्रतिध्वनि जागृत नहीं हो सकती।

शुद्धआत्मस्वरूपका संवेदन कहो, ज्ञान कहो, श्रद्धा कहो, चारित्र कहो, अनुभव कहो या साक्षात्कार कहो—जो भी कहो एक आत्मा ही है। अधिक क्या कहा जाय ? जो कुछ है वह एक आत्मा ही है। उसीको भिन्न भिन्न नामसे कहा जाता है। केवलीपद, सिद्धपद अथवा साधुपद यह सब एक आत्मामें ही समा जाते हैं। समाधि मरण, आराधना इत्यादि नाम भी स्वरूपकी स्थिरता ही है। इसप्रकार आत्मस्वरूपकी समझ ही सम्यग्दर्शन है, और यह सम्यग्दर्शन ही सर्वधर्मका मूल है। सम्यग्दर्शन ही आत्माका धर्म है।

२६. एकबार भी जो मिथ्यात्वका त्याग करे तो जरूर मोक्ष पावे।

प्रश्न—यह जीव जैनका नामधारी त्यागी साधु अनन्तबार हुआ फिर भी उसे अभी तक मोक्ष क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—जैनका नामधारी त्यागी साधु अनन्तबार हुआ यह बात ठीक है, किन्तु अन्तरंगमें मिथ्यात्वरूप महा पापका त्याग एकबार भी नहीं किया इसलिये उसका संसार बना हुआ है, क्योंकि संसारका कारण मिथ्यात्व ही है।

प्रश्न—तो फिर त्यागी साधु हुआ उसका फल क्या ?

उत्तर—बाह्यमें जो पर द्रव्यका त्याग हुआ उसका फल आत्माको नहीं होता परन्तु "मैं इस परद्रव्यको छोड़ूं" यह माने तो ऐसी परद्रव्यकी कर्तृत्व बुद्धिका महा पाप आत्माको होता है और उसका फल संसार ही है। यदि कदाचित् कोई जीव बाहरसे त्यागी न दिखाई दे परन्तु यदि उसने सच्ची समझके द्वारा अन्तरंगमें पर द्रव्यकी कर्तृत्व बुद्धिका अनन्त पाप त्याग दिया हो तो वह धर्मी है और उसके उस त्यागका फल मोक्ष है। पहलेके नामधारी साधुकी अपेक्षा दूसरा मिथ्यात्वका त्यागी अनन्त गुना उत्तम है। पहलेको मिथ्यात्वका अत्याग होनेसे वह संसारमें परिभ्रमण करेगा और दूसरेको मिथ्यात्वका त्याग होनेसे वह अल्पकालमें अवश्य मोक्ष जायेगा।

प्रश्न—तब क्या हमें त्याग नहीं करना चाहिये ?

उत्तर—इस प्रश्नका उत्तर उपरोक्त कथनमें आगया है। 'त्याग नहीं करना चाहिये' यह बात उपरोक्त कथनमें कहीं भी नहीं है प्रत्युत इस कथनमें यह बताया है कि त्यागका फल मोक्ष और अत्यागका फल संसार किन्तु त्याग किसका ? मिथ्यात्वका या पर वस्तुका ? मिथ्यात्वके ही त्यागका फल मोक्ष है' परवस्तुका ग्रहण अथवा त्याग कोई कर ही नहीं सकता तब फिर परवस्तुके त्यागका प्रश्न कहाँसे उठ सकता है। बाह्यमें जो पर द्रव्यका त्याग हुआ उसका फल आत्माको नहीं है। पहले यथार्थ ज्ञानके द्वारा पर द्रव्यमें कर्तृत्वकी बुद्धिको छोड़ कर उस समझमें ही अनंत पर द्रव्यके स्वामित्वका त्याग होता है। परमें कर्तृत्वकी मान्यताका त्याग करनेके बाद जिस जिस प्रकारके राग भावका त्याग करता है उस उस

प्रकारके बाह्य निमित्त स्वतः ही दूर हो जाते हैं। बाह्य निमित्तोंके दूर होजाने का फल आत्माको नहीं मिलता, किन्तु भीतर जो राग भाव का त्याग किया उस त्यागका फल आत्माको मिलता है।

इससे स्पष्टतया यह निश्चय होता है कि सर्व प्रथम 'कोई पर द्रव्य मेरा नहीं है और मैं किसी परद्रव्यका कर्ता नहीं हूँ' इसप्रकार दृष्टिमें (अभिप्रायमें, मान्यतामें) सर्व परद्रव्यके स्वामित्वका त्याग हो जाना चाहिये जब ऐसी दृष्टि होती है तभी त्यागका प्रारम्भ होता है अर्थात् सर्व प्रथम मिथ्यात्वका ही त्याग होता है। जब तक ऐसी दृष्टि नहीं होती और मिथ्यात्वका त्याग नहीं होता तबतक किंचित् मात्र भी सच्चा त्याग नहीं होता और सच्ची दृष्टि पूर्वक मिथ्यात्वका त्याग करनेके बाद क्रमशः ज्यों ज्यों स्वरूपकी स्थिरताके द्वारा रागका त्याग करता है त्यों त्यों उसके अनुसार बाह्य संयोग स्वयं छूटते जाते है परद्रव्य पर आत्माका पुरुषार्थ नहीं चलता इसलिये परद्रव्यका ग्रहण-त्याग आत्माके नहीं है किन्तु अपने भाव पर अपना पुरुषार्थ चल सकता है और अपने भावका ही फल आत्माको है।

ज्ञानी कहते है कि सर्व प्रथम पुरुषार्थके द्वारा यथार्थ ज्ञान करके मिथ्यात्व भावको छोड़ो यही मोक्षका कारण है।

अमृत पान करो !

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य जीवों! तुम इस सम्यग्दर्शन रूपी अमृतको पियो। यह सम्यग्दर्शन अनुपम सुखका भंडार है-सर्व कल्याणका बीज है और संसार समुद्रसे पार उतरनेके लिये जहाज है, एक मात्र भव्य जीव ही इसे प्राप्त कर सकते हैं। पापरूपी वृक्षको काटनेके लिये यह कुल्हाड़ीके समान है। पवित्र तीर्थोंमें यही एक पवित्र तीर्थ है और मिथ्यात्वका नाशक है।

[ज्ञानार्णव अ० ६ श्लोक ५६]

(२७) अपूर्व—पुरुषार्थ

जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका-पूर्वमें कभी नहीं किया ऐसा—अनन्त सम्यक् पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया है और इसप्रकार सपूर्ण स्वरूपका साधक हुआ है वह जीव किसी भी संयोगमें, भयसे, लज्जासे, लालच से अथवा किसी भी कारणसे असत्को पोषण नहीं ही देता…… इसके लिये कदाचित् किसी समय देह छूटने तककी भी प्रतिकूलता आजाये तो भी वह सत्से च्युत नहीं होता-असत्का कभी आदर नही करता। **स्वरूपके साधक निःशंक और निडर होते हैं।** सत् स्वरूपकी श्रद्धाके वलमें और सत्के महात्म्य के निकट उन्हे किसी प्रकार की प्रतिकूलता है ही नही। यदि सत्से किंचित् मात्र च्युत हों तो उन्हे प्रतिकूलता आयी कहलाये, परन्तु जो प्रतिक्षण सत्में विशेष विशेष दृढ़ता कर रहे हैं उन्हे तो अपने असीम पुरुषार्थके निकट जगतमें कोई भी प्रतिकूलता ही नहीं है। वे तो परिपूर्ण सत् स्वरूपके साथ अभेद हो गये है-उन्हे डिगानेके लिये त्रिलोकमें कौन समर्थ है ? अहो ! धन्य है ऐसे स्वरूपके साधकोंको !!

सम्यक्त्वकी आराधना

"ज्ञान, चारित्र और तप इन तीनों गुणोंको उज्ज्वल करने वाली-ऐसी यह सम्यक् श्रद्धा प्रधान आराधना है। शेप तीन आराधनाएं एक सम्यक्त्वकी विद्यमानतामें ही आराधक भावसे वर्तती हैं। इसप्रकार सम्यक्त्वकी अकथ्य, अपूर्व महिमा जानकर उस पवित्र कल्याण मूर्तिरूप सम्यग्दर्शनको इस अनन्तानंत दुःखरूप-ऐसे अनादि संसारकी अत्यंतिक निवृत्तिके अर्थ हे भव्यो ! तुम भक्तिपूर्वक अंगीकार करो ! प्रति समय आराधो !" [आत्मानुशासन]

(२८) श्रद्धा-ज्ञान और चारित्रकी भिन्न भिन्न अपेक्षायें

सम्यग्दर्शन की परम महिमा है। दृष्टिकी महिमा वतानेके लिये सम्यग्दृष्टिके भोगको भी निर्जराका कारण कहा है। समयसार गाथा १९३ में कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव जिन इन्द्रियोंके द्वारा चेतन तथा अचेतन द्रव्यका उपभोग करता है वह सव निर्जराका निमित्त है और उसीमें मोक्ष अधिकारमें छट्ठे गुणस्थानमें मुनिके जो प्रतिक्रमणादिकी शुभवृत्ति उद्भूत होती है उसे विष कुम्भ कहा है। सम्यग्दृष्टिकी अशुभ भावनाको निर्जराका कारण और मुनिकी शुभभावनाको विष कहा है। इसका समन्वय क्यों कर हो सकता है।

जहाँ सम्यग्दृष्टिके भोगकी निर्जराका कारण कहा है वहाँ यह कहने का तात्पर्य नहीं है कि भोग अच्छे है किन्तु वहाँ दृष्टिकी महिमा वताई है। अवंध स्वभावकी दृष्टिका वल वधको स्वीकार नहीं करता उसकी महिमा वताई गई है अर्थात् दृष्टिकी अपेक्षासे वह वात कही है। जहाँ मुनिकी व्रतादि की शुभ भावनाको विष कहा है वहाँ चारित्रकी अपेक्षासे कथन है। हे मुनि! तूने शुद्धात्म चारित्र अंगीकार किया है, परम केवलज्ञानकी उत्कृष्ट साधक-दशा प्राप्त की है और अव जो व्रतादिकी वृत्ति उत्पन्न होती है वह तेरे शुद्धात्म चारित्रको और केवलज्ञानको रोकनेवाली है इसलिये वह विष है।

सम्यग्दृष्टिके स्वभाव दृष्टिका जो वल है वह निर्जराका कारण है और वह दृष्टिमें वंधको अपना स्वरूप नहीं मानता, स्वयं रागका कर्ता नहीं होता, इसलिये उसे अवंध कहा है, परन्तु चारित्रकी अपेक्षासे तो उसके वन्धन है। यदि भोगसे निर्जरा होती हो तो अधिक भोगसे अधिक निर्जरा होनी चाहिये किन्तु ऐसा तो नहीं होता। सम्यग्दृष्टिके जो राग वृत्ति उत्पन्न

होती है उसे दृष्टिकी अपेक्षा ने वह अपनी नहीं मानता। ज्ञानकी अपेक्षासे वह यह जानता है कि 'अपने पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण राग होता है' और चारित्रकी अपेक्षासे उस रागको विष मानता है, दुःख-दुःख मालूम होता है। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान और चारित्रमेंसे जब दर्शनकी मुख्यतासे बात चल रही हो तब सम्यग्दृष्टिके भोगको भी निर्जराका कारण कहा जाता है। स्वभाव दृष्टिके बलसे प्रति समय उसकी पर्याय निर्मल होती जाती है अर्थात् वह प्रतिक्षण मुक्त ही होता जाता है। जो राग होता है उसे जानता तो है किन्तु स्वभावमें उसे अस्तिरूप नहीं मानता और इस मान्यताके बल पर ही रागका सर्वथा अभाव करता है। इसलिये सच्ची दृष्टिकी अपार महिमा है।

सच्ची श्रद्धा होने पर भी जो राग होता है वह राग चारित्रको हानि पहुँचाता है परन्तु सच्ची श्रद्धाको हानि नहीं करता, इसलिये श्रद्धाकी अपेक्षा से तो सम्यग्दृष्टिके जो राग होता है वह बंधका कारण नहीं, किंतु निर्जरा का ही कारण है-ऐसा कहा जाता है। किन्तु श्रद्धाके साथ चारित्रकी अपेक्षाको भूल नहीं जाना चाहिये।

चारित्रकी अपेक्षासे छठे गुणस्थानवर्ती मुनिकी शुभ वृत्तिको भी विष कहा है तब फिर सम्यग्दृष्टिके भोगके अशुभभावकी तो बात ही क्या है? अहो! परम शुद्ध स्वभावके भानमें मुनिकी शुभ वृत्तिको भी जो विष मानता है वह अशुभ भावको क्यों कर भला मान सकता है? जो स्वभावके भानमें शुभवृत्तिको भी विष मानता है वह जीव स्वभावके बलसे शुभ वृत्ति को तोड़कर पूर्ण शुद्धता प्रगट करेगा, परन्तु वह अशुभको तो कदापि आदरणीय नहीं मानेगा।

सम्यग्दृष्टि जीव श्रद्धाकी अपेक्षासे तो अपनेको संपूर्ण परमात्मा ही

मानता है तथापि चारित्रकी अपेक्षासे अपूर्ण पर्याय होनेसे तृणतुल्य मानता है, अर्थात् वह यह जानकर कि अभी अनन्त अपूर्णता विद्यमान है, स्वभावकी स्थिरताके प्रयत्नसे उसे टालना चाहता है। ज्ञानकी अपेक्षासे जितना राग है उसका सम्यग्दृष्टि ज्ञाता है। किन्तु रागको निर्जरा अथवा मोक्ष का कारण नहीं मानता और ज्यों ज्यों पर्यायकी शुद्धता बढ़ानेपर राग दूर होता जाता है त्यों त्यों उसका ज्ञान करता है। इसप्रकार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र इन तीनोंकी अपेक्षासे इस स्वरूपको समझना चाहिये।

कौन प्रशंसनीय है ?

इस जगतमें जो आत्मा निर्मल सम्यग्दर्शनमें अपनी बुद्धि निश्चल रखता है वह, कदाचित् पूर्व पाप कर्मके उदयसे दुःखी भी हो और अकेला भी हो तथापि, वास्तवमें प्रशंसनीय है। और इससे विपरीत, जो जीव अत्यत आनंदके देने वाले-ऐसे सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयसे बाह्य है और मिथ्यामार्गमें स्थित है-ऐसे मिथ्यादृष्टि मनुष्य भले ही अनेक हों और वर्तमानमें शुभकर्मके उदयसे प्रसन्न हों तथापि वे प्रशंसनीय नहीं हैं। इसलिये भव्यजीवोंको सम्यग्दर्शन धारण करनेका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

[पद्मनन्दि–देशव्रतोद्योतन अ० २]

(२६) सम्यग्दर्शन-धर्म

सम्यग्दर्शन क्या है और उसका अवलम्बन क्या है ?

सम्यग्दर्शन अपने आत्माके श्रद्धा गुणकी निर्विकारी पर्याय है। अखंड आत्माके लक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, सम्यग्दर्शनको किसी विकल्पका अवलम्बन नहीं है किन्तु निर्विकल्प स्वभावके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्माके सर्व सुखका कारण है। 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हू, बन्ध रहित हूं' ऐसा विकल्प करना सो भी शुभराग है, उस शुभरागका अवलम्बन भी सम्यग्दर्शनके नहीं है उस शुभ विकल्प को उल्लघन करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं राग और विकल्प रहित निर्मल गुण है उसके किसी विकारका अवलम्बन नही है किन्तु समूचे आत्माका अवलम्बन है वह समूचे आत्माको स्वीकार करता है।

एक बार विकल्प रहित होकर अखंड ज्ञायक स्वभाव को लक्ष्यमें लिया कि सम्यक् प्रतीति हुई। अखंड स्वभावका लक्ष्य ही स्वरूपकी सिद्धिके लिये कार्यकारी है अखंड सत्यस्वरूपको जाने बिना-श्रद्धा किये बिना 'मै ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ, अबद्ध स्पष्ट हूं' इत्यादि विकल्प भी स्वरूपकी शुद्धिके लिये कार्यकारी नहीं है। एकबार अखण्ड ज्ञायक स्वभावका लक्ष्य करनेके बाद जो वृत्तियाँ उठती हैं वे वृत्तियां अस्थिरताका कार्य करती हैं परन्तु वे स्वरूपको रोकनेके लिये समर्थ नहीं है क्योंकि श्रद्धामें तो वृत्ति-विकल्प रहित स्वरूप है इसलिये जो वृत्ति उठती है वह श्रद्धाको नहीं बदल सकती है जो विकल्पमें ही अटक जाता है वह मिथ्यादृष्टि है विकल्प रहित होकर अभेदका अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है और यही समयसार है। यही बात निम्नलिखित गाथामें कही है:—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णय पक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

'आत्मा कर्मसे बद्ध है या अबद्ध' इसप्रकार दो भेदोंके विचारमें

लगना सो नय का पक्ष है। 'मैं आत्मा हूँ, परसे भिन्न हूँ' इसप्रकारका विकल्प भी राग है। इस राग की वृत्तिको—नयके पक्षको उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो।

'मैं बंधा हुआ हूँ अथवा मै बंध रहित मुक्त हूँ' इसप्रकारकी विचार श्रेणीको उल्लंघन करके जो आत्माका अनुभव करता है सो सम्यग्दृष्टि है और वही समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है। मैं अबन्ध हूँ—बन्ध मेरा स्वरूप नहीं है इसप्रकारके भंगकी विचार श्रेणीके कार्यमें जो लगता है वह अज्ञानी है और उस भंगके विचारको उल्लंघन करके अभंगस्वरूपको स्पर्श करना [अनुभव करना] सो प्रथम आत्मधर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है। मैं पराश्रय रहित अबन्ध शुद्ध हूँ' ऐसे निश्चयनयके पक्षका जो विकल्प है सो राग है और उस रागमें जो अटक जाता है (रागको ही सम्यग्दर्शन मानले किन्तु राग रहित स्वरूपका अनुभव न करे) वह मिथ्यादृष्टि है।

भेदका विकल्प उठता तो है तथापि उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादि कालसे आत्म स्वरूपका अनुभव नहीं है, परिचय नहीं है, इसलिये आत्मानुभव करनेसे पूर्व तत्संबन्धी विकल्प उठे विना नहीं रहते। अनादि कालसे आत्माका अनुभव नहीं है इसलिये वृत्तियोंका उत्थान होता है कि—मै आत्मा कर्मके सम्बन्धसे युक्त हूँ अथवा कर्मके संबंध से रहित हूँ इसप्रकार दो नयोंके दो विकल्प उठने है परन्तु 'कर्मके संबंधसे युक्त हूँ अथवा कर्मके सम्बन्धसे रहित हूं अर्थात् बद्ध हूं या अबद्ध हूँ' ऐसे दो प्रकारके भेदका भी एक स्वरूपमें कहाँ अवकाश है ? स्वरूप तो नय पक्षकी अपेक्षाओंसे परे है, एक प्रकारके स्वरूपमें दो प्रकारकी अपेक्षायें नहीं हैं। मैं शुभाशुभभावसे रहित हूं इसप्रकारके विचारमें लगना भी एक पक्ष है, इससे भी उसपार स्वरूप है, स्वरूप तो पक्षातिकांत है यही सम्यग्दर्शन का विषय है अर्थात् उसीके लक्ष्यसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शनका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप क्या है, देहकी किसी क्रियासे सम्यग्दर्शन नहीं होता, जड़कर्मोंसे नहीं होता, अशुभराग अथवा शुभरागके लक्ष्यसे भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और 'मैं पुण्य पापके परिणामोंसे रहित ज्ञायक स्वरूप हूं' ऐसा विचार भी स्वरूपका अनुभव करानेके लिये समर्थ नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' इसप्रकारके विचारमें जो अटका सो वह भेदके विचारमें अटक गया किन्तु स्वरूप तो ज्ञाताद्रष्टा है उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। भेदके विचारमें अटक जाना सम्यग्दर्शनका स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु है वह अपने आप परिपूर्ण स्वभावसे भरी हुई है आत्मा का स्वभाव परकी अपेक्षासे रहित एकरूप है कर्मोंके सम्बन्धसे युक्त हूं अथवा कर्मोंके सम्बन्धसे रहित हूं, इसप्रकारकी अपेक्षाओंसे उस स्वभावका लक्ष्य नहीं होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबन्ध ही है परंतु 'मैं अबंध हूं' इसप्रकारके विकल्पको भी छोड़कर निर्विकल्प ज्ञाताद्रष्टा निरपेक्ष स्वभावका लक्ष्य करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

हे प्रभु! तेरी प्रभुताकी महिमा अतरंगमें परिपूर्ण है अनादिकालसे उसकी सम्यक् प्रतीतिके बिना उसका अनुभव नहीं होता। अनादिकालसे पर लक्ष्य किया है किन्तु स्वभावका लक्ष्य नहीं किया है। शरीरादिमें तेरा सुख नहीं है, शुभरागमें तेरा सुख नहीं है और 'शुभरागरहित मेरा स्वरूप है' इसप्रकारके भेद विचारमें भी तेरा सुख नहीं है इसलिये उस भेदके विचारमें अटक जाना भी अज्ञानीका कार्य है और उस नय पक्षके भेदका लक्ष्य छोड़कर अभेद ज्ञाता स्वभावका लक्ष्य करना सो सम्यग्दर्शन है और उसीमें सुख है। अभेदस्वभावका लक्ष्य कहो, ज्ञातास्वरूपका अनुभव कहो, सुख कहो, धर्म कहो अथवा सम्यग्दर्शन कहो वह सब यही है।

विकल्प रखकर स्वरूपका अनुभव नहीं हो सकता। अखंडानंद अभेद आत्माका लक्ष्य नयके द्वारा नहीं होता। कोई किसी महलमें जानेके लिये चाहे जितनी तेजीसे मोटर दौड़ाये किन्तु वह महलके दरवाजे तक ही जा सकती है, मोटरके साथ महलके अन्दर कमरेमें नहीं घुसा जा सकता।

मोटर चाहे जहाँतक भीतर ले जाय किन्तु अन्तमें तो मोटरसे उतरकर स्वयं ही भीतर जाना पड़ता है, इसीप्रकार नयपक्षके विकल्पोंवाली मोटर चाहे जितनी दौड़ाये 'मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ' ऐसे विकल्प करे तो भी स्वरूपके आंगन तक ही जाया जा सकता है किंतु स्वरूपानुभव करते समय तो वे सब विकल्प छोड़ देने ही पड़ते हैं। विकल्प रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नय पक्षका ज्ञान उस स्वरूपके आंगनमें आनेके लिये आवश्यक है।

"मैं स्वाधीन ज्ञान स्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड़ है, जड़ कर्म मेरे स्वरूपको नहीं रोक सकते, मैं विकार करूं तो कर्मोंको निमित्त कहा जा सकता है, किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न हैं, वे कोई एक दूसरेका कुछ नहीं करते, मैं जड़का कुछ नही करता और जड़ मेरा कुछ नहीं करता, जो राग-द्वेष होता है उसे कर्म नहीं कराता तथा वह पर वस्तुमें नहीं होता किंतु मेरी अवस्थामें होता है, वह रागद्वेष मेरा स्वभाव नहीं है, निश्चयसे मेरा स्वभाव राग रहित ज्ञान स्वरूप है" इसप्रकार सभी पहलुओं का (नयोंका) ज्ञान पहले करना चाहिये किंतु जबतक इतना करता है तबतक भी भेदका लक्ष्य है। भेदके लक्ष्यसे अभेद आत्मस्वरूपका अनुभव नही हो सकता तथापि पहले उन भेदोंको जानना चाहिये, जब इतना जानले तब समझना चाहिये कि वह स्वरूपके आंगन तक आया है बादमें जब अभेदका लक्ष्य करता है तब भेदका लक्ष्य छूट जाता है और स्वरूपका अनुभव होता है अर्थात् अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसप्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होने से पूर्व नयपक्षके विचार होवे तो हैं परन्तु वे नयपक्षके कोई भी विचार स्वरूपानुभव में सहायक तक नहीं होते।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सम्बन्ध किसके साथ है?

सम्यग्दर्शन निर्विकल्प सामान्य गुण है उसका मात्र निश्चय—अखण्ड स्वभावके साथ ही संबंध है अखंड द्रव्य जो भंग-भेद रहित है वही सम्यग्दर्शनको मान्य है। सम्यग्दर्शन पर्यायको स्वीकार नहीं करता किन्तु

सम्यग्दर्शनके साथ जो सम्यग्ज्ञान रहता है उसका सम्बन्ध निश्चय-व्यवहार दोनोंके साथ है। अर्थात् निश्चय-अखण्ड स्वभावको तथा व्यवहारमें पर्याय के जो भंग-भेद होते हैं उन सबको सम्यग्ज्ञान जान लेता है।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है किंतु सम्यग्दर्शन स्वयं अपनेको यह नहीं जानता कि मैं एक निर्मल पर्याय हूँ। सम्यग्दर्शनका एक ही विषय अखण्ड द्रव्य है, पर्याय सम्यग्दर्शनका विषय नहीं है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनका विषय अखण्ड है और वह पर्यायको स्वीकार नहीं करता तब फिर सम्यग्दर्शनके समय पर्याय कहाँ चली गई ? सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, क्या पर्याय द्रव्यसे भिन्न हो गई ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनका विषय तो अखण्ड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शन के विषयमें द्रव्य गुण पर्यायका भेद नहीं है। द्रव्य गुण पर्यायसे अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शनको मान्य है (अभेद वस्तुका लक्ष्य करने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह सामान्य वस्तुके साथ अभेद हो जाती है) सम्यग्दर्शनरूप जो पर्याय है उसे भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता एक समय में अभेद परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शनको मान्य है, मात्र आत्मा तो सम्यग्दर्शनको प्रतीतिमें लेता है किन्तु सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान सामान्य विशेष सबको जानता है। सम्यग्ज्ञान पर्यायको और निमित्त को भी जानता है, सम्यग्दर्शनको भी जाननेवाला सम्यग्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुये ?

उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिक भाव इत्यादि कोई भी सम्यग्दर्शनका विषय नहीं है क्योंकि वे सब पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है। पर्यायको सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता, मात्र वस्तुका जब लक्ष्य किया तब श्रद्धा सम्यक् हुई परन्तु ज्ञान सम्यक् कब हुआ ? ज्ञानका स्वभाव सामान्य-विशेष सबको जानना है जब ज्ञानने सारे द्रव्यको, प्रगट पर्यायको और विकारको तदवस्थ जानकर इस प्रकारका विवेक किया कि 'जो परिपूर्ण स्वभाव है सो मैं हूँ और जो विकार

है सो मैं नहीं हूं' तब वह सम्यक् हुआ। सम्यक्ज्ञान सम्यग्दर्शनरूप प्रगट पर्यायको और सम्यग्दर्शनकी विषयभूत परिपूर्ण वस्तुको तथा अवस्थाकी कमीको तद्वस्थ जानता है, ज्ञानमें अवस्थाकी स्वीकृति है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन तो एक निश्चयको ही (अभेद स्वरूप को ही) स्वीकार करता है और सम्यग्दर्शनका अविनाभावी (साथ ही रहने वाला) सम्यग्ज्ञान निश्चय और व्यवहार दोनोंको बराबर जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय व्यवहार दोनोंको न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नहीं हो सकता। यदि व्यवहारको लक्ष्य करे तो दृष्टि खोटी (विपरीत) ठहरती है और जो व्यवहारको जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या ठहरता है। ज्ञान निश्चय व्यवहारका विवेक करता है इसलिये वह सम्यक् है (समीचीन है) और दृष्टि व्यवहारके लक्ष्यको छोड़कर निश्चयको स्वीकार करे तो सम्यक् है।

सम्यग्दर्शनका विषय क्या है? और मोक्षका परमार्थ कारण कौन है?

सम्यग्दर्शनके विषयमें मोक्षपर्याय और द्रव्यसे भेद ही नहीं है, द्रव्य ही परिपूर्ण है वह सम्यग्दर्शनको मान्य है। बन्ध मोक्ष भी सम्यग्दर्शनको मान्य नहीं बन्ध-मोक्षकी पर्याय, साधकदशाका भंगभेद इन सभीको सम्यग्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्षका परमार्थ कारण है। पंच महाव्रतादिको अथवा विकल्पको मोक्षका कारण कहना सो स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप साधक अवस्थाको मोक्षका कारण कहना सो भी व्यवहार है क्योंकि उस साधक अवस्थाका भी जब अभाव होता है तब मोक्ष दशा प्रगट होती है। अर्थात् वह अभावरूप कारण है इसलिये व्यवहार है।

त्रिकाल अखंड वस्तु ही निश्चय मोक्षका कारण है किन्तु परमार्थतः तो वस्तुमें कारण कार्यका भेद भी नहीं है, कार्य कारणका भेद भी व्यवहार है। एक अखंड वस्तुमें कार्य कारणके भेदके विचारसे विकल्प होता है इसलिये वह भी व्यवहार है। तथापि व्यवहारसे भी कार्य कारण

भेद है अवश्य। यदि कार्य कारण भेद सर्वथा न हों तो मोक्षदशाको प्रगट करनेके लिये भी नहीं कहा जा सकता। इसलिये अवस्थामें साधक साध्य का भेद है, परन्तु अभेदके लक्ष्यके समय व्यवहारका लक्ष्य नहीं होता क्योंकि व्यवहारके लक्ष्यमें भेद होता है और भेदके लक्ष्यमें परमार्थ-अभेद स्वरूप लक्ष्यमें नहीं आता इसलिये सम्यग्दर्शनके लक्ष्यमें अभेद ही होते। एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्यदर्शनका विषय है।

सम्यग्दर्शन ही शांतिका उपाय है।

अनादिसे आत्माके अखंड रसको सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं जाना इसलिये परमें और विकल्पमें जीव रसको मान रहा है। परन्तु मैं अखंड एकरूप स्वभाव हूँ उसीमें मेरा रस है। परमें कहीं भी मेरा रस नहीं है। इसप्रकार स्वभावदृष्टिके बलसे एकवार सबको नीरस बनादे, जो शुभ विकल्प उठते हैं वे भी मेरी शांतिके साधक नहीं हैं। मेरी शांति मेरे स्वरूप में है, इसप्रकार स्वरूपके रसानुभवमें समस्त संसारको नीरस बनादे तो तुझे सहजानन्द स्वरूपके अमृत रसकी अपूर्व शांतिका अनुभव प्रगट होगा, उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

संसारका अभाव सम्यग्दर्शन से ही होता है।

अनन्तकालसे अनन्त जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं और अनन्त कालमें अनन्त जीव सम्यग्दर्शनके द्वारा पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति करके मुक्तिको प्राप्त हुये हैं इस जीवने संसार पक्ष तो (व्यवहारका पक्ष) अनादिसे ग्रहण किया है-परन्तु सिद्ध परामात्माका पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया, अब अपूर्व रुचिसे निःसंदेह बनकर सिद्धका पक्ष करके अपने निश्चय सिद्ध स्वरूपको जानकर—संसारके अभाव करनेका अवसर आया है और उसका उपाय एक मात्र सम्यग्दर्शन ही है।

(३०) हे जीवो! मिथ्यात्वके महापापको छोड़ो

"मिथ्यात्वके समान अन्य कोई पाप नहीं है, मिथ्यात्वका सद्भाव रहते हुये अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष नहीं होता, इसलिये

प्रत्येक उपायोंके द्वारा सब तरहसे इस मिथ्यात्वका नाश करना चाहिये।"

[मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ७ पृष्ठ २७०]

"यह जीव अनादिकालसे मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणमन कर रहा है और इसी परिणमनके द्वारा संसारमें अनेक प्रकारके दुःख उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका संबंध होता है। यही भाव सर्व दुःखोंका बीज है, अन्य कोई नहीं। इसलिये हे भव्य जीवो! यदि तुम दुःखोंसे मुक्त होना चाहते हो तो सम्यग्दर्शनादिके द्वारा मिथ्यादर्शनादिक विभावोंका अभाव करना ही अपना कार्य है। इस कार्यको करते हुये तुम्हारा परम कल्याण होगा।"

[मोक्षमार्ग प्रकाशक अध्याय ४ पृष्ठ ६८]

इस मोक्षमार्ग प्रकाशकमें अनेक प्रकारसे मिथ्यादृष्टियोंके स्वरूप निरूपण करनेका हेतु यह है कि मिथ्यात्वके स्वरूपको समझ कर यदि अपनेमें वह महान् दोष हो तो उसे दूर किया जाय। स्वयं अपने दोषोंको दूर करके सम्यक्त्व ग्रहण किया जाय। यदि अन्य जीवोंमें वह दोष हो तो उसे देखकर उन जीवों पर कषाय नहीं करना चाहिये। दूसरेके प्रति कषाय करनेके लिये यह नहीं कहा गया है। हाँ, यह सच है कि यदि दूसरोंमें मिथ्यात्वादिक दोष हों तो उनका आदर–विनय न किया जाय किन्तु उन पर द्वेष करनेको भी नहीं कहा है।

अपनेमें यदि मिथ्यात्व हो तो उसका नाश करनेके लिये ही यहाँ पर मिथ्यात्वका स्वरूप बताया गया है क्योंकि अनन्त जन्म–मरणका मूल कारण ही मिथ्यात्व है। क्रोध, मान, माया, लोभ अथवा हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि कोई भी अनन्त संसारका कारण नहीं है, इसलिये वास्तवमें वह महापाप नहीं है किन्तु विपरीत मान्यता ही अनन्त अवतारों प्रगट होनेकी जड़ है इसलिये वही महापाप है, उसीमें समस्त पाप समा जाते हैं। जगतमें मिथ्यात्वके बराबर अन्य कोई पाप नहीं है विपरीत मान्यतामें अपने स्वभावकी अनन्त हिंसा है। कुदेवादिको माननेमें तो गृहीतमिथ्यात्व का अत्यन्त स्थूल महापाप है।

कोई लड़ाईमें करोड़ों मनुष्योंके संहार करनेके लिये खड़ा हो उसके पापकी अपेक्षा एक क्षणके मिथ्यात्व सेवनका पाप अनन्तगुणा अधिक है। सम्यक्त्वी लड़ाईमें खड़ा हो तथापि उसके मिथ्यात्वका सेवन नहीं है इसलिये उस समय भी उसके अनन्त संसारके कारण रूप बन्धनका अभाव ही है। सम्यग्दर्शनके होते ही ४१ प्रकारके कर्मोंका तो बन्ध होता ही नहीं है। मिथ्यात्वका सेवन करने वाला महा पापी है। जो मिथ्यात्वका सेवन करता है और शरीरादिकी क्रियाको अपने आधीन मानता है वह जीव त्यागी होकर भी यदि कोमल पींछीसे पर जीवका यतन कर रहा हो तो भी उस समय भी उसके अनंत संसारका बंध ही होता है और उसके समस्त प्रकृतियाँ बंधती हैं और शरीरकी कोई क्रिया अथवा एक विकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है मैं उसका कर्ता नहीं हूँ इसप्रकारकी प्रतीतिके द्वारा जिसने मिथ्यात्वका नाश करके सम्यग्दर्शन प्रगट कर लिया है वह जीव लड़ाईमें हो अथवा विषय सेवन कर रहा हो तथापि उस समय उसके संसारकी वृद्धि नहीं होती और ४१ प्रकृतियोंके बंधका अभाव ही है। इस जगत्‌में मिथ्यात्वरूपी विपरीत मान्यताके समान दूसरा कोई पाप नहीं है।

आत्माका भान करनेसे अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इस सम्यग्दर्शनसे युक्त जीव लड़ाईमें होने पर भी अल्प पापका बंध करता है और वह पाप उसके संसारकी वृद्धि नहीं कर सकता क्योंकि उसके मिथ्यात्वका अनंत पाप दूर होगया है और आत्माकी अभानमें मिथ्यादृष्टि जीव पुण्यादिकी क्रियाको अपना स्वरूप मानता है तब वह भले ही पर जीवका यतन कर रहा हो तथापि उस समय उसे लड़ाई लड़ते हुये और विषय भोग करते हुये सम्यग्दृष्टि जीवकी अपेक्षा अनंत गुणा पाप मिथ्यात्वका है, मिथ्यात्वका ऐसा महान पाप है। सम्यग्दृष्टि जीव अल्पकालमें ही मोक्षदशाको प्राप्त कर लेगा ऐसा महान् धर्म सम्यग्दर्शनमें है।

जगत्‌के जीव सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके स्वरूपको ही नहीं समझे वे पापका माप बाहरके संयोगों परसे निकालते हैं किन्तु वास्तविक

पाप-त्रिकाल महापाप तो एक समयके विपरीत अभिप्रायमें है। उस मिथ्यात्वका पाप जगत्के ध्यानमें ही नहीं आता और अपूर्व आत्म प्रतीति के प्रगट होने पर अनन्त संसारका अभाव हो जाता है तथा अभिप्रायमें सर्व पाप दूर होजाते हैं। यह सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है इसे जगत्के जीवोंने सुना तक नहीं है।

मिथ्यात्वरूपी महान पापके रहते हुये अनन्त व्रत करे, तप करे, देव दर्शन, भक्ति पूजा इत्यादि सब कुछ करे और देश सेवाके भाव करे तथापि उसका संसार किंचित् मात्र भी दूर नहीं होता। एक सम्यग्दर्शन (आत्मस्वरूपकी सच्ची पहिचान) के उपायके अतिरिक्त अन्य जो अनन्त उपाय हैं वे सब उपाय करने पर भी मिथ्यात्वको दूर किये विना धर्मका अंश भी प्रगट नहीं होता और एक भी जन्म मरण दूर नहीं होता, इसलिये यथार्थ तत्त्व विचाररूप उपायके द्वारा-सर्व प्रथम मिथ्यात्वका नाश करके शीघ्र ही सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेना आवश्यक है। सम्यक्त्वका उपाय ही सर्व प्रथम कर्त्तव्य है।

यह खास ध्यानमें रखना चाहिये कि कोई भी शुभभावकी क्रिया अथवा व्रत तप इत्यादि सम्यक्त्वको प्रगट करनेका उपाय नहीं है किन्तु अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान और अपने आत्माकी रुचि तथा लक्ष्य पूर्वक सत्समागम ही उसका उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

'मैं परका कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कर सकता है तथा पुण्यके करते करते धर्म होता है' इसप्रकारकी मिथ्यात्वपूर्ण विपरीत मान्यतामें एक क्षण भरमें अनन्त हिंसा है, अनन्त असत्य है, अनन्त चोरी है, अनन्त अब्रह्मचर्य (व्यभिचार) है और अनन्त परिग्रह है। इस मिथ्यात्वमें एक ही साथ जगत्के अनन्त पापोंका सेवन है।

१—मैं पर द्रव्यका कुछ कर सकता हूँ इसका अर्थ यह है कि जगत्में जो अनन्त पर द्रव्य हैं उन सबको पराधीन माना है और पर मेरा कुछ कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि अपने स्वभावको पराधीन माना है। इस मान्यतामें जगत्के अनन्त पदार्थोंकी और अपने अनन्त

स्वभावकी स्वाधीनताकी हत्या की गई है इसलिये **उसमें अनंत हिंसाका महान पाप होता है।**

२—जगत्के समस्त पदार्थ स्वाधीन हैं उसकी जगह उन सबको पराधीन—विपरीत स्वरूप माना तथा जो अपना स्वरूप नहीं है उसे अपना स्वरूप माना, **इस मान्यतामें अनन्त असत् सेवनका महापाप है।**

३—पुण्यका विकल्प अथवा किसी भी परवस्तुको जिसने अपना माना है उसने त्रिकालकी परवस्तुओं और विकार भावको अपना स्वरूप मानकर **अनन्त चोरीका महा पाप किया है।**

४—एक द्रव्य दूसरेका कुछ कर सकता है, यों माननेवाले ने स्वद्रव्य परद्रव्यको भिन्न न रखकर उन दोनोंके बीच व्यभिचार करके दोनोंमें एकत्व माना है और ऐसे अनन्त पर द्रव्योंके साथ एकतारूप व्यभिचार किया है यही **अनन्त मैथुन सेवनका महापाप है।**

५—एक रजकण भी अपना नहीं है ऐसा होने पर भी जो जीव मैं उसका कुछ कर सकता हूँ इसप्रकार मानता है वह परद्रव्यको अपना मानता है। जो तीनों जगत्के पर पदार्थ हैं उन्हें अपना मानता है इसलिये इस मान्यतामें **अनन्त परिग्रहका महा पाप है।**

इसप्रकार जगत्के सर्व महा पाप एक मिथ्यात्वमें ही समाविष्ट होजाते है इसलिये जगत्का सबसे महा पाप मिथ्यात्व ही है और सम्यग्दर्शनके होने पर ऊपरके समस्त महा पापोंका अभाव होजाता है इसलिये जगत्का सर्व प्रथम धर्म सम्यक्त्व ही है। अतः मिथ्यात्वको छोड़ो और सम्यक्त्वको प्रगट करो।

(३१) दर्शनाचार और चारित्राचार

वस्तु और सत्तामें कथंचित् अन्यत्व है; सम्पूर्ण वस्तु एक ही गुण के बराबर नहीं है, तथा एक गुण सम्पूर्ण वस्तु रूप नहीं है। वस्तुमें कथंचित् गुणगुणी भेद है, इसलिये वस्तुके प्रत्येक गुण स्वतन्त्र हैं। श्रद्धा और चारित्र गुण भिन्न २ हैं। चारित्र गुणमें कषाय मंद होनेसे श्रद्धा

गुणमें कोई लाभ होता हो सो बात नहीं है। क्योंकि श्रद्धा गुण और चारित्र गुणमें अन्यत्व भेद है। कषायकी मंदता करना सो चारित्र गुण की विकारी क्रिया है। श्रद्धा और चारित्र गुणमें अन्यत्वभेद है, इसलिये चारित्रके विकारकी मंदता सम्यक् श्रद्धाका उपाय नहीं हो जाता, किन्तु परिपूर्ण द्रव्य स्वभावकी रुचि करना ही श्रद्धाका कारण है।

श्रद्धा गुणके सुधर जाने पर भी चारित्र गुण नहीं सुधर जाता, क्योंकि श्रद्धा और चारित्र गुण भिन्न हैं। रागके कम होनेसे अथवा चारित्र गुणके आचारसे जो जीव सम्यक् श्रद्धाका माप करना चाहते हैं वे मिथ्या-दृष्टि हैं। उन्हें वस्तु स्वरूपके गुण भेदकी खबर नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रके आचार भिन्न २ हैं।

कषायके होनेपर भी सम्यग्दर्शन हो सकता है और एक भवावतारी हो सकता है; तथा अत्यन्त मंद कषाय होनेपर भी यह हो सकता है कि सम्यक्दर्शन न हो और अनन्त संसारी हो। अज्ञानी जीव चारित्रके विकारको मंद करता है किन्तु उसे श्रद्धाके स्वरूपकी खबर नहीं होती। पहले यथार्थ श्रद्धाके प्रगट होनेके बिना कदापि भवका अन्त नहीं होता। सच्ची श्रद्धाके बिना सम्यक्चारित्रका अंश भी प्रगट नहीं होता। ज्ञानी के विशेष चारित्र न हो तथापि वस्तु स्वरूपकी प्रतीति होनेसे दर्शनाचारमें वह निःशंक होता है। मेरे स्वभावमें रागका अंश भी नहीं है, मैं ज्ञान स्वभावी ज्ञाता ही हूँ–जिसने ऐसी प्रतीति की है उसके चारित्र दशा न होनेपर भी दर्शनाचार सुधर गया है, उसे श्रद्धामें कदापि शंका नहीं होती। ज्ञानीको ऐसी शंका उत्पन्न नहीं होती कि 'राग होनेसे मेरे सम्यग्दर्शनमें कहीं दोष तो नहीं आ जायगा'। ज्ञानीके ऐसी शंका हो ही नहीं सकती, क्योंकि वह जानता है कि जो राग होता है सो चारित्रका दोष है, किन्तु चारित्रके दोषसे श्रद्धा गुणमें मलीनता नहीं आ जाती। हाँ, जो राग होता है उसे यदि अपना स्वरूप माने अथवा परमें सुख बुद्धि माने तो उसकी श्रद्धामें दोष आता है। यदि सच्ची प्रतीतिकी भूमिकामें अशुभ राग हो जाय;

उसका भी निषेध करता है और जानता है कि यह दोष चारित्रका है, वह मेरी श्रद्धाको हानि पहुँचानेमें समर्थ नहीं है,-ऐसा दर्शनाचारका अपूर्व सामर्थ्य है।

दर्शनाचार (सम्यक्दर्शन) ही सर्व प्रथम पवित्र धर्म है। अनन्त पर द्रव्योंके काममें मैं कुछ निमित्त भी नहीं हो सकता, अर्थात् परसे तो भिन्न, ज्ञाता ही हूँ; और आसक्तिका जो रागद्वेष है वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, वह मेरे श्रद्धा स्वरूपको हानि पहुँचानेमें समर्थ नहीं है—ऐसा दर्शनाचारकी प्रतीतिका जो बल है सो अल्पकालमें मोक्ष देने वाला है; अनन्त भवका नाश करके एक भवावतारी बना देनेकी शक्ति दर्शनाचारमें है। दर्शनाचारकी प्रतीतिको प्रगट किये बिना रागको कम करके अनन्त बार बाह्य चारित्राचारका पालन करनेपर भी दर्शनाचारके अभावमें उसके अनंत भव दूर नहीं हो सकते। पहले दर्शनाचारके बिना कदापि धर्म नहीं हो सकता।

श्रद्धामें परसे भिन्न निवृत्त स्वरूपको मान लेनेसे ही समस्त रागादि की प्रवृत्ति और संयोग छूट ही जाते हों सो बात नहीं है, क्योंकि श्रद्धा गुण और चारित्र गुणमें भिन्नता है इसलिये श्रद्धा गुणकी निर्मलता प्रगट होने पर भी चारित्र गुणमें अशुद्धता भी रहती है। यदि द्रव्यको सर्वथा एक श्रद्धा गुण रूप ही माना जाय तो श्रद्धा गुणके निर्मल होनेपर सारा द्रव्य संपूर्ण शुद्ध ही हो जाना चाहिये, किन्तु श्रद्धा गुण और आत्मामें सर्वथा एकत्व-अभेद भाव नहीं है इसलिये श्रद्धा गुण और चारित्र गुणके विकासमें क्रम बन जाता है। ऐसा होनेपर भी गुण और द्रव्यके प्रदेश भेद न माने, श्रद्धा और आत्मा प्रदेशकी अपेक्षासे तो एक ही हैं। गुण और द्रव्यमें अन्यत्व भेद होनेपर भी प्रदेश भेद नहीं है। वस्तुमें एक ही गुण नहीं किन्तु अनन्त गुण हैं और उनमें अन्यत्व नामका भेद है, इसलिये श्रद्धाके होनेपर तत्काल ही केवलज्ञान नहीं होता। यदि श्रद्धा होते ही तत्काल ही संपूर्ण केवलज्ञान हो जाय तो वस्तु अनन्तगुण ही सिद्ध नहीं हो सकेंगे।

यह आमका दृष्टान्त देकर अन्यत्व भेदका स्वरूप समझाते हैं—आममें रंग और रसगुण भिन्न २ हैं, रंग गुण हरी दशाको बदलकर पीली दशा रूप होता है तथापि रस तो खट्टा का खट्टा ही रहता है तथा रस गुण बदलकर मीठा हो जाता है तथापि आमका रंग हरा ही रहता है क्योंकि रंग और रस गुण भिन्न २ हैं। इसप्रकार वस्तुमें दर्शन गुणके विकसित होने पर भी चारित्र गुण विकसित नहीं भी होता है। परन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि चारित्र गुण विकसित हो और दर्शनगुण विकसित न हो। स्मरण रहे कि सम्यक्दर्शन के बिना कदापि सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता।

प्रश्न—जब कि श्रद्धा और चारित्र दोनों गुण स्वतंत्र है तब ऐसा क्यों होता है?

उत्तर—यह सच है कि गुण स्वतंत्र है परन्तु श्रद्धा गुणसे चारित्र-गुण उच्च प्रकारका है, श्रद्धाकी अपेक्षा चारित्रमें विशेष पुरुषार्थकी आवश्यक्ता है और श्रद्धाकी अपेक्षा चारित्र विशेष पूज्य है इसलिये पहले श्रद्धाके विकसित हुए बिना चारित्रगुण विकसित हो ही नहीं सकता। जिसमें श्रद्धा गुणके लिये अल्प पुरुषार्थ न हो उसमें चारित्र गुणके लिये अत्यधिक पुरुषार्थ कहांसे हो सकता है? पहले सम्यक् श्रद्धाको प्रगट करनेका पुरुषार्थ करनेके बाद विशेष पुरुषार्थ करने पर चारित्रदशा प्रगट होती है। श्रद्धाकी अपेक्षा चारित्रका पुरुषार्थ विशेष है इसलिये पहले श्रद्धा होती है, उसके बाद चारित्र होता है। इसलिये पहले श्रद्धा प्रगट होती है और फिर चारित्रका विकास होता है। श्रद्धागुणकी क्षायिक श्रद्धा रूप पर्याय होनेपर भी ज्ञान और चारित्रमें अपूर्णता होती है। इससे सिद्ध हुआ कि वस्तुमें अनंत गुण हैं और वे सब स्वतंत्र हैं; यही अन्यत्व भेद है।

ज्ञानीके चारित्रके दोषके कारण रागद्वेष होता है तथापि उसे अन्तरंगसे निरन्तर यह समाधान बना रहता है कि—यह रागद्वेष परवस्तुके परिणमनके कारण नहीं किन्तु मेरे दोषसे होते हैं, तथापि यह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरी पर्यायमें रागद्वेष होनेसे परमें कोई परिवर्तन नहीं होता। ऐसी

प्रतीति होनेसे ज्ञानीके रागद्वेषका स्वामित्व नहीं रहता और ज्ञातृत्वका अपूर्व निराकुल संतोष हो जाता है। केवलज्ञान होने पर भी अरिहन्त भगवानके प्रदेशत्व गुणकी और ऊर्ध्वगमन स्वभावकी निर्मलता नहीं है इसीलिये वे संसारमें हैं। अघातिया कर्मोंकी सत्ताके कारण अरिहन्त भगवानके संसार हो सो बात नहीं है; किन्तु अन्यत्व नामक भेद होनेके कारण अभी प्रदेशत्व आदि गुणका विकार है इसीलिये वे संसारमें है।

जैसे—सम्यग्दर्शनके होने पर चारित्र नहीं हुआ तो वहाँ अपने चारित्र गुणकी पर्यायमें दोष है, श्रद्धामें दोष नहीं। चारित्र संबन्धी दोष अपने पुरुषार्थकी कमजोरीके कारण है, कर्मके कारण वह दोष नहीं है, इसीप्रकार केवलज्ञानके होनेपर भी प्रदेशत्व सत्ता और जोग सत्तामें जो विकार रहता है उसका कारण यह है कि समस्त गुणोंमें अन्यत्व नामक भेद है। प्रत्येक पर्यायकी सत्ता स्वतत्र है। यह गाथा द्रव्य गुण पर्यायकी स्वतंत्र सत्ताको जैसाका तैसा बतलाती है। क्योंकि यह ज्ञेय अधिकार है इसलिये प्रत्येक पदार्थ और गुणकी सत्ताकी स्वतंत्रताकी प्रतीति करता है। यदि प्रत्येक गुणसत्ता और पर्याय सत्ताके अस्तित्वको ज्यों का त्यों जाने तो ज्ञान सच्चा है। निर्विकारी पर्याय अथवा विकारी पर्याय भी स्वतंत्र पर्याय सत्ता है। उसे ज्यों की त्यों जानना चाहिये। जीव जो विकार भी पर्यायमें स्वतत्र रूपसे करता है उसमें भी अपनी पर्यायका दोष कारण है। प्रत्येक द्रव्य गुण पर्यायकी सत्ता स्वतंत्र है तब फिर कर्मकी सत्ता आत्माकी सत्तामें क्या कर सकती है? कर्म और आत्माकी सत्तामें तो प्रदेश भेद स्पष्ट है दो वस्तुओंमें सर्वथा पृथक्त्व भेद है।

यहाँ यह बताया गया है कि एक गुणके साथ दूसरे गुणका पृथक्त्व भेद न होनेपर भी उनमें अन्यत्व भेद है, इसलिये एक गुणकी सत्तामें दूसरे गुणकी सत्ता नहीं है। इसप्रकार यह गाथा स्वमें ही अभेदत्व और भेदत्व बतलाती है। प्रदेश भेद न होनेसे अभेद है और गुण-गुणीकी अपेक्षासे भेद है कोई भी दो वस्तुयें लीजिये उन दोनोंमें प्रदेशत्वभेद है,

किन्तु एक वस्तुमें जो अनन्त गुण हैं उन गुणोंमें एक दूसरे के साथ अन्यत्व भेद है, किन्तु पृथक्त्व भेद नहीं है।

इन दो प्रकारके भेदोंके स्वरूपको समझ लेनेपर अनंत पर द्रव्योंका अहंकार दूर हो जाता है और पराश्रय बुद्धि दूर होकर स्वभावकी दृढ़ता हो जाती है तथा सच्ची श्रद्धा होनेपर समस्त गुणोंको स्वतंत्र मान लिया जाता है पश्चात् समस्त गुण शुद्ध हैं ऐसी प्रतीति पूर्वक जो विकार होता है उसका भी मात्र ज्ञाता ही रहता है; अर्थात् उस जीवको विकार और भवके नाशकी प्रतीति हो गई है। समझका यही अपूर्व लाभ है ज्ञेय अधिकारमें द्रव्य-गुण-पर्यायका वर्णन है; प्रत्येक गुण-पर्याय ज्ञेय है अर्थात् अपने समस्त गुण-पर्यायका और अभेद स्वद्रव्यका ज्ञाता हो गया, यही सम्यग्दर्शन धर्म है।

३२. कौन सम्यग्दृष्टि है?

शुद्ध नय कतक फलके स्थान पर है, इससे जो शुद्धनयका आश्रय करते हैं वे सम्यक्-अवलोकन करनेसे सम्यग्दृष्टि हैं, परन्तु दूसरे (जो अशुद्धनयका आश्रय करते हैं वे) सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। इसलिये कर्मसे भिन्न आत्माको देखने वालोंको व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

(श्री अमृतचन्द्राचार्य देवकृत टीका समयसार गाथा ११)

"यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, प्रयो-जनवश नयको मुख्य-गौण करके कहती है। प्राणियोंको भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादिकालसे ही है; और जिनवाणीमें व्यवहारका उपदेश शुद्धनयका हस्तावलम्ब समझकर बहुत किया है; किन्तु इसका फल संसार ही है। शुद्धनयका पक्ष तो कभी आया ही नहीं और इसका उप-देश भी विरल है—कहीं कहीं है, इससे उपकारी श्री गुरु ने शुद्धनयके ग्रहणका फल मोक्ष जानकर इसका उपदेश प्रधानतासे (मुख्यतासे) दिया है कि—'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय करनेसे सम्य-ग्दृष्टि हुआ जा सकता है; इसे जाने विना जहाँ तक जीव व्यवहार नयमें

मग्न है वहाँ तक आत्माके श्रद्धाज्ञानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।”
इसप्रकार आशय समझना।

(समयसार गाथा ११ का भावार्थ)

३३. सम्यग्दृष्टिका वर्णन

सज्जन सम्यग्दृष्टिकी प्रशंसा करते हुए पं० श्री बनारसीदासजी कहते हैं कि—

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट
शीतल चित्त भयो जिम चन्दन
केलि करें शिव मारगमें
जग मांहि जिनेश्वरके लघु नन्दन।
सत्य स्वरूप सदा जिन्हके
प्रगट्यो अवदात मिथ्यात निकंदन,
शान्त दशा तिनकी पहिचान
करै कर जोरि बनारसि वंदन ॥

(नाटक—समयसार)

अर्थः—जिसके अंतरमें भेद विज्ञानका प्रकाश प्रगट हुआ है, जिनका हृदय चन्दनके समान शीतल हुआ है, जो मोक्षमार्गमें केलि–क्रीड़ा करते हैं और इस जगतमें जो जिनेश्वरके लघु नन्दन (युवराज) हैं। और सम्यग्दर्शन द्वारा जिनके आत्मामें सत्य स्वरूप प्रकाशमान हुआ है, तथा मिथ्यात्वका निकंदन कर दिया है—ऐसे सम्यग्दृष्टि भव्य आत्माकी शान्ति को देखकर पण्डित बनारसीदासजी उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं।

३४. मिथ्यादृष्टिका वर्णन

धरम न जानत बखानत भरम रूप
ठौर ठौर-ठानत लड़ाई पक्षपातकी,

भूल्यो अभिमानमें न पाँव धरै धरनीमें
हिरदेमें करनी विचारे उत्पातकी।
फिरै डावाँडोल सो करमके कलोलनिमें
ह्वै रही अवस्था ज्यूं वभूल्या कैसे पातकी।
जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी
ऐसो ब्रह्मघाती है मिथ्याती महा पातकी॥

(नाटक- समयसार)

अर्थः—जो स्वयं किंचित् मात्र धर्मको नहीं जानता और धर्म स्वरूपका भ्रमरूप व्याख्यान (वर्णन) करता है धर्मके नाम पर हरएक प्रसंग पर पक्षपातसे लड़ाई किया करता है और जो अभिमानमें मस्त होकर भान भूला है और धरती पर पैर नहीं रखता अर्थात् अपनेको महान समझता है; जो प्रति समय अपने हृदयमें उत्पातकी करणीका ही विचार करता है, तूफानमें पड़े हुये पत्तेकी भाँति जिसकी अवस्था शुभाशुभ कर्मोंकी तरंगोंमें डावाँडोल हो रही है, कुटिल पापकी अग्निसे जिसका अंतर तप्त हो रहा है—ऐसा महा दुष्ट, कुटिल, अपने आत्म स्वरूपका घात करने वाला मिथ्यादृष्टि महापातकी है।

[कविवर बनारसीदासजी]

—: परम रत्न :—

शंकादि दोषोंसे रहित ऐसा सम्यग्दर्शन वह परम रत्न है। और वह परमरत्न संसार-दुःखरूपी दरिद्रताका अवश्य नाश करता है।

[सार समुच्चय ४०]

(३५) सम्यग्दर्शनकी रीति

यह प्रवचनसारकी ८० वीं गाथा चल रही है। आत्मामें अनादि-कालसे जो मिथ्यात्व भाव है अधर्म है, उस मिथ्यात्व भावको दूर करके सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो उसके उपायका इस गाथामें वर्णन किया है। इस आत्माका स्वभाव अरिहंत भगवान जैसा ही—पुण्य-पाप रहित है। आत्माके स्वभावसे च्युत होकर जो पुण्य-पाप होते हैं उन्हें अपना स्वरूप मानना वह मिथ्यात्व है। शरीर, मन, वाणी आत्माके आधीन हैं और उनकी क्रिया आत्मा कर सकता है—ऐसा मानना वह मिथ्यात्व है, तथा आत्मा, शरीर-मन-वाणीके आधीन है और उनकी क्रियासे आत्मा को धर्म होता है—ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है—भ्रम है और अनंत संसारमें परिभ्रमणका कारण है। उस मिथ्यात्वका नाश किये विना धर्म नहीं होता। उस मिथ्यात्वको नष्ट करनेका उपाय यहाँ बतलाते हैं।

(२) जो जीव भगवान अरिहन्तके आत्माको द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से बरावर जानता है वह जीव वास्तवमें अपने आत्माको जानता है और उसका मिथ्यात्वरूप भ्रम अवश्य ही नाशको प्राप्त होता है तथा शुद्ध सम्यक्त्व प्रगट होता है—यह धर्मका उपाय है। अरिहन्तके आत्माका नित्य एकरूप रहनेवाला स्वभाव कैसा है, उसे जो जानता है वह जीव अरिहन्त जैसे अपने आत्माके द्रव्य-गुण पर्यायको पहिचान कर, पश्चात् अभेद आत्माकी अन्तर्दृष्टि करके मिथ्यात्वको दूर करता है और सम्यग्दर्शन प्रगट करता है—यह ८० वीं गाथाका संक्षिप्त सार है।

(३) आज मांगलिक प्रसंग है और गाथा भी अलौकिक आई है। यह गाथा ८० वीं है, ८० वीं अर्थात् आठ और शून्य। आठ कर्मोंका अभाव करके सिद्ध दशा कैसे हो—उसकी इसमें बात है।

(४) अरिहन्त भगवानका आत्मा भी पहले अज्ञानदशामें था और संसारमें परिभ्रमण करता था, फिर आत्माका भान करके मोहका क्षय किया और अरिहन्त दशा प्रगट हुई। पहले अज्ञान दशामें भी वही

आत्मा था और इस समय अरिहन्त दशामें भी वही आत्मा है;—इसप्रकार आत्मा त्रिकाल रहता है वह द्रव्य है, आत्मामें ज्ञानादि अनन्त गुण एक साथ विद्यमान हैं वह गुण है, और अरिहन्तको अनंत केवलज्ञान, केवल-दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य प्रगट हुये हैं वह उनकी पर्याय है, उनके राग-द्वेष या अपूर्णता किंचित् भी नहीं रहे हैं। इसप्रकार अरिहन्त भगवानके द्रव्य-गुण-पर्यायको जो जीव जानता है वह अपने आत्माको भी वैसा ही जानता है, क्योंकि यह आत्मा भी अरिहन्तकी ही जातिका है, जैसा अरिहन्तके आत्माका स्वभाव है वैसा ही इस आत्माका स्वभाव है; निश्चयसे उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है। इससे पहले अरिहन्तके आत्माको जाननेसे अरिहन्त समान अपने आत्माको भी जीव मन द्वारा-विकल्पसे जान लेता है, और फिर अन्तरोन्मुख होकर गुण-पर्यायोंसे अभेदरूप एक आत्मस्वभावका अनुभव करता है तब द्रव्य-पर्यायकी एकता होनेसे वह जीव चिन्मात्र भावको प्राप्त करता है, उस समय मोहका कोई आश्रय न रहनेसे वह अवश्य ही नष्ट हो जाता है और जीवको सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह अपूर्व है। सम्यग्दर्शनके विना तीनकालमें धर्म नहीं होता।

(५) जैसा अरिहन्त भगवानका आत्मा है वैसा ही यह आत्मा है। उसमें जो चेतन है वह द्रव्य है; चेतन अर्थात् आत्मा है वह द्रव्य है। चैतन्य उसका गुण है। चैतन्य अर्थात् ज्ञान-दर्शन, वह आत्माका गुण है। और उस चैतन्यकी ग्रंथियाँ अर्थात् ज्ञान-दर्शनकी अवस्थाएँ-ज्ञान-दर्शनका परिणमन वह आत्माकी पर्यायें हैं। इसके अतिरिक्त कोई रागादि भाव या शरीर-मन-वाणीकी क्रियाएँ वे वास्तवमें चैतन्यका परिणमन नहीं हैं इससे वे आत्माकी पर्यायें नहीं हैं, आत्माका स्वरूप नहीं हैं। जिस अज्ञानी को अरिहन्त जैसे अपने द्रव्य-गुण-पर्यायकी खबर नहीं है वह रागादिको और शरीरादिकी क्रियाको अपना मानता है। "मैं तो चैतन्य द्रव्य हूं, मुझमें चैतन्य गुण है और मुझमें प्रतिक्षण चैतन्यकी अवस्था होती है—वह मेरा स्वरूप है; इसके अतिरिक्त जो रागादि भाव होते हैं वह मेरा सच्चा स्वरूप

नहीं है, और जड़की क्रिया तो मुझमें कभी नहीं है"—इसप्रकार जो अरिहन्त जैसे अपने आत्माको मनसे बराबर जान लेता है वह जीव आत्म-स्वभावके आँगनमें आया है। यहाँ तो, जो जीव स्वभावके आँगनमें आगया वह अवश्य ही स्वभावमें प्रवेश करता है—ऐसी ही शैली है। आत्माके स्वभावकी निर्विकल्प प्रतीति और अनुभव वह सम्यक्त्व है, वह अपूर्व धर्म है। वह सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये जीव प्रथम तो अपने आत्माको मन द्वारा समझ लेता है। कैसा समझता है? मेरा स्वभाव द्रव्य-गुण-पर्यायसे अरिहन्त जैसा ही है। जैसे अरिहन्तके त्रिकाल द्रव्य-गुण है वैसे ही द्रव्य-गुण मुझमें हैं। अरिहन्तकी पर्यायमें राग द्वेष नहीं है और मेरी पर्यायमें राग-द्वेप होते हैं वह मेरा स्वरूप नही है,—इसप्रकार जिसने अपने आत्माको राग-द्वेष रहित परिपूर्ण स्वभाववाला निश्चित् किया वह जीव सम्यग्दर्शन प्रगट होनेके आँगनमें खड़ा है। अभी यहाँ तक मनके अवलम्बन द्वारा स्वभावका निर्णय किया है इससे आँगन कहा है। मनका अवलम्बन छोड़कर सीधा स्वभावका अनुभव करेगा वह साक्षात् सम्यग्दर्शन है। भले ही पहले मनका अवलम्बन है, परन्तु निर्णय में तो "अरिहन्त जैसा मेरा स्वभाव है"—ऐसा निश्चित् किया है। "मैं राग-द्वेपी हूँ, मै अपूर्ण हूँ, मैं शरीरकी क्रिया करता हूँ"—ऐसा निश्चित् नहीं किया है, इसलिये उसे सम्यग्दर्शनका आँगन कहा है।

(६) यह गाथा बहुत उच्च है, इस एक ही गाथामें हजारों शास्त्रोंका सार आजाता है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि होकर केवलज्ञान प्राप्त करे—ऐसी इस गाथामें बात है। श्रेणिक राजा इस समय नरकमें हैं, उन्हें क्षायिक सम्यग्दर्शन है; इस गाथाके कथानुसार अरिहन्त जैसे अपने आत्माका भान है। भरत चक्रवर्तिको छह खण्डका राज्य था, तथापि क्षायिक सम्यक्दर्शन था, अरिहन्त जैसे अपने आत्म स्वभावका भान एक क्षण भी च्युत नही होता था। एसा सम्यग्दर्शन कैसे प्रगट हो उसकी यह बात है।

(७) अरिहन्त जैसे अपने आत्माको पहले तो जीव मन द्वारा

जान लेता है। मैं चेतन ज्ञाता-दृष्टा हूँ, और यह जो जाननेकी पर्याय होती है वह मैं हूँ, रागादि होते हैं वह मेरे ज्ञानका स्वरूप नहीं है,—इसप्रकार स्व-सन्मुख होकर मन द्वारा जिसने अपने आत्माको जाना वह जीव आत्माके सम्यग्दर्शनके आँगनमें आया है। किसी बाह्य पदार्थसे आत्माको पहिचानना वह अज्ञान है। आत्मा लखपति या करोड़पति नहीं है, लक्ष्मी तो जड़ है उसका स्वामी आत्मा नहीं है; आत्मा तो अनन्तपति है, अपने अनन्त गुणों का स्वामी है। अरिहन्त भगवानको तेरहवें गुणस्थानमें जो केवलज्ञानादि दशा प्रगट हुई—वह सब मेरा स्वरूप है, और भगवानके राग-द्वेष तथा अपूर्ण ज्ञान दूर होगये वह आत्माका स्वरूप नहीं था इसीसे दूर होगये हैं, इसलिये वे रागादि मेरे स्वरूपमें भी नहीं हैं। मेरे स्वरूपमें राग-द्वेष आस्रव नहीं हैं अपूर्णता नहीं है। आत्माकी पूर्ण निर्मल राग रहित परिणति ही मेरी पर्यायका स्वरूप है,—इतना समझा तब जीव सम्यग्दर्शनके लिये पात्र हुआ है; इतना समझने वालेका मोहभाव मंद होगया है, और कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्रकी मान्यता तो छूट ही गई है।

(८) तीनलोकके नाथ श्री तीर्थंकर भगवान कहते हैं कि मेरा और तेरा आत्मा एक ही जातिका है, दोनोंकी एक ही ज्ञाति है। जैसा मेरा स्वभाव है वैसा ही तेरा स्वभाव है। केवलज्ञान दशा प्रगट हुई वह बाहरसे नहीं प्रगटी है, परन्तु आत्मामें शक्ति है उसीमें से प्रगटी हुई है। तेरे आत्मामें भी वैसी ही परिपूर्ण शक्ति है। अपने आत्माकी शक्ति अरिहन्त जैसी है, उसे जो जीव पहिचाने उसका मोह नष्ट हुए बिना न रहे।

जैसे मोरके छोटेसे अंडेमें साढ़े तीन हाथका मोर होनेका स्वभाव भरा है, इससे उसमेंसे मोर होता है। मोर होनेकी शक्ति मोरनीमेंसे नहीं आयी, और अंडेके ऊपर वाले छिलकेमेंसे भी नहीं आयी है, परन्तु अंडेके भीतर भरे हुए रसमें वह शक्ति है। इसी प्रकार आत्मामें केवलज्ञान प्रगट होनेकी शक्ति है, उसमेंसे केवलज्ञानका विकास होता है। शरीर-मन-वाणी

या देव-गुरु-शास्त्र तो (मोरनी की भाँति) पर वस्तु हैं, उसमेंसे केवलज्ञान प्रगट होनेकी शक्ति नहीं आयी है, और पुण्य-पापके भाव ऊपरवाले छिलके के समान हैं, उसके केवलज्ञान होनेकी शक्ति नहीं है। आत्माका स्वभाव अरिहन्त जैसा है वह, शरीर-मन-वाणीसे तथा पुण्य-पापसे रहित है, उस स्वभावमें केवलज्ञान प्रगट होनेकी शक्ति है। जिसप्रकार अन्डेमें बड़े-बड़े विषैले सर्पोंको निगल जानेवाला मोर होनेकी शक्ति है, उसीप्रकार मिथ्यात्वादिका नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करे वैसी शक्ति प्रत्येक आत्मामें है। चैतन्य द्रव्य, चैतन्य गुण और ज्ञाता-दृष्टारूप पर्यायका पिण्ड आत्मा है, उसका स्वभाव मिथ्यात्वको बनाये रखनेका नहीं परन्तु उसे निगल जाने का-कष्ट करनेका है। ऐसे स्वभावको पहिचाने उसके मिथ्यात्वका क्षय हुए बिना न रहे। परन्तु, जैसे—अण्डेमें मोर कैसे होगा ?—ऐसी शंका करके उसे हिलाये-डुलाये तो उसका रस सूख जाता है, और मोर नहीं होता, उसीप्रकार आत्माके स्वभाव सामर्थ्यका विश्वास न करे और 'इस समय आत्मा भगवान के समान कैसे होगा ?'—ऐसी स्वभावमें शंका करे तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, और न मोह दूर होता है। सम्यग्दर्शनके बिना कभी धर्म नहीं होता। ✓

(६) अब, मोरके अंडेमें मोर होनेका स्वभाव है, वह स्वभाव किसप्रकार ज्ञात होता है ? वह स्वभाव किन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञात नहीं होता। अंडेको हिलाकर सुने तो कान द्वारा वह स्वभाव ज्ञात नही होगा; हाथके स्पर्शसे भी उसका स्वभाव ज्ञात नहीं होगा, आँखसे भी दिखलाई नहीं देगा, नाकसे उसके स्वभावकी गंध नहीं आयेगी और न जीभसे अण्डे का स्वभाव ज्ञात होगा। इसप्रकार अण्डेमें मोर होनेकी शक्ति है वह किन्हीं इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होती परन्तु ज्ञानसे ही ज्ञात होती है। स्वभावको जाननेका ज्ञान निरपेक्ष है, किन्हीं इन्द्रियादिकी उसे अपेक्षा नहीं है। किसी भी वस्तुका स्वभाव अतीन्द्रिय ज्ञानसे ही ज्ञात होता है। उसीप्रकार आत्मा में केवलज्ञान होनेका स्वभाव विद्यमान है; वह स्वभाव कानसे, आँखसे,

नाकसे, जीभसे या स्पर्शसे ज्ञात नहीं होता, मन द्वारा या राग द्वारा भी वास्तव में वह स्वभाव ज्ञात नहीं होता। इन्द्रियों और मनका अवलम्बन छोड़कर स्वभावोन्मुख हो उस अतीन्द्रिय ज्ञानसे ही आत्मस्वभाव ज्ञात होता है। यहाँ 'मन द्वारा आत्माको जान लेता है'—ऐसा कहा है, वहाँ तक अभी सम्यग्दर्शन नहीं हुआ है, अभी तो रागवाला ज्ञान है। मनका अवलम्बन छोड़कर अभेद स्वभावको सीधे ज्ञानसे लक्षमें ले तब सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन कैसे हो— उसकी यह रीति है।

(१०) जिसप्रकार दियासलाईके सिरेमें अग्नि प्रगट होनेका स्वभाव है,—वह आँख, कान आदि किन्हीं इन्द्रियोंसे ज्ञात नहीं होता, परन्तु ज्ञान द्वारा ही ज्ञात होता है। प्रथम दियासलाईके सिरेमें अग्नि प्रगट होने की शक्ति है—इसप्रकार उसके स्वभावका विश्वास करके फिर उसे घिसनेसे अग्नि प्रगट होती है, उसीप्रकार आत्मामें केवलज्ञान प्रगट होनेका स्वभाव है, वह स्वभाव किन्हीं इन्द्रियों द्वारा दिखाई नहीं देता, परन्तु अतीन्द्रिय ज्ञानसे ही ज्ञात होता है। प्रथम परिपूर्ण स्वभावका विश्वास करके पश्चात् उसमें एकतारूपी घिसारा (घिसनेकी क्रिया) करनेसे केवलज्ञान ज्योति प्रगट होती है। शरीर–मन–वाणी तो दियासलाईकी पेटीके समान हैं, जिसप्रकार दियासलाईकी पेटीमें अग्नि होनेकी शक्ति नहीं है, उसी प्रकार उन शरीरादि में केवलज्ञान होनेकी शक्ति नहीं है, और पूजा भक्ति आदि पुण्यभाव या हिंसा–चोरी आदि पाप भाव उस दियासलाईके पिछले भाग जैसे है। जिसप्रकार दियासलाईके पिछले भागमें अग्नि प्रगट होनेकी शक्ति नहीं है, उसीप्रकार उन पुण्य–पापमें सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान होने की शक्ति नहीं है। तो वह शक्ति काहेमें है? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और केवलज्ञान होनेकी शक्ति तो चैतन्य स्वभावमें है; पहले उस स्वभावकी प्रतीति करनेसे सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है, और पश्चात् उसमें एकाग्रता करनेसे सम्यक्चारित्र और केवलज्ञान होता है, इसके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे धर्म नहीं होता। स्वभावकी प्रतीति न करे और पुण्य–पाप को घिसता रहे, पूजा भक्ति व्रतमें शुभराग करता रहे तो उसमें सम्यग्दर्शन

धर्म नहीं होता, और उपवासादि कर-करके शरीर-मन-वाणीको घिसता रहे उसमें भी कहीं धर्म नहीं होता, परन्तु उन शरीर-मन-वाणी और पुण्य-पापसे रहित त्रिकाली चैतन्यरूप आत्मस्वभाव है, उनकी प्रतीति और अनुभव करे तो सम्यग्दर्शनरूप प्रथम धर्म हो, और पश्चात् उसमें एकाग्रता करनेसे सम्यक्चारित्ररूप धर्म हो। सम्यग्दर्शनके बिना चाहे जितने शास्त्रोंका अभ्यास करले, व्रत-उपवास करे, प्रतिमा धारण करे, पूजा-भक्ति करे या द्रव्यलिंगी मुनि होजाये—चाहे जितना करे किन्तु उसे धर्म नही माना जाता और न वह करते करते धर्म होता है। सम्यग्दर्शन होनेसे पहले भी अरिहन्त भगवानके द्रव्य-गुण-पर्यायको जाने और उनके जैसा अपना आत्मा है—ऐसा मनसे निश्चित् करके उसके अनुभवका अभ्यास करे तो उसे धर्मसन्मुख कहा जाता है, वह जीव धर्मके आंगनमें आगया है।

(११) अपना आत्मा अरिहन्त जैसा है—ऐसा जहाँ मनसे जाना वहीं—परके ओरकी एकाग्रतासे या पुण्यसे आत्माको लाभ होता है—यह मान्यता दूर होगई। शरीर-मन-वाणीकी क्रिया तो आत्मासे भिन्न है और राग द्वेषके भाव होते हैं वे अरिहंत भगवानकी अवस्थामें नहीं है, इसलिये वास्तवमें वे राग द्वेषके भाव इस आत्माकी अवस्था नहीं है। किसी भी पुण्य-पापके भावसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र या केवलज्ञान नही होता। प्रथम मन द्वारा त्रिकाली आत्माको जाना वहाँ इतना तो निश्चित होगया। प्रथम मनसे तो पूर्ण आत्म स्वभावको जान लिया; 'ऐसे आत्माकी प्रतीति और अनुभव करनेसे ही सम्यग्दर्शन होता है; तथा उसमें एकाग्रता होनेसे ही चारित्र और केवलज्ञान होता है'-ऐसा निश्चित कर लिया; इसलिये अब उस स्वभाव की ओर उन्मुख होना ही रहा। वह जीव स्वभावकी ओर उन्मुख होकर मोहका क्षय किसप्रकार करता है—वह बात आचार्य भगवान हारका दृष्टांत देकर बहुत ही स्पष्ट समझायेंगे।

(१२) स्वभावोन्मुखता करके मोहका क्षय करनेकी और सम्य-

ग्दर्शन प्रगट करने की यह रीति है। सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये यह अलौकिक अधिकार है। बहुत ही उच्च और अपूर्व अधिकार आया है। यह अधिकार समझकर स्मरण रखने योग्य और आत्माके अंदर उतारने जैसा है। अपने अन्तर स्वभावमें एकाग्रतासे ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र प्रगट होता है।

(१३) जिसने अरिहन्त जैसे अपने आत्माको मन द्वारा जान लिया है वह जीव स्वभावके आँगनमें आया है; परन्तु आँगनमें आजाने के पश्चात् अब, स्वभावका अनुभव करनेमें अनन्त अपूर्व पुरुषार्थ है। आँगनमें आकर यदि विकल्पमें ही रुका रहे तो अनुभव नहीं होगा। जैसे-महान् सम्राट—बादशाहके महलके आँगन तक तो आगया; लेकिन अन्दर प्रविष्ट होनेके लिये हिम्मत होना चाहिये; उसीप्रकार इस चैतन्य भगवानके आँगन में आनेके पश्चात्—अर्थात् मन द्वारा आत्म स्वभावको जान लेनेके पश्चात् चैतन्य स्वभावके भीतर ढलकर अनुभव करनेके लिये अनन्त पुरुषार्थ हो वही चैतन्यमें ढलकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है, और दूसरे जो जीव शुभ विकल्पमें रुक जाते हैं वे पुण्यमें अटक जाते हैं, उन्हें धर्म नहीं होता। परन्तु यहाँ तो आँगनमें रुकनेकी बात ही नहीं है; जो जीव स्वभावके आँगन में आया वह स्वभावोन्मुख होकर अनुभव करेगा ही—ऐसी अप्रतिहत्पनेकी ही बात ली है। आँगनमें आकर लौट आये—ऐसी बात ही यहाँ नहीं ली है।

(१४) प्रथम मन द्वारा अरिहन्त जैसे अपने आत्मस्वभावको जान लेनेके पश्चात्, अब, अंतरस्वभावोन्मुख होकर सम्यग्दर्शन प्रगट करता है,—उसकी बात बतलाते हैं, अब अन्तरमें ढलनेकी बात है। बाह्यमें अरिहंत भगवानका लक्ष तो छोड़ दिया, और अपनेमें भी द्रव्य-गुण-पर्यायके भेद का लक्ष छोड़कर अन्तरके अभेद स्वभावमें जाता है। पहले अरिहन्त जैसे अपने द्रव्य-गुण-पर्यायको जाना—वह भूमिका हुई; अब उस भूमिकासे निकलकर अन्तरमें अनुभव करनेकी बात है। इसलिये बराबर ध्यान रखकर समझना चाहिए।

(१५) यहाँ मोतियोंके हारका दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जिस-प्रकार हार खरीदने वाला पहले तो हार, उसकी सफेदी और उसके मोती-इन तीनोंको जानता है, लेकिन जब हार पहिनता है उस समय मोती और सफेदीका लक्ष नहीं होता—अकेले हारको ही लक्षमें लेता है। यहाँ हार को द्रव्यकी उपमा है सफेदीको गुणकी उपमा है और मोतीको पर्यायकी उपमा है। मोहका क्षय करने वाला जीव, प्रथम तो अरिहन्त जैसे अपने आत्माके द्रव्य-गुण-पर्यायको जानता है, परन्तु जहाँ तक इन तीनों पर लक्ष रहे वहाँ तक राग रहता है और अभेद आत्माका अनुभव नहीं होता, इससे द्रव्य-गुण-पर्यायको जान लेनेके पश्चात् अब गुण और पर्यायोंको द्रव्यमें ही समेटकर अभेद आत्माका अनुभव करता है, उसकी बात करते हैं। यहाँ पहले पर्यायको द्रव्यमें लीन करनेकी और फिर गुणको द्रव्यमें लीन करनेकी बात की है, कहनेमें तो क्रमसे ही कही जाती है, परन्तु वास्तवमें गुण और पर्याय दोनोंका लक्ष एक ही साथ छूट जाता है। जहाँ अभेद द्रव्यको लक्षमें लिया वहाँ गुण और पर्याय—दोनोंका लक्ष एक ही साथ दूर होगया और अकेले आत्माका अनुभव रहा। मोतीका लक्ष छोड़कर हारको लक्षमें लिया वहाँ अकेला हार ही लक्षमें रहा—सफेदी का भी लक्ष नहीं रहा। उसीप्रकार जहाँ पर्यायका लक्ष छोड़कर द्रव्यको लक्षमें लेकर एकाग्र हुआ वहाँ गुणका लक्ष भी साथ ही हट गया। गुण पर्याय दोनों गौण हो गये और एक द्रव्यका अनुभव रहा। इसप्रकार द्रव्य पर लक्ष करके आत्माका अनुभव करनेका नाम सम्यग्दर्शन है।

(१६) सम्यग्दर्शनके बिना धर्म नहीं होता, इससे यहाँ प्रथम ही सम्यग्दर्शनकी बात बतलाई है। पुण्य-पाप हों वे निषेध करनेके लिये जानने योग्य है परन्तु सम्यग्दर्शनकी रीतिमें पुण्य या पाप नहीं हैं। यहाँ दृष्टांतमें झूलते हुए हारको लिया है, उसीप्रकार सिद्धांतमें परिणमित होते हुए द्रव्यको बतलाना है, द्रव्यका परिणमन होकर पर्यायें आती हैं' उन पर्यायों को त्रिकाली परिणमित होते हुए द्रव्यमें ही लीन करके, और गुणके भेदका

विचार छोड़कर द्रव्यमें ढलता है तभी सम्यग्दर्शन होता है।

पर्यायोंको द्रव्यमें अभेद किया और 'ज्ञान वह आत्मा'-ऐसे गुण गुणीके भेदकी वासनाका भी लोप किया वहाँ विकल्प नहीं रहा इसलिये सफेदीको पृथक् लक्षमें न लेकर उसका हारमें ही समावेश करके जिसप्रकार हारको लक्षमें लेता है, उसीप्रकार ज्ञान और आत्मा—ऐसे दो भेदोंको लक्ष में न लेकर एक आत्म द्रव्यको ही लक्षमें लेता है; चैतन्यको चेतनमें ही स्थापित करके एकाग्र हुआ कि वहीं सम्यग्दर्शन होता है और मोह नाशको प्राप्त होता है।

(१७) देखो भाई ! यही आत्माके हितकी बात है। यह समझ पूर्व अनन्त कालमें एक क्षण मात्र भी नहीं की है। एक क्षण मात्र भी ऐसी प्रतीति करे उसे भव नहीं रहता। इसे समझे बिना लाखों-करोड़ों रुपये इकट्ठे हो जायें तो उससे आत्माको कुछ भी लाभ नहीं है। आपके लक्ष किये बिना उसके अनुभवके अमूल्य क्षणका लाभ नहीं मिलता। जिसने ऐसे आत्माका निर्णय कर लिया उसे आहार विहारादि संयोग हों और पुण्य-पाप के परिणाम भी होते हों; तथापि आत्माका लक्ष नहीं छूटता, आत्माका जो निर्णय किया है वह किसी भी प्रसंगपर नहीं बदलता; इसलिये उसे प्रतिक्षण धर्म होता रहता है।

(१८) स्वयं सत्यको समझ ले वहाँ मिथ्या अपने आप दूर हो हो जाता है: उसके लिये प्रतिज्ञा नहीं करना पड़ती। कोई कहे कि—अग्नि उष्ण है—ऐसा मैंने जान लिया, अब मुझे 'अग्नि शीतल है'—ऐसा न माननेकी प्रतिज्ञा दो। लेकिन उसमें प्रतिज्ञा क्या ? अग्निका स्वभाव उष्ण है ही ऐसा जाना वहीं उसे ठन्डा न माननेकी प्रतिज्ञा हो ही गई। उसीप्रकार कोई कहे कि–'मिश्री कड़वी है'–ऐसा न मानने की प्रतिज्ञा दो। तो वैसी प्रतिज्ञा नहीं होती। मिश्रीका मीठा स्वभाव निश्चित किया वहाँ स्वयं वह प्रतिज्ञा हो गई। उसीप्रकार जिसने आत्म स्वभावको जाना उसके मिथ्या मान्यता तो दूर हो ही गई। स्वभावको यथार्थ जाना उसमें 'मिथ्या न माननेकी प्रतिज्ञा'

आ ही गई। जो सच्चा ज्ञान हुआ वह स्वयं मिथ्या न माननेकी प्रतिज्ञा वाला है। 'मिथ्याको न मानना'—ऐसी प्रतिज्ञा मांगे तो उसका अर्थ यह हुआ कि अभी उसे मिथ्याकी मान्यता बनी हुई है और सत्यका निर्णय नहीं हुआ है। आत्माके गुण-पर्यायको अभेद द्रव्यमें ही परिणमित करके जिसने अभेद आत्माका निर्णय किया उसके अभेद आत्म स्वभावकी प्रतीतिरूप प्रतिज्ञा हुई, वहाँ उससे विपरीत मान्यताएँ दूर हो ही गईं; इसलिये विपरीत मान्यता न करनेकी प्रतिज्ञा हो गई। उसीप्रकार जिसने चारित्र प्रगट किया उसके अचारित्र न करनेकी प्रतिज्ञा हो ही गई।

(१६) इस गाथामें अरिहन्त जैसे आत्माको जाननेकी बात की, उसमें इतना तो आगया कि पात्र जीवको अरिहन्त देवके अतिरिक्त सर्व कुदेवादिकी मान्यता दूर हो ही गई है। अरिहन्तके द्रव्य-गुण-पर्यायको जान कर वहाँ नहीं रुकता परन्तु अपने आत्माकी ओर उन्मुख होता है। द्रव्य-गुण और पर्यायसे परिपूर्ण मेरा स्वरूप है, राग-द्वेष मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा निश्चित् करके, फिर पर्यायका लक्ष छोड़कर और गुण-भेदका भी लक्ष छोड़कर अभेद आत्माको लक्षमें लेता है—उस समय अकेले चिन्मात्र स्वभावका अनुभव होता है, उसी समय सम्यग्दर्शन होता है और मोहका क्षय हो जाता है।

(२०) आत्माका अनन्त गुणोंका पिण्ड है वह हार है, उसका जो चैतन्य गुण है वह सफेदी है, और उसकी प्रत्येक समयकी चैतन्य पर्यायें वह मोती हैं। आत्माका अनुभव करनेके लिये प्रथम तो उन द्रव्य-गुण पर्यायका पृथक् २ विचार करता है, पर्यायमें जो राग-द्वेष होता है वह मेरा स्वरूप नहीं है, क्योंकि अरिहन्तकी पर्यायमें राग-द्वेष नही है। राग रहित केवलज्ञान पर्याय मेरा स्वरूप है; वह पर्याय कहाँसे आती है? त्रिकाली चैतन्य गुणमेंसे वह प्रगट होती है, और ऐसे ज्ञान, दर्शन, सुख, अस्तित्व आदि अनंत गुणोंका एक रूप पिण्ड वह आत्म द्रव्य है।—ऐसा जाननेके पश्चात् भेदका लक्ष छोड़कर अभेद आत्माको लक्षमें लेकर एक आत्माको

ही जाननेसे विकल्प रहित निर्विकल्प आनन्दका अनुभव होता है; वही निर्विकल्प आत्म-समाधि है; वही आत्म साक्षात्कार है; वही स्वानुभव है; वही भगवानके दर्शन हैं; वही सम्यक्‌दर्शन है। जो कहो वह यही है। यही धर्म है। जिसप्रकार डोरा पिरोयी हुई सुई खोती नहीं है; उसीप्रकार यदि आत्मामें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा पिरो ले तो वह संसारमें परिभ्रमण न करे।

(२१) प्रथम, अरिहन्त जैसे अपने द्रव्य-गुण-पर्यायको जानकर अरिहन्तका लक्ष छोड़कर आत्माकी ओर उन्मुख हुआ; अब, अन्तरमें द्रव्य-गुण-पर्यायके विकल्प छोड़कर एक चेतन स्वभावको लक्षमें लेकर एकाग्र होने से आत्मामें मोहक्षयके लिये कैसी क्रिया होती है—वह कहते हैं। गुण-पर्यायको द्रव्यमें ही अभेद करके अन्तरोन्मुख हुआ वहाँ उत्तरोत्तर-प्रतिक्षण कर्ता-कर्म-क्रियाके भेदका क्षय होता जाता है और जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होता है। अन्तरोन्मुख हुआ वहाँ 'मैं करता हूँ, और आत्माकी श्रद्धा करनेकी ओर ढलता हूँ'—ऐसा भेदका विकल्प नहीं रहता। 'मैं कर्ता हूँ और पर्याय कर्म है, मैं पुण्य-पापका कर्ता नहीं हूँ और स्वभाव-पर्यायका कर्ता हूँ, पर्यायको अन्तरमें एकाग्र करनेकी क्रिया करता हूँ, मेरी पर्याय अन्तर में एकाग्र होती जा रही है'—इसप्रकारके कर्ता, कर्म और क्रियाके विभागोंके विकल्प नाश हो जाते हैं। विकल्परूप क्रिया न रहनेसे वह जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होता है। 'जो पर्याय द्रव्योन्मुख होकर एकाग्र हुई उस पर्यायको मैंने उन्मुख किया है'—ऐसा कर्ता-कर्मके विभागका विकल्प अनुभवके समय नहीं होता। जब अकेले चिन्मात्रभाव आत्माका अनुभव रह जाता है उसी क्षण मोह निराश्रय होता हुआ नाशको प्राप्त होता है;—यही अपूर्व सम्यग्दर्शन है।

जब सम्यग्दर्शन हो उस समय—'मैं पर्यायको अन्तरोन्मुख करता हूँ'—ऐसा विकल्प नहीं होता। 'मैं पर्यायको द्रव्योन्मुख करूँ' अथवा तो इस वर्तमान अंशको त्रिकालमें अभेद करूँ'—ऐसा विकल्प रहे तो पर्याय दृष्टि

राग होता है और अभेद द्रव्य प्रतीतिमें नहीं आता। अभेद-स्वभावकी ओर ढलनेसे विकल्पका क्षय हो जाता है और आत्माका निर्विकल्प अनुभव होता है। जब जीवको ऐसा अनुभव हुआ तब वह सम्यग्दृष्टि हुआ, जैनधर्मी हुआ। इसके बिना वास्तवमें जैनधर्मी नहीं कहलाता।

सम्यग्दृष्टि यानी पहलेमें पहला जैन कैसे हुआ जाता है—उसकी यह रीति कही जाती है। आत्मा परके कार्य करता है—ऐसा माने वह तो स्थूल मिथ्यादृष्टि अजैन है। पुण्य-पापके भाव हों उन्हें आत्माका कर्तव्य माने तो वह मिथ्यादृष्टि है, उनके जैन धर्म नहीं है। और, 'अन्तरमें जो निर्मल पर्याय हो उसे मैं करता हूँ'—इसप्रकार आत्मामें कर्ता कर्मके भेद के विकल्पमें रुका रहे तो भी मिथ्यात्व दूर नहीं होता। मेरी पर्याय अन्तरोन्मुख होती है, पहली पर्यायकी अपेक्षा दूसरी पर्यायमें अन्तरकी एकाग्रता बढ़ती जाती है'—इसप्रकार कर्ता-कर्म और क्रियाके भेदका लक्ष रहे वह विकल्पकी क्रिया है, अन्तर स्वभावोन्मुख होनेसे उस विकल्पकी क्रियाका क्षय होता जाता है और आत्मा निष्क्रिय (विकल्पकी क्रिया रहित) चिन्मात्र भावको प्राप्त होता है; इसलिये वह जीव सम्यग्दृष्टि हुआ, धर्मी हुआ, जैन हुआ। पश्चात् अस्थिरताके कारण उसे जो राग-द्वेषके विकल्प उठें उनमें एकता बुद्धि नहीं होती और स्वभावकी दृष्टि नहीं हटती, इससे सम्यग्दर्शन धर्म बना रहता है।

(२२) यह अपूर्व बात है। जिसप्रकार व्यापार-धंधेमें व्याज आदि गिननेमें ध्यान रखता है उसीप्रकार यहां आत्माकी रुचि करके बराबर ध्यान रखना चाहिये, अन्तरमें मिलान करना चाहिये। ठीक मांगलिक समय पर अपूर्व बात आयी है। यह कोई अपूर्व बात है, समझने जैसी है—इसप्रकार रुचि लाकर साठ मिनिट तक बराबर लक्ष रखकर सुने तो भी दूसरोंकी अपेक्षा भिन्न प्रकारका महान् पुण्य हो जाये। और यदि आत्माका लक्ष रखकर अन्तरमें समझे तब तो जो अनन्त कालमें नहीं मिला—

ऐसे अपूर्व सम्यग्दर्शनका लाभ हो। यह बात सुननेको मिलना भी दुर्लभ है।

(२३) 'अपनी पर्यायको मैं अंतरोन्मुख करता हूँ, पर्यायकी क्रिया में परिवर्तन होता जारहा है, निर्मलतामें वृद्धि होरही है'—ऐसा विकल्प रहे वह राग है। अन्तर स्वभावोन्मुख होनेसे उत्तरोत्तर-प्रतिक्षण वह विकल्प नष्ट होता जाता है। जब आत्माके लक्षसे एकाग्र होने लगता है तब भेदके विकल्पकी क्रियाका क्षय हो जाता है और जीव निष्क्रिय चिन्मात्र स्वभावका अनुभव करता है।—ऐसी सम्यग्दर्शनकी अन्तर क्रिया है, वही धर्मकी प्रथम क्रिया है। आत्मामें जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह स्वयं धर्म क्रिया है, परन्तु 'मैं निर्मल पर्याय प्रगट करूँ, अभेद आत्मा की ओर पर्यायको उन्मुख करूँ'—ऐसा जो भेदका विकल्प है वह राग है, वह धर्मकी क्रिया नहीं है। अनुभवके समय उस विकल्पकी क्रियाका अभाव है इससे—'निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होता है'—ऐसा कहा है। निष्क्रिय चिन्मात्र भावकी प्राप्ति ही सम्यग्दर्शन है।

(२४) मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, रागकी क्रिया मैं नहीं हूँ-इसप्रकार पहले द्रव्य-गुण-पर्यायका स्वरूप निश्चित करनेमें राग था, किन्तु द्रव्य-गुण-पर्यायका स्वरूप जानकर अभेद स्वभावमें ढलनेका ही पहलेसे लक्ष था। द्रव्य-गुण-पर्यायको जान लेनेके पश्चात् भी जहाँ तक भेदका लक्ष रहे वहाँ तक सम्यग्दर्शन नहीं होता; अभेद स्वभावमें ढलनेसे भेदका लक्ष छूट जाता है और सम्यक्‌दर्शन होता है। पहले द्रव्य-गुण-पर्यायको जाना उसकी अपेक्षा इसमें अनन्तगुना पुरुषार्थ है। यह अन्तरस्वभावकी क्रिया है, इसमें स्वभावका अपूर्व पुरुषार्थ है। स्वभावके अनन्त पुरुषार्थके बिना यदि संसारसे पार हो सकते तो सभी जीव मोक्षमें चले जाते। पुरुषार्थके बिना यह बात समझमें नहीं आसकती, स्वभावकी रुचि पूर्वक अनन्त पुरुषार्थ होना चाहिये। इसे समझनेके लिये धैर्य पूर्वक सद्गुरुगमसे अभ्यास करना चाहिये।

(२५) पहले जो अरिहन्तके द्रव्य-गुण-पर्यायको जानले वह जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्यायको जानता है, और पश्चात् अन्तरमें अपने अभेद स्वभावकी ओर उन्मुख होकर आत्माको जाननेसे उसका मोह नष्ट होजाता है। 'मैं अन्तरमें ढलता हूँ, इसलिये इसी समय कार्य प्रगट होगा'—ऐसे विकल्पोंको भी छोड़कर क्रमशः सहज स्वभावमें ढलता जाता है, वहाँ मोह निराश्रय होकर नाशको प्राप्त होता है।

(२६) इस ८० वीं गाथामें भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवने सम्यग्दर्शनका अपूर्व उपाय बतलाया है। जो आत्मा अरिहन्त भगवानके द्रव्य-गुण-पर्यायको जानले उसे अपने आत्माकी खबर पड़े कि मैं भी अरहन्तकी जातिका हूँ, अरिहन्तोंकी पंक्तिमें बैठ सकूँ—वैसा मेरा स्वभाव है। ऐसा निश्चित् कर लेनेके पश्चात् पर्यायमें जो कचास (कमी) है उसे दूर करके अरिहन्त जैसी पूर्णता करनेके लिये अपने आत्मस्वभावमें ही एकाग्र होना रहा; इसलिये वह जीव अपने आत्माकी ओर उन्मुख होनेकी क्रिया करता है और सम्यग्दर्शन प्रगट करता है। वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी क्रियाका वर्णन है। यह धर्मकी सबसे पहली क्रिया है। छोटेसे छोटा जैन धर्मी यानी अविरत सम्यग्दृष्टि होनेकी यह बात है। इसे समझे बिना किसी जीवको छट्ठे-सातवें गुणस्थानकी मुनि दशा, अथवा पाँचवें गुणस्थानकी श्रावक दशा होती ही नहीं, और पंच महाव्रत, व्रत, प्रतिमा, त्याग आदि कुछ सच्चा नहीं होता। यह मुनि या श्रावक होनेसे पूर्वके सम्यक्दर्शनकी बात है। वस्तु स्वरूप क्या है? उसे समझे बिना; उतावला होकर बाह्य त्याग करने लग जाये तो उससे कहीं धर्म नहीं होता। भरत चक्रवर्तीके छह खण्डका राज्य था; उनके अरबों वर्ष तक राज-पाटमें रहने पर भी ऐसी दशा थी। जिसने आत्मस्वभावका भान कर लिया उसे सदैव वह भान बना रहता है, खाते-पीते समय—कभी भी आत्माका भान न भूले और सदैव ऐसा भान बना रहे—वही निरन्तर करना है। ऐसा भान होनेके पश्चात् उसे गोखना नहीं पड़ता। जैसे हजारों अछूतोंके मेलेमें

कोई ब्राह्मण जा पहुँचे और मेलेके बीचमें खड़ा हो, तथापि 'मैं ब्राह्मण हूँ'—इस बातको वह नहीं भूलता; उसीप्रकार धर्मी जीव अछूतोंके मेलेकी तरह अनेक प्रकारके राज पाट, व्यवहार-धन्धे आदि संयोगोंमें स्थित दिखाई दें, और पुण्य-पाप होते हों, तथापि वे सोते समय भी चैतन्यका भान नहीं भूलते। आसन बिछाकर बैठे तभी धर्म होता है—ऐसा नहीं है; यह सम्यग्दर्शन धर्म तो निरन्तर बना रहता है।

(२७) यह बात अन्तरमें ग्रहण करने जैसी है। रुचिपूर्वक शान्त चित्त होकर परिचय करे तो यह बात पकड़में आ सकती है। अपनी मानी हुई सारी पकड़को छोड़कर सत्समागमसे परिचय किये बिना उकतानेसे यह बात पकड़में नहीं आसकती। पहले सत्समागमसे श्रवण, ग्रहण और धारण करके, शान्तिपूर्वक अन्तरमें विचारना चाहिये। यह तो अकेले अंतरके विचारका कार्य है, परन्तु सत्समागमसे श्रवण-ग्रहण और धारणा ही, न करे तो विचार करके अन्तरमें किसप्रकार उतारेगा? अन्तरमें अपूर्व रुचिसे उत्साहसे आत्माकी लौ पूर्वक अभ्यास करना चाहिये; पैसे में सुख नहीं है तथापि पैसा मिलनेकी बात कितनी रुचि पूर्वक सुनता है। लेकिन इस बातसे तो आत्माकी मुक्ति प्राप्त हो सकती है; इसे समझनेके लिये अन्तरमें रुचि और उत्साह होना चाहिये। जीवनमें यही करने योग्य है।

(२८) पहले स्वभावकी ओर ढलनेकी बात की उस समय आत्मा को भूलते हारकी उपमा दी थी; और फिर अन्तरंगमें एकाग्र होकर अनुभव किया तब अकम्प प्रकाशवाले मणिकी उपमा दी थी। इसप्रकार 'जिसका निर्मल प्रकाश मणिकी भाँति अकंपरूपसे वर्तता है—ऐसे उस (चिन्मात्र-भावको प्राप्त हुये) जीवका मोहांधकार निराश्रयता के कारण अवश्यमेव प्रलयको प्राप्त होता है।' जिसप्रकार मणिका प्रकाश पवनसे नहीं कँपता उसीप्रकार यहाँ आत्माको ऐसी अडिग श्रद्धा हुई कि वह आत्मा की श्रद्धामें कभी डिगता नहीं है। जहाँ जीव आत्माकी निश्चल प्रतीतिमें स्थिर हुआ वहाँ मिथ्यात्व कहाँ रहेगा? जीव अपने स्वभावमें स्थिर हुआ वहाँ उसे मिथ्यात्व कर्मके उदयमे युक्तता नहीं रही, इससे उस मिथ्यात्व-

कर्मका अवश्य क्षय हो जाता है। इसमें क्षायिक सम्यकदर्शन जैसी बात है। पंचमकालके मुनि पंचमकालके जीवोंके लिये बात करते हैं, तथापि मोहके क्षयकी ही बात की है। क्षयोपशम सम्यक्त्व भी अप्रतिहतरूपसे क्षायिक ही होगा–ऐसी बात ली है। और पश्चात् क्रमानुसार अकंपरूपसे आगे बढ़कर वह जीव चारित्र दशा प्रगट करके केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध होता है।

सम्यक्त्वकी दुर्लभता

काल अनादि है, जीव भी अनादि है और भवसमुद्र भी अनादि है, परन्तु अनादिकालसे भवसमुद्रमें गोते खाते हुए इस जीवने दो वस्तुयें कभी प्राप्त नहीं कीं–एक तो श्री जिनवर देव और दूसरा सम्यक्त्व।

[परमात्म–प्रकाश]

आत्मज्ञानसे शाश्वत सुख

जो जाने शुद्धात्मको अशुचि देहसे भिन्न,
वे ज्ञाता सब शास्त्रके शाश्वत सुखमें लीन ॥

[योगसार ८५]

जो शुद्ध आत्माको अशुचिरूप शरीरसे भिन्न जानते हैं वे सर्व शास्त्रके ज्ञाता है और शाश्वत सुखमें लीन होते हैं।

(३६) स्वभावानुभव करनेकी रीति

सिद्ध भगवान ज्ञानसे सब कुछ मात्र जानते ही हैं, उनके ज्ञानमें न तो विकल्प होता है, न रागद्वेष होता है और न कर्तृत्वकी मान्यता होती है। इसी प्रकार समस्त आत्माओंका स्वभाव सिद्धोंकी ही भाँति ज्ञातृत्व भावसे मात्र जानना ही है। जो इस तत्त्वको जानता है वह जीव अपने ज्ञान स्वभावमें उन्मुख होकर सर्व विकल्पादिका निषेध करता है। उसके ज्ञान स्वभावमें एकत्व बुद्धि प्रगट हुई है और विकल्पकी एकत्व बुद्धि टूट गई है; अब जो विकल्प आते हैं उन सबका निषेध करता हुआ आगे बढ़ता है। साधक जीव यह जानता है कि सिद्धका और मेरा स्वभाव समान ही है; क्योंकि सिद्धोंमें विकल्प नहीं है अतः वे मुझमें भी नहीं हैं, इसलिये मैं अभी ही अपने स्वभावके बलसे उनका निषेध करता हूं। मेरे ज्ञानमें सभी रागादिका निषेध ही है। जैसे सिद्ध भगवान मात्र चैतन्य हैं उसीप्रकार मैं भी मात्र चैतन्यको ही अंगीकार करता हूँ।

कभी भी स्वसन्मुख होकर सर्व पुण्य पाप व्यवहारका निषेध करना सो यही मोक्षमार्ग है, तब फिर अभी ही उसका निषेध क्यों न किया जाये? क्योंकि उसका निषेध रूप स्वभाव अभी ही परिपूर्ण विद्यमान है। वर्तमानमें ही स्वभावकी प्रतीति करनेपर पुण्य पापादि व्यवहारका निषेध स्वयं हो जाता है। जो यह मानता है कि मैं अभी तो पुण्य-पापादिका निषेध नहीं करता किन्तु बादमें निषेध कर दूंगा उसे स्वभावके प्रति रुचि नहीं है किन्तु पुण्य पापकी ही रुचि है। यदि तुझे स्वभावके प्रति रुचि हो और समस्त पुण्य पाप व्यवहारके निषेधकी रुचि हो तो स्वभावोन्मुख होकर अभी ही निषेध करना योग्य है, ऐसा निर्णय कर। रुचिके लिये काल मर्यादा नहीं होती। श्रद्धा हो किन्तु श्रद्धाका कार्य न हो ऐसा नहीं हो सकता। हाँ यह बात अलग है कि श्रद्धामें निषेध करनेके बाद पुण्य पापके दूर होनेमें थोड़ा समय लग जाये, किन्तु जिसे स्वभावकी रुचि है और जिसकी ऐसी भावना है कि पुण्य पापके निषेध की श्रद्धा करने योग्य

है—तो वह श्रद्धामें तो पुण्य पापका निषेध वर्तमानमें ही करता है। यदि कोई वर्तमानमें श्रद्धामें पुण्य पापका आदर करे तो उसके उनके निषेधकी श्रद्धा ही कहाँ रही ? श्रद्धा तो परिपूर्ण स्वभावको ही वर्तमान मानती है।

जिसे स्वभावकी रुचि है–स्वभावके प्रति आदर है और पुण्य पापके विकल्पके निषेधकी रुचि एवं आदर है उसके अंतरंगसे अधैर्य टूट जाता है। अब सपूर्ण स्वभावकी रुचिमें बीचमें जो कुछ भी राग–विकल्प उठता है उसका निषेध करके स्वभावोन्मुख होना सो यही एक कार्य रह जाता है। स्वभावकी श्रद्धाके बलसे उसका निषेध किया सो किया,–अब ऐसा कोई भी विकल्प या राग नहीं आ सकता कि जिसमें एकता बुद्धि हो। और एकत्वबुद्धिके विना होनेवाले जो पुण्य-पापके विकल्प हैं उन्हें दूर करनेके लिये श्रद्धामें अधैर्य नहीं होता, क्योंकि मेरे स्वभावमें वह कोई है ही नहीं–ऐसी जहाँ रुचि हुई कि फिर उसे दूर करनेका अधैर्य कैसे हो सकता है ? स्वभावोन्मुख होकर उसका निषेध किया है इसलिये विकल्प अल्पकालमें दूर हो ही जाता है। ऐसा विकल्प नहीं होता कि 'उसका निषेध करूं' किन्तु स्वभावमें वह निषेधरूप ही है इसलिये स्वभावका अनुभव–विश्वास करनेपर उसका निषेध स्वयं हो जाता है।

जहाँ आत्मस्वभावकी रुचि हुई कि वहीं पुण्य–पापके निषेधकी श्रद्धा हो जाती है। आत्मस्वभावमें पुण्य-पाप नहीं है इसलिये आत्मामें पुण्य-पापका निषेध करने योग्य है ऐसी रुचि जहाँ हुई वहीं श्रद्धामें पुण्य–पाप–व्यवहारका निषेध हो ही जाता है। रुचि और अनुभवके बीच जो विलम्ब होता है उसका भी निषेध ही है। जिसे स्वभावकी रुचि हो गई है उसे विकल्पको तोड़कर अनुभव करनेमें भले ही विलम्ब लगे तथापि उन विकल्पोंका तो उनके निषेध ही है। यदि विकल्पका निषेध न हो तो स्व-भावकी रुचि कैसी ? और यदि स्वभावकी रुचिके द्वारा विकल्पका निषेध होता है तो फिर उस विकल्पको तोड़कर अनुभव होनेमें उसे शंका कैसी ? रुचि होनेके बाद जो विकल्प रह जाता है उसकी भी रुचि निषेध ही करती

है, इसलिये रुचि और अनुभवके बीच काल भेदकी स्वीकृति नहीं है। जिसे स्वभावकी रुचि हो गई है, उसे रुचि और अनुभवके बीच जो अल्पकालिक विकल्प होता है उसका रुचिमें निषेध है, इसप्रकार जिसे स्वभावकी रुचि हो गई है उसे अंतरंगसे अधैर्य नहीं होता, किन्तु स्वभावकी रुचिके बलसे ही वह शेष विकल्पोंको तोड़कर अल्प कालमें स्वभावका प्रगट अनुभव करता है।

आत्माके स्वभावमें व्यवहारका, रागका, विकल्पका निषेध है— अभाव है; तथापि जो व्यवहारको, रागको, या विकल्पको आदरणीय मानता है उसे स्वभावकी रुचि नहीं है, और इसलिये वह जीव व्यवहारका निषेध करके कभी भी स्वभावोन्मुख नहीं हो सकेगा। सिद्ध भगवानके रागादि का सर्वथा अभाव ही हो गया है, इसलिये उन्हें अब व्यवहारका निषेध करके स्वभावोन्मुख होना शेष नहीं रह गया है। किन्तु साधक जीवके पर्यायमें रागादि विकल्प और व्यवहार विद्यमान है इसलिये उसे उस व्यवहारका निषेध करके स्वभावोन्मुख होना है।

हे जीव! यदि स्वभावमें सब पुण्य-पाप इत्यादिका निषेध ही है तो फिर मोक्षार्थीके ऐसा आलम्बन नहीं हो सकता कि-'अभी कोई भी व्यवहार या शास्त्राभ्यास इत्यादि करलूं, फिर उसका निषेध कर लूंगा'। इसलिये तू पराश्रित व्यवहारका अवलंबन छोड़कर स्पष्ट—सीधा चैतन्यको स्पर्श कर और किसी भी वृत्तिके आलंबनकी शल्यमें न अटक। सिद्ध भगवानकी भांति तेरे स्वभावमें मात्र चैतन्य है, उस चैतन्य स्वभावको ही स्पष्टतया स्वीकार कर, उसमें कहीं रागादि दिखाई ही नहीं देते; जब कि रागादिक हैं ही नहीं तब फिर उनके निषेधका विकल्प कैसा? स्वभावकी श्रद्धाको किसी भी विकल्पका अवलम्बन नहीं होता। जिस स्वभावमें राग नहीं है उसकी श्रद्धा भी रागसे नहीं होती। इसप्रकार सिद्धके समान अपने आत्माके ध्यानके द्वारा मात्र चैतन्य पृथक् अनुभवमें आता है, और वहाँ सर्व व्यवहारका निषेध स्वयमेव हो जाता है। यही साधक दशाका स्वरूप है।

(३७) पुनीत सम्यग्दर्शन

"आत्मा है, परसे भिन्न है, पुण्य-पाप रहित ज्ञाता ही है" इतना मात्र जान लेनेसे सम्यक्दृष्टित्व नहीं हो सकता, क्योंकि इतना तो अनन्त संसारी जीव भी जानते है। जानना तो ज्ञानके विकासका कार्य है, उसके साथ परमार्थसे सम्यग्दर्शनका सम्बन्ध नहीं है।

मैं आत्मा हूँ और परसे भिन्न हूँ—इतना मात्र मान लेना यथार्थ नहीं है, क्योंकि आत्मामें मात्र अस्तित्व ही नही है, और मात्र ज्ञातृत्व ही नहीं है; परन्तु आत्मामें ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, सुख, वीर्य, इत्यादि अनन्त गुण हैं। उस अनन्त गुण स्वरूप आत्माके स्वानुभवके द्वारा जब तक आत्मसंतोष न हो तब तक सम्यक्दृष्टित्व नहीं होता।

नव तत्वोंके ज्ञान तथा पुण्य-पापसे आत्मा भिन्न है, ऐसा जो ज्ञान है सो सबका प्रयोजनभूत स्वानुभव ही है। स्वानुभवकी गन्ध भी न हो, और मात्र विकल्पके द्वारा ज्ञानमें जो कुछ जाना है उतने ज्ञातृत्वमें ही संतोष मानकर अपनेको स्वयं ही सम्यक्दृष्टि माने तो उस मान्यतामें सम्पूर्ण परम आत्मस्वभावका अनादर है। विकल्परूप ज्ञातृत्वसे अधिक कुछ भी न होने पर भी जो जीव अपने में सम्यक्दृष्टित्व मान लेता है उस जीवको परम कल्याणकारी सम्यक्दर्शनके स्वरूपकी ही खबर नहीं है। सम्यक्दर्शन अभूतपूर्व वस्तु है, वह ऐसी मुफ्तकी चीज नहीं है कि जो विकल्पके द्वारा प्राप्त हो जावे; किन्तु परम पवित्र स्वभावके साथ परिपूर्ण सम्बन्ध रखनेवाला सम्यक्दर्शन विकल्पोंसे परे, सहज स्वभावके स्वानुभव प्रत्यक्षसे प्राप्त होता है। जब तक सहज स्वभावका स्वानुभव स्वभावकी साक्षीसे प्राप्त नहीं होता तब तक उसीमें संतोष न मानकर सम्यक्दर्शनकी प्राप्तिके परम उपायमें निरन्तर जागृत रहना चाहिये—यह निकट भव्यात्माओंका कर्तव्य है। परन्तु 'मुझे तो सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है, अब मात्र चारित्रमोह रह गया है' ऐसा मानकर, बैठे रहकर पुरुषार्थ हीनताका—शुष्कताका सेवन नहीं करना चाहिये। यदि जीव ऐसा करेगा तो स्व-

भाव उसकी साक्षी नहीं देगा, और सम्यक्दृष्टिके मिथ्याभ्रममें ही जीवन व्यर्थ चल जायेगा। इसलिये ज्ञानीजन सचेत करते हुए कहते हैं कि—"ज्ञान चारित्र और तप तीनों गुणोंको उज्ज्वल करने वाली सम्यक् श्रद्धा प्रधान आराधना है। शेष तीन आराधनायें एक सम्यक्त्वके विद्यमान भाव में ही आराधक भावसे होती हैं। इसप्रकार सम्यक्त्वकी अकथ और अपूर्व महिमाको जानकर उस पवित्र कल्याणमूर्तिस्वरूप सम्यग्दर्शनको अनन्तानन्त दुःखरूप अनादि संसारकी आत्यन्तिक निवृत्तिके हेतु हे भव्य जीवो! भक्ति पूर्वक अंगीकार करो, प्रति समय आराधना करो"।

[आत्मानुशासन पृष्ठ ६ से]

निःशंक सम्यग्दर्शन होने से पूर्व संतोष मान लेना और उस आराधनाको एक ओर छोड़ देना—इसमें अपने आत्मस्वभावका और कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनका महा अपराध और अभक्ति है; जिसके महा दुःखदायी फलका वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे सिद्धोंके सुखका वर्णन नहीं किया जा सकता उसीप्रकार मिथ्यात्वके दुःखका वर्णन नहीं किया जा सकता।

आत्मवस्तु मात्र द्रव्यरूप नहीं, किन्तु द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप है। "आत्मा अखण्ड शुद्ध है" जो ऐसा सुनकर मान ले परन्तु पर्यायको न समझे, अशुद्ध और शुद्ध पर्यायका विवेक न करे उसे सम्यक्त्व नहीं हो सकता। कदाचित् ज्ञानके विकाससे द्रव्य-गुण-पर्यायके स्वरूपको (विकल्प ज्ञानके द्वारा) जान ले, तथापि इतने मात्रसे जीवका यथार्थ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। क्योंकि वस्तुस्वरूपमें एक मात्र ज्ञानगुण ही नहीं परन्तु श्रद्धा, सुख इत्यादि अनन्तगुण हैं, और जब वे सभी गुण अंशतः स्वभावरूप कार्य करते हैं। तभी जीवका सम्यग्दर्शनरूपी प्रयोजन सिद्ध होता है। ज्ञानगुणने विकल्पके द्वारा आत्माको जाननेका कार्य किया परन्तु तब दूसरी ओर श्रद्धागुण मिथ्यात्वरूप कार्य कर रहा है, और आनन्दगुण आकुलताका संवेदन कर रहा है—यह सब भूल जाये और मात्र ज्ञानसे

ही सन्तोष मानले तो ऐसा मानने वाला जीव संपूर्ण आत्मद्रव्यको मात्र ज्ञानके एक विकल्पमें ही बेच देता है।

मात्र द्रव्यसे ही सन्तोप नहीं मान लेना चाहिये, क्योंकि द्रव्यगुणसे महत्ता नहीं किन्तु निर्मल पर्यायसे ही सच्ची महत्ता है। द्रव्य गुण तो सिद्धोंके और निगोदिया जीवोंके–दोनोंके हैं। यदि द्रव्य-गुणसे ही महत्ता मानी जाय तो निगोदियापन भी महिमावान क्यों न कहला–येगा? किन्तु नहीं, नहीं, सच्ची महत्ता तो पर्याय से है। पर्यायकी शुद्धता ही भोगनेमें काम आती है; कहीं द्रव्य-गुण की शुद्धता भोगनेमें काम नहीं आती, (क्योंकि वह तो अप्रगटरूप है–शक्तिरूप है) इसलिये अपनी वर्तमान पर्यायमें संतोप न मानकर पर्यायकी शुद्धताको प्रगट करनेके लिये पवित्र सम्यग्दृष्टि प्राप्त करनेका अभ्यास करना चाहिये।

"अहो! अभी पर्यायमें बिल्कुल पामरता है, मिथ्यात्वको अनन्त-काल की जूठन समझकर इसी क्षण ओकं देने की (वमन) कर डालने की आवश्यक्ता है। जब तक यह पुरानी जूठन पड़ी रहेगी तब तक नया मिष्ट भोजन न तो रुचेगा और न पच सकेगा"—इसप्रकार जीवको जब तक अपनी पर्यायकी पामरता भापित नहीं होती तब तक उसकी दशा सम्यक्त्व के सन्मुख भी नहीं है।

परिणामोंमें अनेक प्रकारका झंझावात आरहा हो, परिणतिका सहजरूपसे आनन्द भाव होनेकी जगह मात्र कृत्रिमता और भय–शंकाके झोंके आते हों, प्रत्येक क्षण–क्षणकी परिणति विकारके भारके नीचे दब रही हो, कदापि शांति–आत्म संतोषका लेश मात्र अन्तरंगमें न पाया जाता हो, तथापि अपनेको सम्यक्दृष्टि मान लेना कितना अपार दम्भ है! कितनी अज्ञानता है, और कितनी घोर आत्मवंचना है।

केवली प्रभुका आत्म परिणमन सहजरूपसे केवलज्ञानमय परम सुखदशारूप ही परिणमित हो रहा है। सहजरूपसे परिणमित होने वाले केवलज्ञानका मूल कारण सम्यक्त्व ही है, तब फिर उस सम्यक्त्व सहित

जीवका परिणमन कितना सहज होगा! उसकी आत्मजागृति निरन्तर कैसी प्रवर्तमान होगी !!!

जो अल्पकालमें केवलज्ञान जैसी परम सहजदशाकी प्राप्ति कराता है, ऐसे इस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनकी कल्पनाके द्वारा कल्पित कर लेने में अनन्त केवली भगवन्तोंका और सम्यक्दृष्टियोंका कितना घोर अनादर है? यह तो एक प्रकारसे अपने आत्माकी पवित्र दशाका ही अनादर है?

सम्यक्त्व दशाकी प्रतीतिमें पूरा आत्मा आ जाता है, उस सम्यक्त्व दशाके होने पर निजको आत्मसाक्षीसे संतोष होता है, निरन्तर आत्मजागृति रहती है, कहीं भी उसकी आत्मपरिणति फँसती नहीं है, उसके भावोंमें कदापि आत्माके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी आत्मसमर्पणता नहीं आ पाती;—जहाँ ऐसी दशाकी प्रतीति भी न हो वहाँ सम्यक्दर्शन हो ही नहीं सकता।

बहुतसे जीव कुधर्ममें ही अटके हुए हैं, परन्तु परम सत्यस्वरूपको सुनते हुए भी—विकल्प ज्ञानसे जानते हुए भी, और यही सत्य है ऐसी प्रतीति करके अपना आन्तरिक परिणमन तद्रूप किये बिना सम्यक्त्वकी पवित्र आराधनाको अपूर्ण रखकर उसीमें संतोष मान लेने वाले जीव भी हैं, वे तत्वका अपूर्व लाभ नहीं पा सकते।

इसलिये अब आत्मकल्याणके हेतु यह निश्चय करना चाहिये कि—अपनी वर्तमानमें होनेवाली यथार्थ दशा कैसी है, और भ्रमको दूर करके रत्नत्रयकी आराधनामें निरन्तर प्रवृत्ति होना चाहिये। यही परम पावन कार्य है।

(३८) धर्मात्मा की स्वरूप-जागृति

सम्यक्दृष्टि जीवके सदा स्वरूपजागृति रहती है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् चाहे जिस परिस्थितिमें रहते हुए भी उस जीवको स्वरूपकी अनाकुलताका आंशिक वेदन तो हुआ ही करता है, किसी भी परिस्थितिमें पर्याय

की ओरका वेग ऐसा नहीं होता कि जिससे निराकुल स्वभावके वेदनको बिलकुल ढककर मात्र आकुलताका वेदन होता रहे। सम्यग्दृष्टिको प्रतिक्षण निराकुल स्वभाव और आकुलताके बीच भेदज्ञान रहता है। और उसके फल स्वरूप वह प्रतिक्षण निराकुल स्वभावका आंशिक वेदन करता है। ऐसा चौथे गुणस्थानमें रहने वाले धर्मात्माका स्वरूप है। बाह्य क्रियाओं परसे स्वरूप–जागृतिका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। शरीरसे शांत बैठा हो तो ही अनाकुलता कहलाती है और जब लड़ रहा हो उस समय अनाकुलता किंचित् नहीं हो सकती ऐसा नहीं है अज्ञानी जीव बाह्यसे शांत बैठा दिखाई देता है तथापि अंतरंगमें तो वह विकारमें ही लवलीन होनेसे एकांत आकुलता ही भोगता है उसे किंचित् स्वरूप–जागृति नही है। और ज्ञानी जीवको युद्धके समय भी अतरंगमें विकारभावके साथ तन्मयता नहीं रहती। इससे उस समय भी उसे आकुलता रहित आंशिक शांतिका वेदन होता है– इतनी स्वरूप–जागृति तो धर्मात्माके रहती ही है। ऐसी स्वरूप–जागृति ही धर्म है दूसरा कोई धर्म नहीं।

(३६) हे भव्य ! इतना तो अवश्य करना।

आचार्यदेव सम्यग्दर्शनके ऊपर मुख्य जोर देकर कहते हैं कि हे भाई! तुझसे अधिक न हो तो भी थोड़ेमें थोड़ा सम्यग्दर्शन तो अवश्य रखना। यदि तू इससे भ्रष्ट हो गया तो किसी भी प्रकार तेरा कल्याण नहीं होगा। चारित्रकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनमें अल्प पुरुषार्थ है, इसलिये सम्यग्दर्शन अवश्य करना। सम्यग्दर्शनका ऐसा स्वभाव है कि जो जीव इसे धारण करता है वह जीव क्रमशः शुद्धताकी वृद्धि करके अल्पकालमें ही मुक्तदशा प्राप्त कर लेता है, वह जीवको अधिक समय तक संसारमें नहीं रहने देता। आत्मकल्याणका मूल कारण सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकता पूर्ण मोक्षमार्ग है। हे भाई! यदि तुझसे सम्यग्दर्शन पूर्वक रागको छोड़कर चारित्र दशा प्रगट हो सके तो वह अच्छा है, और यही

करने योग्य है। किन्तु यदि तुझसे चारित्रदशा प्रगट न हो सके तो कमसे कम आत्मस्वभावकी यथार्थ श्रद्धा तो अवश्य करना, इस श्रद्धा मात्रसे भी अवश्य तेरा कल्याण होगा।

मात्र सम्यग्दर्शनसे भी तेरा आराधकत्व चलता रहेगा। वीतराग देवके कहे हुए व्यवहारका विकल्प भी हो तो उसे भी बंधन मानना। पर्यायमें राग होता हो तथापि ऐसी प्रतीति रखना कि राग मेरा स्वभाव नहीं है, और इस रागके द्वारा मुझे धर्म नहीं है। ऐसे राग-रहित स्वभावकी श्रद्धा सहित जो राग-रहित चारित्रदशा हो सके तो वह प्रगट करके स्वरूपमें स्थिर होजाना, किन्तु यदि ऐसा न हो सके और राग रह जाये तो उस रागको मोक्षका हेतु नहीं मानना, राग-रहित अपने चैतन्य स्वभावकी श्रद्धा रखना।

कोई ऐसा माने कि पर्यायमें राग हो तबतक राग रहित स्वभावकी श्रद्धा कैसे हो सकती है ? पहले राग दूर हो जाय, फिर राग-रहित स्वभाव की श्रद्धा हो। इसप्रकार जो जीव रागको ही अपना स्वरूप मानकर सम्यक्-श्रद्धा भी नहीं करता उससे आचार्य भगवान कहते हैं कि हे जीव! तू पर्यायदृष्टिके रागको अपना स्वरूप मान रहा है। किन्तु पर्यायमें राग होते हुए भी तू पर्यायदृष्टि छोड़कर स्वभावदृष्टिसे देख तो तुझे राग-रहित अपने स्वरूपका अनुभव हो। जिस समय क्षणिक पर्यायमें राग है, उसी समय ही राग-रहित त्रिकाली स्वभाव है, इसलिये पर्यायदृष्टि छोड़कर तू अपने राग-रहित स्वभावकी ही प्रतीति रखना। इस प्रतीतिके बलसे अल्पकालमें राग दूर हो जावेगा, किन्तु इस प्रतीतिके बिना कभी भी राग नहीं टल सकेगा।

"पहले राग दूर हो जाय तो मैं राग-रहित स्वभावकी श्रद्धा करूं" ऐसा नहीं है। आचार्य देव कहते हैं कि पहले तू रागरहित स्वभावकी श्रद्धा कर तो उस स्वभावकी एकाग्रता द्वारा राग दूर हो। "राग दूर हो तो श्रद्धा करूं" अर्थात् "पर्याय सुधरे तो द्रव्य मानूं" ऐसी जिसकी मान्यता है वह

जीव पर्यायदृष्टि है–पर्यायमूढ़ है, उसके स्वभावदृष्टि नहीं है, और वह मोक्षमार्गके क्रमको नहीं जानता क्योंकि सम्यक्‌श्रद्धाके पहले सम्यग्चारित्र की इच्छा रखता है। "रागरहित स्वभावकी प्रतीति करूं तो राग दूर हो" ऐसे अभिप्रायमें द्रव्यदृष्टि और द्रव्यदृष्टिके बलसे पर्यायमें निर्मलता प्रगट होती है। मेरा स्वभाव रागरहित है ऐसे वीतराग अभिप्राय सहित (स्वभावके लक्ष्यसे अर्थात् द्रव्यदृष्टिसे) जो परिणमन हुआ उसमें प्रतिक्षण राग दूर होता है और अल्पकालमें ही उसका नाश होता है, यह सम्यग्दर्शनकी महिमा है। किन्तु जो पर्यायदृष्टि ही रखकर अपनेको रागयुक्त मानले तो राग किसप्रकार दूर हो। "मैं रागी हूं" ऐसे रागीपनके अभिप्राय से (विकारके लक्ष्यसे, पर्यायदृष्टिसे) जो परिणमन होता है, उसमें रागकी उत्पत्ति हुआ करती है किन्तु राग दूर नही होता। इससे पर्यायमें राग होने पर भी उसी समय पर्यायदृष्टिको छोड़कर स्वभावदृष्टिसे रागरहित चैतन्य स्वभावकी श्रद्धा करना आचार्य भगवान बतलाते है और यही मोक्षमार्गका क्रम है।

आत्मार्थीका यह प्रथम कर्तव्य है कि यदि पर्यायमें राग दूर न हो सके तो भी "मेरा स्वरूप रागरहित है ऐसी श्रद्धा अवश्य करना चाहिये।" आचार्यदेव कहते हैं कि यदि तुझसे चारित्र नहीं हो सकता तो श्रद्धामें टालमटोल मत करना। अपने स्वभावको अन्यथा नही मानना।

हे जीव! तू अपने स्वभावको स्वीकार कर, स्वभाव जैसा है उसे वैसा ही मान। जिसने पूर्ण स्वभावको स्वीकार करके सम्यग्दर्शनको टिका रखा है वह जीव अल्पकालमें ही स्वभावके बलसे ही स्थिरता प्रगट करके मुक्त हो जायगा।

मुख्यतः पंचमकालके जीवोंसे आचार्यदेव कहते हैं कि–इस दग्ध पंचमकालमें तुम शक्ति रहित हो किन्तु तब भी केवल शुद्धात्मस्वरूप का श्रद्धान तो अवश्य करना। इस पंचमकालमें साक्षात् मुक्ति नहीं है, किन्तु भवभयको नाश करनेवाला जो अपना स्वभाव है उसकी श्रद्धा करना, यह

निर्मल बुद्धिमान् जीवोंका कर्तव्य है। अपने भवरहित स्वभाव की श्रद्धासे अल्पकालमें ही भवरहित हो जायगा। इसलिये हे भाई! पहले तू किसी भी प्रयत्नसे परम पुरुषार्थके द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट कर।

प्रश्नः—आप सम्यग्दर्शनका अपार माहात्म्य बतलाते हैं यह तो ठीक है, यही करने योग्य है, किन्तु यदि इसका स्वरूप समझमें न आये तो क्या करना चाहिये?

उत्तरः—सम्यग्दर्शनके अतिरिक्त आत्मकल्याणका दूसरा कोई मार्ग (उपाय) तीन काल-तीन लोकमें नहीं है इसलिये जब तक सम्यग्दर्शनका स्वरूप समझमें न आये तब तक उसका ही अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिये। आत्मस्वभावकी यथार्थ समझका ही प्रयत्न करते रहना चाहिये। यही सीधा-सच्चा उपाय है। यदि तुझे आत्मस्वभावकी यथार्थ रुचि है, और सम्यग्दर्शनकी अपार महिमाको समझकर उसकी अकुलाहट हुई है तो तेरा समझनेका प्रयत्न व्यर्थ नहीं जायगा। स्वभाव की रुचि पूर्वक जो जीव सत्के समझनेका अभ्यास करता है उस जीवके प्रतिक्षण मिथ्यात्वभावकी मन्दता होती है। एक क्षण भी समझनेका प्रयत्न निष्फल नहीं जाता, किन्तु प्रतिक्षण उसका कार्य होता ही रहता है। स्वभावकी प्रीतिसे जो जीव समझना चाहता है उस जीवके ऐसी निर्जरा प्रारम्भ होती है, जो कभी अनन्तकालमें भी नहीं हुई थी। श्री पद्मनन्दि आचार्यने कहा है कि—इस चैतन्य स्वरूप आत्माकी बात भी जिस जीव ने प्रसन्न चित्तसे सुनी है वह मुक्तिके योग्य है।

इसलिये हे भव्य! इतना तो अवश्य करना।

४०—१. पाप

पर द्रव्यके प्रति राग होने पर भी जो जीव मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मुझे

बन्ध नहीं होता ऐसा मानता है उसके सम्यक्त्व कैसा ? वह व्रत समिति इत्यादिका पालन करे तो भी स्व-परका ज्ञान न होनेसे वह पापी ही है। मुझे बन्ध नहीं होता यों मानकर जो स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है उसके भला सम्यग्दर्शन कैसा ?

यदि यहाँ कोई पूछे कि "व्रत-समिति तो शुभ कार्य है, तो फिर व्रत-समितिको पालने पर भी उस जीवको पापी क्यों कहा ?

समाधान—सिद्धांतमें पाप मिथ्यात्वको ही कहा है। जहाँ तक मिथ्यात्व रहता है वहाँ तक शुभ अशुभ सर्व क्रियाको अध्यात्ममें परमार्थसे पाप ही कहा जाता है। फिर व्यवहार नयकी प्रधानतामें व्यवहारी जीवोंको अशुभसे छुड़ाकर शुभमें लगानेके लिये शुभ क्रियाको कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है। ऐसा कहने से स्याद्वादमतमें कोई विरोध नहीं है।

४०—२. ये महापाप कैसे टले ?

सच्चे देव, गुरु, धर्मके लिये तन, मन, धन सर्वस्व समर्पित करे, शिरच्छेद होने पर भी कुगुरु-कुदेव-कुधर्मको न माने, कोई शरीरको जलादे तो भी मनमें क्रोध न करे और परिग्रहमें वस्त्रका एक तार भी न रखे तथापि आत्माकी पहिचानके बिना जीवकी दृष्टि परके ऊपर और शुभ राग पर रह जाती है, इसलिये उसका मिथ्यात्वका महापाप दूर नहीं होता। स्वभावको और रागको उनके निश्चित् लक्षणोंके द्वारा भिन्न २ जान लेना ही सम्यग्दर्शनका यथार्थ कारण है। निमित्तका अनुसरण करने वाला भाव और उपादानको अनुसरण करने वाला भाव-दोनों भिन्न २ हैं। प्रारम्भमें कथित वे सभी भाव निमित्तका अनुसरण करते हैं। निमित्तके बदल जानेसे सम्यग्दर्शन नहीं होता किन्तु निमित्तकी ओरके लक्षको बदल कर उपादानमें लक्ष करे तो सम्यग्दर्शन होता है। निमित्तके लक्षसे बन्ध है और उपादानके लक्षसे मुक्ति।

(४१) सम्यग्दर्शन बिना सब कुछ किया लेकिन उससे क्या ?

[आत्मानुभवको प्रगट करनेका उपाय बतानेवाला एक मननीय व्याख्यान]

एक मात्र सम्यग्दर्शनके अतिरिक्त जीव अनंतकालमें सब कुछ कर चुका है, लेकिन सम्यग्दर्शन कभी एक क्षण मात्र भी प्रगट नहीं किया। यदि एक क्षणमात्र भी सम्यग्दर्शन प्रगट करे तो उसकी मुक्ति हुए बिना न रहे।

आत्म कल्याणका उपाय क्या है सो बताते हैं। विकल्प मात्रका अवलंबन छोड़कर जबतक जीव शुद्धात्म स्वभावका अनुभव न करे तबतक उसका कल्याण नहीं होता। शुद्धात्म स्वरूपका अनुभव किये बिना जीव जो कुछ भी करता है वह सब व्यर्थ है,—उससे आत्मकल्याण नहीं होता।

कई जीव यह मानते हैं कि हमें पांच लाख रुपया मिल जायें तो हम सुखी हो जायें। किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! यदि पाँच लाख रुपया मिल गये तो इससे क्या? क्या रुपयोंमें आत्माका सुख है? रुपया तो जड़ है, वे कहीं आत्मामें प्रवेश नहीं कर जाते, और उसमें कहीं आत्मा का सुख नहीं है। सुख तो आत्मस्वभावमें है। उस स्वभावका अनुभव नहीं किया तो फिर रुपया मिलाये इससे क्या? जब कि आत्मस्वभावकी प्रतीति नहीं है तब रुपयोंमें ही सुख मानकर, रुपयोंके लक्षसे उल्टा आकुलताका ही वेदन करके दुःखी होगा।

प्रश्न—जबतक आत्माका अनुभव नहीं होता तब तक व्रत, तप इत्यादि करनेसे तो कल्याण होता है न?

उत्तर—आत्म प्रतीतिके बिना व्रत तपादिका शुभ राग किया तो इससे क्या? यह तो राग है, जिससे आत्माको बन्धन होता है और इसमें धर्म माननेसे मिथ्यात्वकी पुष्टि होती है आत्मानुभवके बिना किसी भी प्रकार सुख नहीं, धर्म नहीं, और कल्याण नहीं होता।

प्रश्न—यदि सम्पूर्ण सुख सुविधा युक्त विशाल महल बनवाकर उनमें रहे तब तो सुखी होता है ?

उत्तर—यदि विशाल भवनोंमें रहा तो इससे क्या ? क्या भवनमें से आत्माका सुख आता है ? महल तो जड़-पत्थरका है, आत्मा कहीं उसमें प्रविष्ट नहीं हो जाता। आत्मा अपनी पर्यायमें विकारको भोगता है, अपने स्वभावको भूलकर महलोंमें सुख माना सो यही महा पराधीनता और दुःख है। उस जीवको बड़े बड़े भवनोंका बाह्य संयोग हो तो इससे आत्माको क्या ? कोई जीव सम्यग्दर्शनके बिना त्यागी हो और व्रत अंगीकार करे किन्तु इससे क्या ? सम्यक्दर्शनके बिना धर्म नहीं होता।

किसी जीवने शास्त्र ज्ञानके द्वारा आत्माको जान लिया, अर्थात् शास्त्रोंको पढ़कर या सुनकर यह जान लिया कि "मै शुद्ध हूँ, मेरे स्वरूपमें राग-द्वेष नहीं है, आत्मा पर द्रव्यसे भिन्न है और परका कुछ नहीं कर सकता,'–तो भी आचार्यदेव कहते हैं कि इससे क्या ! यह तो परके लक्षसे जानना हुआ, ऐसा ज्ञान तो अनन्त संसारी अज्ञानी जीव भी करते हैं; परन्तु स्व सन्मुख पुरुषार्थके द्वारा विकल्पका अवलम्बन तोड़कर जबतक स्वयं स्वानुभव न करे तबतक जीवको सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता और उसका कल्याण नहीं हो सकता।

समयसारकी १४१ वीं गाथामें कहा है कि—'जीवमें कर्म बँधा हुआ है तथा स्पर्शित है ऐसा व्यवहारनयका कथन है'। 'टीकाः–× × × जीवमें कर्म बद्धस्पृष्ट है ऐसा व्यवहारनयका पक्ष है × × × जीवमें कर्म अबद्धस्पृष्ट है ऐसा निश्चयनयका पक्ष है।

अब आचार्यदेव कहते हैं किः—

"किन्तु इससे क्या ? जो आत्मा इन दोनों नयोंको पार कर चुका है, वही समयसार है,—इसप्रकार १४२ वीं गाथामें कहते हैं।"

[नोट—गाथा उसकी टीकाके साथ श्री समयसारमें से पढ़कर देखें]

परद्रव्योंके संयोग-वियोगसे आत्माको लाभ होता है-इस मान्यताका पहले ही निषेध किया है, और इस स्थूल मान्यता का भी निषेध किया है कि पुण्यसे धर्म होता है। इस प्रकार परकी ओर के विचारको और स्थूल मिथ्या मान्यताको छोड़कर अब जो स्वोन्मुख होना चाहता है ऐसा जीव एक आत्मामें 'निश्चयसे शुद्ध और व्यवहारसे अशुद्ध' ऐसे दो भेद करके उसके विचारमें अटक रहा है, किन्तु विकल्पसे पार होकर साक्षात् अनुभव नहीं करता; उसे वह विकल्प छुड़ा कर अनुभव करानेके लिये आचार्य देवने यह १४२ वीं गाथा कही है। अन्य पदार्थोंका विचार छोड़कर एक आत्मामें दो विभेदों (पहलुओं) के विचारमें लग गया किन्तु आचार्यदेव कहते है कि इससे क्या ? जब तक वह विकल्पके अवलम्बनमें रुका रहेगा तब तक धर्म नहीं है, इसलिये जैसा स्वभाव है वैसा ही अनुभव कर। अनुभव करने वाली पर्याय स्वयं द्रव्यमें लीन-एकाकार हो जाती है और उस समय विकल्प टूट जाता है; ऐसी दशा ही समयसार है, वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है।

परवस्तुमें सुख है या मैं परका कार्य कर सकता हूँ और मेरा कार्य परसे होता है—यह स्थूल मिथ्या मान्यता है, और आत्माको अमुक वस्तु खपती है, अमुक नहीं खपती, ऐसा विकल्प भी स्थूल परिणाम है उसमें धर्म नहीं है; और मै 'शुद्ध आत्मा हूँ, तथा राग मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसे राग मिश्रित विचार करना भी धर्म नहीं है। इस रागका अवलम्बन छोड़कर आत्मस्वभावका अनुभव करना सो धर्म है। एक बार विकल्पको तोड़कर शुद्ध स्वभावका अनुभव करनेके बाद जो विकल्प उठते हैं उन विकल्पों में सम्यग्दृष्टि जीवको एकत्व बुद्धि नहीं होती, इसलिये वे विकल्प मात्र अस्थिरतारूप दोष है, परन्तु वे सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञानको मिथ्या नहीं करते; क्योंकि विकल्पके समय भी सम्यग्दृष्टि उसका निषेध करता है।

कितने ही अज्ञानी ऐसी शंका करते हैं कि यदि जीवको सम्यग्दर्शन हुआ हो और आत्माकी प्रतीति होगई हो तो उसे खाने पीने इत्यादिका राग

कैसे होता है ? किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि सम्यग्दृष्टिके राग हुआ तो इससे क्या ?—उस रागके समय उसका निषेधक सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान होता है या नहीं ? जो राग होता है वह श्रद्धा-ज्ञानको मिथ्या नहीं करता। ज्ञानीको चारित्रकी कचाईसे राग होता है, वहाँ अज्ञानी उस रागको ही देखता है परन्तु रागका निषेध करने वाले श्रद्धा और ज्ञानको नहीं पहिचानता।

मिथ्यादृष्टि जीव स्वभावका अनुभव करनेके लिये ऐसा विचार करता है कि 'स्वभावसे मै अबन्ध निर्दोष तत्त्व हूँ और पर्यायदृष्टिसे बँधा हुआ हूँ'—इसप्रकार मनके अवलम्बनसे शास्त्रके लक्षसे रागरूप वृत्तिका उत्थान करता है, परन्तु स्वभावके अवलम्बनसे उस राग रूप वृत्तिको तोड़कर अनुभव नहीं करता तब तक उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता।

कोई जीव जैन दर्शनके अनेक शास्त्रोंको पढ़कर महा पंडित हो गया, अथवा कोई जीव बहुत समयसे बाह्य त्यागी हुआ और उसीमें धर्म मान लिया, किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि इससे क्या ?—इसमें धर्म कहाँ है ? परके अवलम्बनमें अटक कर धर्म मानना मिथ्यादृष्टिका काम है। राग मात्रका अवलम्बन छोड़कर स्वभावके आश्रयसे निर्णय और अनुभव करना सम्यग्दृष्टिका धर्म है। और उसके बाद ही चारित्र दशा होती है। रागका अवलम्बन तोड़कर आत्म स्वभावका निर्णय और अनुभव न करे और दान, दया, शील, तप इत्यादि सब कुछ करता रहे तो इससे क्या ? यह तो सब राग है इसमें धर्म नहीं है।

आत्मा ज्ञान स्वरूप है, राग स्वरूप नहीं। ज्ञान स्वरूपमें वृत्तिका उत्थान ही नहीं है। 'मैं त्रिकाल अबन्ध हूँ' ऐसा विकल्प भी ज्ञान स्वरूप में नहीं है। यद्यपि निश्चयसे आत्मा त्रिकाल अबन्ध रूप ही है। यह बात तो इसी प्रकार ही है, परन्तु जो अबन्ध स्वभाव है वह 'मैं अबन्ध हूँ' ऐसे विकल्पकी अपेक्षा नहीं रखता, अर्थात् 'मैं अबन्ध हूँ' ऐसे विकल्पका अवलम्बन अबन्ध स्वभावकी श्रद्धाके नहीं है। विकल्प तो राग

है, विकार है वह आत्मा नहीं है, उस विकल्पके अवलम्बनसे आत्मानुभव नहीं होता।

'मैं अबन्ध स्वरूप हूँ' ऐसे विचारका अवलम्बन निश्चयनयका पक्ष (राग) है और 'मैं बन्धा हुआ हूँ' ऐसे विचारका अवलम्बन व्यवहार का पक्ष (राग) है। यह नयपक्ष बुद्धि मिथ्यात्व है। इस विकल्परूप निश्चय-नयका पक्ष जीवने पहले अनन्त बार किया है, परन्तु स्वभावका आश्रय रूप निश्चयनय कभी प्रगट नहीं हुआ। समयसारकी ग्यारहवीं गाथाके भावार्थमें कहा है कि 'शुद्ध नयका पक्ष कभी नहीं हुआ', यहाँ 'शुद्ध-नयका पक्ष' कहा है, वह मिथ्यात्वरूप या रागरूप नहीं है, क्योंकि त्रिकाल शुद्ध स्वभावका आश्रय करना सो उसे ही वहाँ 'शुद्ध नयका पक्ष' कहा है और वही सम्यग्दर्शन है। वहाँ जिसे शुद्ध नयका पक्ष कहा है उसे यहाँ 'नयाति-क्रांत' कहा है; और वह मुक्तिका कारण है। ग्यारहवीं गाथामें यह कहा है कि "प्राणियोंके भेद रूप व्यवहारका पक्ष तो अनादिसे ही है," वहाँ जिसे भेद रूप व्यवहारका पक्ष कहा है उसमें, इस गाथामें कहे गये दोनों पक्षका समावेश हो जाता है। निश्चयनयके विकल्पका पक्ष करना भी भेदरूप व्यवहारका ही पक्ष है, इसलिये वह भी मिथ्यात्व है।

जैसा शुद्ध स्वभाव है वैसे स्वभावका आश्रय करना सो सम्यग्दर्शन है, किन्तु 'शुद्ध स्वभाव हूँ' ऐसे विकल्पके साथ एकत्वबुद्धि करना सो मिथ्यात्व है। आत्मा राग स्वरूप है ऐसा मानना सो व्यवहारका पक्ष है-स्थूल मिथ्यात्व है; और 'आत्मा शुद्ध स्वरूप है' ऐसे विकल्पमें अटकना सो विकल्पात्मक निश्चयनयका पक्ष है-रागका पक्ष है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसे विकल्पके अवलम्बनसे आत्माका विचार किया तो उससे क्या ? आत्माका स्वभाव वचन और विकल्पातीत है। आत्मा शुद्ध और परिपूर्ण स्वभावी है, वह स्वभाव निजसे ही है, शास्त्राधारसे या विकल्पके आधारसे वह स्वभाव नहीं है, और इसलिये उस स्वभावका अनुभव (निर्णय) करनेके लिए किसी शास्त्राधार या विकल्पके आश्रयकी आव-

श्यक्ता नहीं है, किन्तु स्वभावके ही आश्रयकी आवश्यक्ता है। स्वभावका अनुभव करते हुए 'मैं शुद्ध हूँ' इत्यादि विकल्प आजाता है, परन्तु जबतक उस विकल्पमें लगा रहता है तब तक अनुभव नहीं होता। यदि उस विकल्प को तोड़कर नयातिक्रांत होकर स्वभावका आश्रय करे तो सम्यक निर्णय और अनुभव हो, वही धर्म है।

जैसे तिजोरीमें रखे हुए एक लाख रुपये वही खातेके हिसाबकी अपेक्षासे या गिनतीके विचारके कारण स्थित नहीं हैं, किन्तु जितने रुपये हैं वे स्वयं ही हैं, इसप्रकार आत्मस्वभावका अनुभव शास्त्रके आधारसे अथवा उसके विकल्पसे नही होता, अनुभव तो स्वभावाश्रित है। वास्तवमें स्वभाव और स्वभावकी अनुभूति अभिन्न होनेसे एक ही है, भिन्न नहीं है। दूसरी ओर यदि किसीके पास रुपया पैसा (पूंजी) न हों तो किन्तु वह मात्र वहीखाता लिखा करे और विचार करता रहे—यों ही गिनता रहे तो उससे कहीं उसके पास पूंजी नहीं हो जाती, इसीप्रकार आत्मस्वभावके आश्रयके बिना मात्र शास्त्रोंके पठन–पाठनसे अथवा आत्मा सम्बन्धी विकल्प करनेसे सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं हो जाता।

'शास्त्रोंमें आत्माका स्वभाव सिद्धके समान शुद्ध कहा है' इसप्रकार जो शास्त्रोंसे माने उसके यथार्थ निर्णय नहीं होता। शास्त्रोंमें कहा है इस-लिये आत्मा शुद्ध है–ऐसी बात नहीं है, आत्माका स्वभाव शुद्ध है, उसे शास्त्रोंकी अपेक्षा नही है, इसलिये स्वभावके ही आश्रयसे स्वभावका अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है।

आत्मस्वभावका अनुभव किये बिना कर्म ग्रन्थ पढ़ लिये तो इससे क्या ? और आध्यात्मिक ग्रन्थोंको पढ़ डाले तो भी इससे क्या ? इनमेंसे किसी भी कार्यसे आत्मधर्मका लाभ नहीं होता। आत्मा करता है, अतः वह कैसा कर्म करे (कैसा कार्य करे) कि उसे धर्म लाभ हो,–यह बात इस कर्ता-कर्म अधिकारमें बताई है। आत्मा जड़ कर्मको बांधे और कर्म आत्माके लिये बाधक हों–यह बात तो यहाँ है ही नहीं, और 'मैं शुद्ध हूँ' ऐसा जो मनका

विकल्प है सो भी धर्मात्माका कार्य नहीं है। किन्तु स्वभावका अनुभव स्वभावके ही आश्रयसे होता है इसलिये शुद्ध स्वभावका आश्रय ही धर्मात्मा का कार्य है।

'आत्मा शुद्ध है राग मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसे विचारका अवलंबन भी सम्यग्दर्शनमें नहीं है, तब फिर देव गुरु, शास्त्रकी भक्ति इत्यादिसे सम्यग्दर्शन होनेकी बात कहाँ रही? और पुण्य करते २ आत्माकी पहिचान हो जाती है, या अच्छे निमित्तोंके अवलम्बनसे आत्माको धर्ममें सहायता मिलती है–ऐसी स्थूल मिथ्या मान्यता तो सम्यग्दर्शन से बहुत बहुत दूर है। दया, दान, भक्ति, व्रत, उपवास, सच्चे देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा, यात्रा और शास्त्रोंका ज्ञान–यह सब वास्तवमें रागके मार्ग हैं, उनमें से किसीके भी आश्रयसे आत्मस्वभावका निर्णय नहीं होता; क्योंकि आत्मस्वभावका निर्णय तो अरागी श्रद्धा ज्ञानरूप है, वीतराग चारित्र दशा प्रगट होनेसे पूर्व वीतराग श्रद्धा और वीतराग ज्ञानके द्वारा स्वभावका अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। और ऐसा अनुभव करने वाला जीव ही समयसार है। ऐसा अनुभव प्रगट नहीं किया और उपरोक्त दया, दान, भक्ति, व्रत, यात्रा इत्यादि सब कुछ किया तो इससे क्या?— ऐसा तो अभव्य जीव भी करते हैं।

प्रश्नः—'सम्यग्दर्शनके बिना व्रत, तप, दान, भक्ति इत्यादि किये तो इससे क्या?' इसप्रकार 'इससे क्या-इससे क्या?' कहकर इन सब कार्योंको उड़ाये देते हो अर्थात् इन दयादिमें धर्म माननेका निषेध करते हो, तो हम यह भी कह सकते हैं कि एक मात्र आत्माकी पहिचान करके सम्यग्दर्शन प्रगट किया तो इससे क्या? क्या मात्र सम्यग्दर्शन प्रगट कर लेनेमें उसीमें सब कुछ आजाता है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन होजाने से उसीमें सम्पूर्ण आत्मा आजाता है। सम्यग्दर्शनके होनेपर परिपूर्ण आत्मस्वभावका अनुभव होता है। जो अनन्त कालमें कभी नहीं हुई थी ऐसी अपूर्व आत्मशांतिका संवेदन वर्तमान

में होता है। जैसा आनन्द सिद्धभगवानको प्राप्त है उसी भाँतिके आनन्दका अंश वर्तमानमें अपने अनुभवमें आता है। सम्यग्दर्शनके होने पर वह जीव निकट भविष्यमें ही अवश्यमेव सिद्ध हो जायेगा। वर्तमानमें ही अपने परिपूर्ण स्वभावको प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि जीव कृतकृत्य होजाता है, और पर्यायमें प्रतिक्षण वीतराग आनन्दकी वृद्धि होती जाती है। वे स्वप्नमें भी पर पदार्थको अपना नहीं मानते, और परमें या विकारमें सुख बुद्धि नहीं होती। सम्यग्दर्शनकी ऐसी अपार महिमा है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्माके धर्मका मूल है। इसलिये ज्ञानीजन कहते है कि इस सम्यग्दर्शन के बिना जीवने सब कुछ किया तो इससे क्या? सम्यग्दर्शनके बिना समस्त व्यर्थ हैं, अरण्य रोदनके समान है, बिना इकाईके शून्य समान है। यह सम्यग्दर्शन किसी भी परके आश्रयसे या विकल्पके अवलंबनसे नहीं होता किंतु अपने शुद्धात्म स्वभावके ही आश्रयसे होता है। स्वभावका आश्रय लेते ही विकल्पका आश्रय छूट जाता है। किन्तु विकल्पके लक्षसे विकल्पके आश्रयको दूर करना चाहे तो वह दूर नहीं हो सकता।

धर्मी जीवका धर्म स्वभावके आश्रय से स्थिर है। उसके सम्यग्दर्शनादि धर्मको किसी परका आश्रय नही है। जब कि यह बात है तब धर्मी जीवके यदि रुपया पैसा मकान इत्यादिका संयोग न हो तो इससे क्या? और यदि बहुतेरे शास्त्रोंका ज्ञान न हो तो इससे क्या? धर्मी जीवके यह सब न हों तो इससे कहीं उसके धर्ममे कोई बाधा नही आती, क्योंकि धर्मी का धर्म किसी परके आश्रय, रागके आश्रय या शास्त्र ज्ञानके आश्रय पर अवलम्बित नही है, किन्तु अपने त्रिकाल स्वभावके ही आधार पर धर्मीका धर्म प्रगट हुआ है, और उसीके आधार पर टिका हुआ है, और उसीके आधार पर वृद्धिगत होकर पूर्णताको प्राप्त होता है।

४२. द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि तथा उसका प्रयोजन

[नियमसार प्रवचनकी चर्चा से]

गुण पर्यायोंका पिंड द्रव्य है। आत्म द्रव्य अपने स्वभावसे टिका

हुआ है, रागके कारण नहीं। आत्म के स्वरूपमें राग नहीं है और रागके द्वारा आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती। त्रिकाल द्रव्य स्वरूपको स्वीकार किये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता क्योंकि पर्याय तो एक समय मात्रकी ही होती है, और दूसरे समयमें उसकी नास्ति हो जाती है, इसलिये पर्यायके लक्षसे एकाग्रता या सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। केवलज्ञान भी एक समय मात्र की पर्याय है, परन्तु ऐसी अनन्तानन्त पर्यायोंको अभेदरूपसे संग्रह करके द्रव्य विद्यमान है, अर्थात् अनंत केवलज्ञान पर्यायोंको प्रगट करनेकी शक्ति द्रव्यमें है, इसलिये केवलज्ञानकी महिमासे द्रव्य स्वभावकी महिमा अनंत-गुनी है, इसे समझनेका प्रयोजन यह है कि पर्यायमें एकत्व बुद्धिको छोड़-कर द्रव्य स्वभावमें एकत्व बुद्धिका करना। एकत्व बुद्धिका अर्थ 'मैं यही हूँ' ऐसी मान्यता है। पर्यायके लक्षसे 'यही मैं हूँ' इसप्रकार अपनेको पर्याय जितना न मानकर, त्रिकाल द्रव्यके लक्षसे 'यही मैं हूँ' इसप्रकार द्रव्य स्व-भावकी प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है। केवलज्ञानादि कोई भी पर्याय एक समय मात्रकी अस्तिरूप है, दूसरे समयमें उसकी नास्ति हो जाती है; इसलिये आत्माको पर्याय जितना माननेसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, और जो द्रव्य स्वभाव है सो वह त्रिकाल एकरूप सत् अस्तिरूप है। केवलज्ञान प्रगट हो या न हो इसकी भी जिसे अपेक्षा नहीं है ऐसे उस स्वभावको मानने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

एक अवस्थामें से दूसरी अवस्था नहीं होती, वह द्रव्यमें से ही होती है अर्थात् एक पर्याय स्वयं दूसरी पर्यायके रूपमें परिणमित नहीं होती किन्तु क्रमबद्ध एकके बाद दूसरी पर्यायके रूपमें द्रव्यका ही परिणमन होता है, इसलिये पर्याय दृष्टिको छोड़कर द्रव्य दृष्टिके करनेसे ही शुद्धता प्रगट होती है।

पर्याय खंड-खंडरूप है, वह सदा एक समान नहीं रहती। और द्रव्य अखंडरूप है वह सदा एक समान रहता है। इसलिये द्रव्यदृष्टिमे शुद्धता प्रगट होती है।

पर्याय क्षणिक है, द्रव्य त्रिकाल है; त्रैकालिकके ही लक्षसे एकाग्रता हो सकती है और धर्म प्रगट होता है, किन्तु क्षणिकके लक्षसे एकाग्रता नहीं होती, तथा धर्म प्रगट नहीं होता। पर्याय क्रमवर्ती स्वभाव वाली होती है इसलिये वह एक समयमें एक ही होती है, और द्रव्य अक्रमवर्ती स्वभाववाला अनंत पर्यायोंका अभिन्न पिंड है जो कि प्रति समय परिपूर्ण है, छद्मस्थके वर्तमान पर्याय अपूर्ण है, और द्रव्य पूर्ण है, इसलिये परिपूर्णता के लक्षसे ही सम्यग्दर्शन और वीतरागता प्रगट होती है, अपूर्णताके लक्षसे सम्यग्दर्शन या वीतरागता प्रगट नही होती, परन्तु उलटा राग उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन के बाद भी जीवको परिपूर्णताके लक्षसे ही क्रमशः चारित्र-वीतरागता और सर्वज्ञता प्रगट होती है।

मुमुक्षुओंके ऊपरके अनुसार द्रव्य और पर्यायका यथार्थ ज्ञान करके, त्रिकाल द्रव्य स्वभावकी ओर रुचि (उपादेय बुद्धि) करके वहीं एकता करनी चाहिये और पर्यायकी एकत्वबुद्धि छोड़ देनी चाहिये। यही धर्मका उपाय है।

जिसके पर्याय दृष्टि होती है वह जीव रागको अपना कर्तव्य मानता है और रागसे धर्म होना मानता है, क्योंकि पर्यायदृष्टिमें रागकी ही उत्पत्ति है; और रागका सम्बन्ध पर द्रव्योंके साथ ही होता है इसलिये पर्यायदृष्टिवाला जीव परद्रव्योंके लक्षसे परद्रव्योंका भी अपनेको कर्ता मानता है—इसीका नाम मिथ्यात्व है, यही अधर्म है।

किन्तु जिसकी दृष्टि द्रव्यस्वभावकी होगई है वह जीव कभी रागको अपना कर्तव्य नहीं मान सकता और न उसमें धर्म ही मानता है, क्योंकि स्वभावसे रागका अभाव है। जो पर्यायके रागका कर्तृत्व भी नहीं मानता वह पर द्रव्यका कर्तृत्व कैसे मानेगा? अर्थात् उसके परसे और रागसे भिन्न स्वभावकी दृष्टिमें ज्ञान और वीतरागताकी ही उत्पत्ति हुआ करती है-इसीका नाम सम्यग्दृष्टि है, और यही धर्म है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टि वह सम्यग्दृष्टि है।

इसलिये सभी आत्मार्थी जीवोंको अध्यात्मके अभ्यासके द्वारा द्रव्यदृष्टि करनी चाहिये यही प्रयोजनभूत है, द्रव्यदृष्टि कहो या शुद्धनय का अवलम्बन कहो, निश्चयनयका आश्रय कहो या परमार्थ सब एक ही है।

(४२) धर्मकी पहली भूमिका भाग १

—मिथ्यात्वका अर्थ—

पहले हम यह देखलें कि मिथ्यात्वका अर्थ क्या है और मिथ्यात्व किसे कहते हैं एवं उसका वास्तविक लक्षण क्या है?

मिथ्यात्वमें दो शब्द है (१) मिथ्या और (२) त्व। मिथ्या अर्थात् असत् और त्व अर्थात् पन। इसप्रकार खोटापन, विपरीतता, असत्यता, अयथार्थता, इत्यादि अनेक अर्थ होते हैं।

यहाँपर यह देखना है कि जीवमें निजमें मिथ्यात्व या विपरीतता क्या है क्योंकि जीव अनादि कालसे दुःख भोगता रहता है और वह उसे अनादि कालसे मिटानेका प्रयत्न भी करता रहता है किन्तु वह न तो मिटता है और न कम होता है। दुःख समय समय पर अनन्त होता है और वह अनेक प्रकारका है। पूर्व पुण्यके योगसे किसी एक सामग्रीका संयोग होनेपर उसे ऐसा लगता है कि मानों एक प्रकारका दुःख कम होगया है किन्तु यदि वास्तवमें देखा जाय तो सचमुचमें उसका दुःख कम नहीं हुआ है; क्योंकि जहाँ एक प्रकारका दुःख गया नहीं कि दूसरा दुःख आ उपस्थित होता है।

मूलभूत भूलके विना दुःख नहीं होता। दुःख है इसलिये भूल होती है और भूल ही इस महा दुःखका कारण है। यदि वह भूल छोटी हो तो दुःख कम और अल्पकालके लिये होता है, किन्तु यह बहुत बड़ी भूल है इसलिये दुःख बड़ा और अनादि कालसे है। क्योंकि दुःख अनादि कालका है और वह अनंत है इसलिये यह निश्चय हुआ कि मिथ्यात्व अर्थात् जीव संबंधी विपरीत समझ-भूल सबसे बड़ी और अनन्त है। यदि भयंकर भूल न होती तो भयंकर दुःख न होता। महान भूलका फल महान् दुःख है, इसलिये महान् दुःखको दूर करनेका सच्चा उपाय महान् भूलको दूर करना है।

—दुःखका होना निश्चित करें—

कोई कहता है कि जीवके दुःख क्यों कहा जाय ? रुपया पैसा हो, खाने पीने की सुविधा हो और जो चाहिये वह मिल जाता हो फिर भी उसे दुःखी कैसे कहा जाय ?

उत्तर—भाई ! तुझे परवस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है या नहीं ? तेरे मनमें अंतरंगसे यह इच्छा होती है या नहीं कि मेरे पास पर सामग्री रुपया पैसा इत्यादि हो तो ठीक हो और यह सब हो तो मुझे सुख हो, इसप्रकारकी इच्छा होती है सो यही दुःख है। क्योंकि यदि तुझे दुःख न हो तो पर वस्तु प्राप्त करके सुख पानेकी इच्छा न हो।

यहाँपर अज्ञान पूर्वक इच्छा की बात है क्योंकि अज्ञान-भूलके दूर होने पर अस्थिरताको लेकर होने वाली जो इच्छा है उसका दुःख अल्प है। मूल दुःख अज्ञान पूर्वक इच्छाका ही है। इच्छा कहो, दुःख कहो, आकुलता कहो अथवा परेशानी कहो सबका अर्थ एक ही है। यह सब मिथ्यात्वका फल है। अपने स्वरूपकी अप्रतीत दशामें इच्छाके बिना जीवका एक समय भी नहीं जाता निरन्तर अपने को भूलकर इच्छा होती ही रहती है और वही दुःख है।

जीवकी सबसे बड़ी भयंकर भूल होती है इसलिये महान् दुःख है। अर्थात् जीवके एकके बाद दूसरी इच्छा ड्योढ़ लगाये रहती है और वह रुकती नहीं है यही महान् दुःख है। उसका कारण मिथ्यात्व-विपरीत मान्यता-महान् भूल है। मिथ्यात्व क्या है ? यह यहाँपर कहा जाता है।

—मिथ्यात्व क्या है ?—

यदि मिथ्यात्व द्रव्य अथवा गुण हो तो उसे दूर नहीं किया जा सकता; किन्तु यदि वह मिथ्यात्व पर्याय हो तो उसे बदलकर मिथ्यात्व दूर किया जा सकता है।

मिथ्यात्व-विपरीतता है। विपरीतता कहते ही यह सिद्ध हुआ कि उसे बदलकर सीधा (यथार्थ) किया जा सकता है। मिथ्यात्व जीवके

किसी एक गुणकी विपरीत अवस्था है और वह अवस्था है इसलिये समय समय पर बदलती है। इसलिये मिथ्यात्व एक समयकी अवस्था होनेसे दूर किया जा सकता है।

—जीवके किस गुणकी विपरीत अवस्था मिथ्यात्व या भूल है ?—

मैं कौन हूँ ? मेरा सच्चा स्वरूप क्या है ? जो यह क्षणिक सुख दुःख का अनुभव होता है वह क्या है ? पुण्य पापका विकार क्या है ? पर वस्तु देहादिक मेरे हैं या नहीं इसप्रकार स्व-परकी यथार्थ मान्यता करनेवाला जो गुण है उसकी विपरीतदशा मिथ्यात्व है। अर्थात् आत्मामें मान्यता (श्रद्धा) नामका त्रिकाल गुण है और उसकी विपरीत अवस्था मिथ्यात्व है।

जीवकी जैसी विपरीत मान्यता होती है वह वैसा ही आचरण करता है अर्थात् जहाँ जीवकी मान्यतामें भूल होती है वहाँ उसका आचरण विपरीत ही होता है जीवकी मान्यता उल्टी हो और आचरण सच्चा हो, ऐसा कभी भी नहीं हो सकता। जहाँ विपरीत मान्यता होती है वहाँ ज्ञान भी उल्टा ही होता है।

'मिथ्या' का अर्थ है विपरीत, उल्टा अथवा झूठा और 'त्व' अर्थात् उससे युक्त। यह भूल बहुत बड़ी और भयंकर है क्योंकि जहाँ मिथ्या-मान्यता होती है वहाँ आचरण और ज्ञान भी मिथ्या होता है और उस विपरीततामें महान दुःख होता है। ऐसी मिथ्यात्वरूपी भयंकर भूल क्या है ? इस सम्बन्धमें विचार करते हैं।

स्वरूपकी मान्यता करनेवाला श्रद्धा नामका जीवका जो गुण है उसे स्वयं अपने आप उल्टा किया है, उसीको मिथ्या मान्यता कहा जाता है। वह अवस्था होनेसे दूर की जा सकती है।

—उस भयंकर भूल को कौन दूर कर सकता है ?—

वह जीवकी अपनी अवस्था है, इसलिये जीव उसे स्वयं दूर कर

सकता है। अपने स्वरूपकी जो सबसे बड़ी घोरातिघोर भयंकर भूल है वह कबसे चली आ रही है ?

क्या वर्तमानमें तेरे वह भूल विद्यमान है ? यदि वर्तमान में भूल है तो पहले भी भूल थी, और यदि पहले बिल्कुल भूल रहित होगया होता तो वर्तमानमें भूल नहीं होती। पहले पक्की–कभी न हटनेवाली यथार्थ समझ–मान्यता करली हो और वह यदि दूर हो गई हो तो ? इस प्रश्नका समाधान करते हैं—

जिसे थोड़ा सच्चा ज्ञान हुआ हो वह ज्ञानमें कभी भूल नहीं होने देता। जैसे मैं दशाश्रीमाली वणिक् हूँ इसप्रकारका ज्ञान स्वयं कभी भूल नहीं जाता; मैं दशाश्रीमाली वणिक् हूँ यह नाम तो जन्म होनेके बाद स्वयं माना है २५–५० वर्षसे शरीरका नाम मिला है, आत्मा कुछ स्वयं बनिया नहीं है तथापि वह रटते रटते कितना दृढ़ होगया है ? जब भी बुलावें तब कहता है कि 'मैं बनिया हूँ' मैं कोली भील नहीं हूँ, इसप्रकार अल्प वर्षोंसे मिले हुये शरीरका नाम भी नहीं भूलता तो पर वस्तु–शरीर–वाणी मन, बाहरके संयोग तथा परकी ओरके झुकावसे होनेवाले राग-द्वेषके विकारी भावोंसे भिन्न अपने शुद्ध आत्माका पहले पक्का ज्ञान और सच्ची समझ की हो तो उसे कैसे भूल सकता है ? यदि पहले पक्की सच्ची समझ की हो तो वर्तमानमें विपरीतता न हो, चूंकि वर्तमानमें विपरीतता दिखाई देती है इससे सिद्ध है कि पहले भी जीवने विपरीतता की थी।

तू–आत्मा अनंत गुणका पिंड अनादि अनंत है। उन अनंत गुणों में एक मान्यता–श्रद्धा नामका गुणकी अवस्था तेरी विपरीततासे अनादि कालसे स्वयं विपरीत करता आया है और उसे तू आगे ही बढ़ाता चला जारहा है। वह भूल–विपरीतता वर्तमान अवस्थामें है इसलिये वह टाली जा सकती है।

—अग्रहीतमिथ्यात्व—

तू अनादि कालसे आत्मा नामक वस्तु है। मैं जन्मसे मरण तक ही होता हूँ इसप्रकारकी धारणा, विपरीत धारणा है क्योंकि जिस वस्तुको

कभी किसीने उत्पन्न ही नहीं किया उस वस्तुका कभी नाश नहीं हो सकता। मैं जन्मसे मरण तक ही हूँ ऐसी जीवकी महाविपरीत मान्यता है। क्योंकि जीव यह मानता है कि मेरे मरणके वाद जो पैसा रहेगा उसका विल करूं, परन्तु वह यह नहीं विचार करता कि मरनेके वाद मैं न जाने कहाँ जाने वाला हूँ; इसलिये अपने आत्म कल्याणके लिये कुछ करूं। अनादि कालसे चली आने वाली और किसीके द्वारा न सिखाने पर भी वनी हुई जो महाविपरीत मान्यता है उसे अग्रहीत मिथ्यात्व कहते हैं। ऐसी विपरीत मान्यता स्वयं अपने आप ही करता है, उसे कोई सिखाता नहीं है। जैसे वालकको रोना सिखाना नहीं पड़ता उसीप्रकार मैं जन्म-मरण तक ही हूँ; इसप्रकारकी मान्यता किसीके सिखायें विना ही हुई है। जो शरीर है सो मैं हूँ। रुपया पैसामें मेरा सुख है, इत्यादि परवस्तुमें अपनेपनकी जो मान्यता है सो अग्रहीत विपरीत मान्यता है, जो जीवके अनादिकालसे चली आ रही है।

जो शरीर है सो मैं हूँ। शरीरके हलन-चलनकी क्रिया मैं कर सकता हूँ इसप्रकार अज्ञानी जीव मानता है। और शरीरको अपना मानने से वाहरकी जिस वस्तुसे शरीरको सुविधा मानता है उसपर प्रीति और राग हुये विना नहीं रहता। इसलिये उसके अव्यक्तरूपमें ऐसी मान्यता वन जाती है कि मुझे पुण्यसे सुख होता है। वाहरकी सुख सुविधाका कारण पुण्य है। यदि मैं पुण्य करूं तो मुझे उसका फल मिलेगा इसप्रकार किसीके द्वारा सिखाये विना ही अनादि कालसे मिथ्याज्ञान चला आ रहा है। जीव यह अनादि कालसे मान रहा है कि मुझे पुण्यसे लाभ होता है और परका कुछ कर सकता हूँ।

जिसने यह माना कि शरीर मेरा है और यद्यपि किसी परसें सुख सुविधा नहीं होती तथापि जिस पदार्थसे वह अपने शरीरके लिये सुख सुविधा होती हुई मानता है उसपर उसे प्रीति होती है। और वह यह मानता है कि पुण्यसे शरीरको सुख सुविधा मिलती है इसलिये अनादि कालसे यह मान रहा है कि पुण्यसे लाभ होता है। पुण्यसे मुझे लाभ होता

है और जो शरीर है सो मैं हूँ तथा मैं शरीरके कार्य कर सकता हूँ इसप्रकार की विपरीत मान्यता अनादि कालसे किसीके द्वारा सिखाये बिना ही जीव के चली आरही है, यही महाभयंकर दुःखकी कारणरूप भूल है। पाप करनेवाला जीव भी पुण्यसे लाभ मानता है क्योंकि वह स्वयं अपनेको पापी नहीं कहलवाना चाहता, अर्थात् स्वयं पाप करते हुये भी उसे पुण्य अच्छा लगता है। इसप्रकार अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अनादि कालसे पुण्य को भला-हितकर मान रहा है।

अनादिकालसे जीवने पुण्य अर्थात् शास्त्रीय भाषा में कथित मन्द कषायमें लाभ माना है। वह यह मानता ही रहता है कि शरीर तथा शरीरके काम मेरे हैं और शरीरसे तथा पुण्यसे मुझे लाभ होता है। वह जिसे अपना मानता है उसे हेय क्यों मानेगा? यह महा भयंकर भूल निगोदसे लेकर जगतके सर्व अज्ञानी जीवोंके होती है और यही अगृहीत मिथ्यात्व है।

—गृहीत मिथ्यात्व—

निगोदसे निकले हुये जीवको कभी मन्द कषायसे मन प्राप्त हुआ और संज्ञी पचेन्द्रिय हुये, उनके विचारशक्ति प्राप्त हुई और वे यह सोचने लगे कि मेरा दुःख कैसे मिटे; तब पहले "जीव क्या है?" यह विचार किया, इसका निश्चय करनेके लिये दूसरे से सुना अथवा स्वयं पढ़ा, वहाँ उल्टा नया भ्रम उत्पन्न होगया। वह नया भ्रम क्या है? दूसरे से सुनकर यों मानने लगा कि जगत्में सब मिलकर एक ही जीव है शेष सब भ्रम हैं, या तो गुरुसे हमें लाभ होगा अथवा भगवानकी कृपासे हम तर जायेंगे या किसीके आशीर्वादसे कल्याण हो जायगा, अथवा वस्तुको क्षणिक मानकर वस्तुओंका त्याग करें तो लाभ होगा अथवा मात्र जैनधर्मने ही सचाईका ठेका नहीं लिया, इसलिये जगतके सभी धर्म सच्चे हैं इसप्रकार अनेक तरहके बाहरके नये नये भ्रम ग्रहण किये, परन्तु भाई! जैसे 'एक और एक मिलकर दो होते हैं,' यह त्रिकाल सत्य है, उसीप्रकार जो वस्तु स्वभाव या वस्तु धर्म है वही वीतरागी—

विज्ञान ने कहा है, इसलिये वह त्रिकाल सत्य ही है, अन्य कोई कथन सत्य नहीं है।

जन्मके बाद अनेक प्रकारकी नई विपरीत मान्यताऐं ग्रहण की, उसीको गृहीत मिथ्यात्व भी कहते हैं। उसे लोकमूढ़ता, देवमूढता और गुरुमूढता भी कहा जाता है।

लोकमूढ़ता—पूर्वजों ने अथवा कुटुम्बके बड़े लोगों ने किया या जगत्के अग्रगण्य बड़े लोगोंने किया इसलिये मुझे भी वैसा करना चाहिये और स्वयं विचार शक्तिसे यह निश्चय नहीं किया कि सत्य क्या है। इसप्रकार अपने को जो मन–विचार करनेकी शक्ति प्राप्त हुई है उसका सदुपयोग न करके दुरुपयोग ही किया और जिसके फलस्वरूप उसकी विचार शक्तिका मरण हुये बिना नहीं रहता। मन्द कषाय के फल स्वरूप विचार शक्ति प्राप्त कर लेने पर भी उसका सदुपयोग न करके अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्वके साथ नया भ्रम उत्पन्न कर लिया और उसे पुष्ट किया उसके फलस्वरूप जीवको ऐसी हलकी दशा प्राप्त होती है जहाँ विचार शक्तिका अभाव है। अपनी विचार शक्तिको गिरवी रखकर सैनी जीव भी धर्मके नाम पर इस प्रकार अनेक तरहकी विपरीत मान्यताओंको पुष्ट किया करते हैं कि यदि हमारे बाप दादा कुदेवको मानते हैं तो हम भी उन्हें ही मानेंगे। इसप्रकार अपनी मनकी शक्तिका घात करके स्वयं अपने लिये निगोदकी तैयारी करते हैं जैसे निगोदिया जीवको विचार शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार गृहीत मिथ्यात्वी जीव अपनी विचार शक्तिका दुरुपयोग करके उसका घात करता है और उस निगोद की तैयारी करता है जहां विचार शक्तिका सर्वथा अभाव है।

देवमूढ़ता:—सच्चे धर्मको समझाने वाला कौन हो सकता है ऐसी विचार शक्ति होने पर भी उसका निर्णय नहीं किया।

निजको विपरीत ज्ञान है इसलिये जिसे यथार्थ पूर्णज्ञान हुआ है ऐसे दिव्य शक्ति वाले सर्वज्ञ देवके पाससे सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है, किन्तु

जीव उन्हें नहीं पहचानता और सर्वज्ञ देवके संबंधमें (अर्थात् संपूर्ण सच्चा ज्ञान किसे प्राप्त हुआ है इस संबंधमें) मूर्खता धारण करता है और इसप्रकार सच्चे देवके संबंधमें भी अपनी विचार शक्तिका दिवाला पीटता है, यही देवमूढ़ता है।

(देवका अर्थ पुण्यके फलसे प्राप्त स्वर्गके देव नहीं; किंतु ज्ञानकी दिव्य शक्ति धारण करनेवाले सर्वज्ञदेव है।

गुरुमूढ़ता—बीमार आदमी इस सम्बन्धमें खूब विचार करता है और परिश्रम करके यह ढूंढ निकालता है कि किस डाक्टरकी दवा लेनेसे रोग दूर होगा। लोग कुम्हारके पास दो टकेकी हँडिया लेने जाते हैं तो उसको भी खूब ठोक बजाकर परीक्षा कर लेते हैं इसीप्रकार और भी अनेक सांसारिक कार्योंमें परीक्षा की जाती है, किंतु यहाँपर आत्माके अज्ञानका नाश करनेके लिये और दुःखको दूर करनेके लिये कौन निमित्त (गुरु) हो सकता है? इसकी परीक्षाके द्वारा निर्णय करनेमें विचार शक्तिको नहीं लगाता और जैसा पिताजी ने कहा है अथवा कुल परम्परासे जैसा चला आरहा है उसीका अन्धानुशरण करके दौड़ लगाता है, यही गुरुमूढता है।

इसप्रकार जीव या तो विचार शक्तिका उपयोग नहीं करता और यदि उपयोग करने जाता है तो उपरोक्त लोकमूढता, देवमूढता और गुरुमूढता से तीन प्रकारसे लुट जाता है। कुगुरु कहते है कि दान दोगे तो धर्म होगा, किन्तु भले आदमी! ऐसा तो गांवके भंगी भी कहा करते हैं कि भाई साहब! एक बीड़ी दोगे तो धर्म होगा। इसमें कुगुरु ने कौनसी अपूर्व बात कहदी और फिर शीलका उपदेश तो माँ बाप भी देते हैं तो वे भी धर्म गुरु कहलायेंगे। स्कूलों और पाठशालाओंमें भी अहिंसा सत्य और ब्रह्मचर्यादि पालन करनेको कहा जाता है तो वहाँके अध्यापक भी धर्म गुरु कहलायेंगे और वहाँकी पुस्तकें धर्म शास्त्र कहलायेंगीं किन्तु ऐसा नहीं होता। धर्मका स्वरूप अपूर्व है।

तीन प्रकारकी मूढताओंमें गुरुमूढता विशेष है उसमें धर्मके नाम पर स्वयं अधर्म करता हुआ भी धर्म मानता है। उदाहरणके रूपमें दुकानमें बैठा हुआ आदमी यह नहीं मानता कि मैं अभी सामायिक-धर्म करता हूँ; किन्तु धर्म स्थानमें जाकर अपने माने हुए गुरु अथवा बड़े लोगोंके कथनानुसार अमुक शब्द बोलता है, जिनका अर्थ भी स्वयं नहीं जानता और उसमें वह जीव मान लेता है कि मैंने सामायिक धर्म किया। यदि शुभभाव हो तो पुण्य हो किन्तु उस शुभमें धर्म माना अर्थात् अधर्मको धर्म माना; यही मिथ्यात्व है।

स्वयं विचार शक्ति वाला होकर भी नये नये भ्रमोंको पुष्ट करता रहता है, यही गृहीत मिथ्यात्व है। यहाँपर मिथ्यात्वके सम्बन्धमें दो बातें कही गई है। (१) अनादि कालसे समागत पुण्यसे धर्म होता है और मैं शरीरका कार्य कर सकता हूँ; इसप्रकारकी जो विपरीत मान्यता है सो अगृहीत मिथ्यात्व है। (२) लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ताके सेवनसे कुदेव,-कुगुरुके द्वारा जीव विपरीत मान्यताको पुष्ट करनेवाले भ्रम ग्रहण करता है, यही गृहीत मिथ्यात्व है। सच्चे देव-धर्मकी तथा अपने आत्म स्वरूपकी सच्ची समझके द्वारा इन दोनों मिथ्यात्वोंको दूर किये विना जीव कभी भी सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं हो सकता। और सम्यग्दर्शनके विना कभी भी धर्मात्मापन नहीं हो सकता; इसलिये जिज्ञासुओंको प्रथम भूमिकामें ही गृहीत अगृहीत मिथ्यात्वका त्याग करना आवश्यक है।

बंध-मोक्षका कारण

परद्रव्यके चिंतन वह बंधनके कारण हैं और केवल विशुद्ध स्व-द्रव्यके चिंतन ही मोक्षके कारण हैं।

[तत्त्वज्ञान तरंगिणी १५-१६]

(४३) धर्मकी पहली भूमिका भाग २

—मिथ्यात्व—

मिथ्यात्वका अर्थ गलत या विपरीत मान्यता किया था। हमें यह नहीं देखना है कि परमें क्या यथार्थता या अयथार्थता है, किन्तु आत्मामें क्या अयथार्थता है यह समझाकर अयथार्थताको दूर करने की बात है। क्योंकि जीवको अपनी अयथार्थता दूर करके अपनेमें धर्म करना है।

मिथ्यात्व द्रव्य है, गुण है या पर्याय ? इसके उत्तरमें यह निश्चित कहा गया है कि मिथ्यात्व श्रद्धा गुणकी एक समय मात्रकी विपरीत पर्याय है।

मिथ्यात्व अनन्त संसारका कारण है। यह मिथ्यात्व अर्थात् सबसे बड़ी से बड़ी भूल अनादि कालसे जीव स्वयं ही करता चला आया है।

—महापाप—

इस मिथ्यात्वके कारण जीव वस्तुके वैसा नहीं मानता जैसा वह है, किंतु विपरीत ही मानता है। इसलिये मिथ्यात्व ही वास्तवमें असत्य है। इस महान असत्यके सेवन करते रहनेमें प्रतिक्षण स्व हिंसाका महापाप लगता है।

प्रश्न—विपरीत मान्यताके करने से किस जीवको मारनेकी हिंसा या पाप लगता है ?

उत्तर—अपना स्वाधीन चैतन्य आत्मा जैसा है उसे वैसा नहीं माना किन्तु उसे जड़-शरीरका कर्ता माना (अर्थात् जड़रूप माना) सो इस मान्यतामें आत्माके अनन्त गुणोंका अनादर है, और यही अनन्ती स्वहिंसा है। स्व हिंसा ही सबसे बड़ा पाप है। इसे भाव हिंसा या भाव मरण भी कहते हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है—"क्षण क्षण भयंकर भाव मरणमें, कहाँ अरे तू रच रहा ?" यहाँ भी मिथ्यात्वको ही भाव मरण कहा है।

—अगृहीत मिथ्यात्व—

(१) यह शरीर जड़ है, यह अपना नहीं है, यह जानने-देखने का कोई कार्य नहीं करता; तथापि इसे अपना मानना और यह मानना कि यदि यह अनुकूल हो तो ज्ञान हो, सो मिथ्यात्व है।

(२) शरीरको अपना माननेका अर्थ है वर्तमानमें शरीरका जो देहरूप जन्म हुआ है वहांसे मरण होने तक ही अपने आत्माका अस्तित्व मानना; अर्थात् शरीरका संयोग होने पर आत्माकी उत्पत्ति और शरीरका वियोग होने पर आत्माका नाश मानना। यही घोर-मिथ्यात्व है।

(३) शरीरको अपना मानने से जो बाह्य वस्तु शरीरको अनुकूल लगती है उस वस्तुको लाभकारक मानता है, और अपने लिये अनुकूल मानी गई वस्तुका संयोग पुण्यके निमित्तसे होता है इसलिये पुण्यसे लाभ होना मानता है, यही मिथ्यात्व है। जो पुण्यसे लाभ मानता है उसकी दृष्टि देह पर है, आत्मा पर नहीं।

—गृहीत मिथ्यात्व—

उपरोक्त तीनों प्रकार अगृहीत मिथ्यात्वके हैं। यह अगृहीत मिथ्यात्व मूल निगोदसे ही अनादि कालसे जीवके साथ चला आ रहा है। एकेन्द्रियसे असैनी पंचेन्द्रिय तक तो जीवके हिताहितका विचार करने की शक्ति ही नहीं होती। संज्ञी दशामें मंद कषायसे ज्ञानके विकासमें हिताहित का कुछ विचार करने की शक्ति प्राप्त करता है। वहाँ भी आत्माके हित-अहितका सच्चा विवेक करने की जगह अनादि कालसे विपरीत मान्यता का भाव ही चालू रख कर अन्य अनेक प्रकार की नवीन विपरीत मान्यताओंको ग्रहण करता है। अपनी विचार शक्तिके दुरुपयोगमें तीव्र विपरीत मान्यता वाले जीवोंकी संगतिमें आकर अनेक प्रकार की नई २ विपरीत मान्यताओंको ग्रहण करता है। इसप्रकार विचार शक्तिके विकास होने पर जो नवीन विपरीत मान्यता ग्रहण की जाती है उसे गृहीत मिथ्या-

त्व कहते हैं। उसके मुख्य तीन प्रकार हैं—देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता, और धर्ममूढ़ता अर्थात् लोकमूढ़ता।

देवमूढ़ता—अज्ञानी, रागी, द्वेषीको देवके रूपमें मानना, कोई बड़ा कहा जाने वाला आदमी किसी २ कुदेवको देव मानता हो इसलिये स्वयं भी उस कुदेवको मानना और उससे कल्याण मानकर उसकी पूजा-वंदनादि करना तथा अन्य लौकिक लाभादिकी आकांक्षासे अनेक प्रकारके कुदेवादिको मानना सो देवमूढ़ता है।

गुरुमूढ़ता—जिस कुटुम्बमें जन्म हुआ है उस कुटुम्बमें माने जाने वाले कुल गुरुको समझे बिना मानना, अज्ञानीको गुरुरूपमें मानना अथवा गुरुका स्वरूप सग्रंथ मानना सो गुरु संबंधी महा भूल यानी गुरुमूढ़ता है।

धर्म मूढ़ता—(लोक मूढ़ता)—हिंसा भावमें धर्म मानना सो धर्म मूढ़ता है। वास्तवमें जैसे पापमें आत्माकी हिंसा है वैसे पुण्यमें भी आत्मा की हिंसा होती है, इसलिये पुण्यमें धर्म मानना भी धर्ममूढ़ता है। तथा धर्म मानकर नदी इत्यादिमें स्नान करना, पशु हिंसा में धर्म मानना इत्यादि सर्व धर्म संबंधी भूल है। इसे लोक मूढ़ता कहते है।

—गृहीत मिथ्यात्व तो छोड़ा किन्तु—

यह त्रिधा महा भूल जीवके लिये बहुत बड़ी हानिका कारण है।

स्वयं जिस कुलमें जन्म लिया है उस कुलमें माने जाने वाले देव, गुरु, धर्म कदाचित् सच्चे हों और उन्हें स्वयं भी मानता हो किन्तु जबतक स्वयं परीक्षा करके उनकी सत्यताका-निश्चय नहीं कर लेता तबतक गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटता। गृहीत मिथ्यात्वको छोडे बिना जीवके धर्म समझने की पात्रता ही नहीं आती।

प्रश्न—इन दो प्रकारके मिथ्यात्वमेंसे पहले कौनसा मिथ्यात्व दूर होता है?

उत्तर—पहले गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है। गृहीत मिथ्यात्वके दूर किये बिना किसी भी जीवके अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता।

हाँ किसी तीव्र पुरुषार्थी पुरुषके यह दोनों मिथ्यात्व एक साथ भी दूर हो जाते हैं।

जो अगृहीत मिथ्यात्वको दूर कर लेता है उसके गृहीत मिथ्यात्व तो दूर हो ही जाता है, किन्तु गृहीत मिथ्यात्वके दूर हो जानेपर भी अनेक जीवोंके अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र तथा लौकिक मूढ़ताकी मान्यताका त्याग करके एवं देव, गुरु, शास्त्रको पहिचान कर जीवने व्यावहारिक स्थूल भूलका (गृहीत मिथ्यात्वका) त्याग तो अनेक बार किया, और असत् निमित्तोंका लक्ष छोड़कर सत् निमित्तोंके लक्ष से व्यवहार शुद्धि की, परन्तु अनादिकालसे चली आई अपनी आत्म संबंधी महा भूलको जीवने कभी दूर नहीं किया। यह अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व आत्माकी यथार्थ समझके बिना दूर नहीं हो सकता।

गृहीत मिथ्यात्वका त्याग करके और द्रव्यलिंगी साधु होकर अनंत बार निरतिचार पंच महाव्रत पालन किये किन्तु महाव्रतकी क्रियासे और रागसे धर्म मान लिया, इसलिये उसकी महा भूल दूर नहीं हुई और संसार में परिभ्रमण करता रहा।

सच्चे निमित्तोंको स्वीकार करके व्यावहारिक असत्यका त्याग तो किया किन्तु अपने निरालंबी चैतन्य स्वरूप आत्माको स्वीकार नहीं किया, इसलिये निश्चयका असत्य दूर नहीं हुआ। आत्म स्वरूपकी खबर न होनेसे निमित्तके लक्षसे—शुभ रागसे—देव गुरु शास्त्रसे अज्ञानी लाभ मानता है, यह पराश्रितताका अनादिकालीन भ्रम मूलमेंसे दूर नहीं हुआ, इसलिये सूक्ष्म भूल रूप अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ। आत्मप्रतीतिके बिना थोड़े समयके लिये गृहीत मिथ्यात्वको दूर करके शुभ रागके द्वारा स्वर्गमें नौवें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु मूलमें विपरीत मान्यताका सद्भाव होनेसे रागमें लाभ मानकर और देव पदमें सुख मानकर वहांसे परिभ्रमण करता हुआ तीव्र अज्ञानके कारण एकेन्द्रिय-निगोदकी तुच्छ दशामें अनन्तकाल तक अनन्त दुःख प्राप्त किया। अपने स्वरूपको समझनेकी परवाह न करनेसे और

सम्यग्ज्ञानका तीव्र विरोध करनेसे निगोद दशा होती है, जहाँ स्थूल ज्ञान वाले अन्य जीव उस जीवके अस्तित्व तकको स्वीकार नहीं करते।

कभी निगोद दशामें कषायकी मंदता करके जीव वहाँसे मनुष्य हुआ और कदाचित् धर्मकी जिज्ञासासे सच्चे देव गुरु शास्त्रको पहिचान कर व्यवहार मिथ्यात्वको (गृहीत मिथ्यात्वको) दूर किया, किन्तु आत्म स्वरूपको नहीं पहिचाना; इसलिये जीव अनन्तानन्त कालसे चारों गतियोंमें दुःखी ही होता रहता है। यदि सच्चे देव गुरु शास्त्रको पहिचान कर अपने आत्मस्वरूपका सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करे और स्वयं ही सत् स्वरूपका निर्णय करे तभी जीवकी महाभयंकर भूल दूर हो, सुख प्राप्त हो और जन्म मरण का अन्त हो।

—महा मिथ्यात्व कब दूर हो ?—

जिसे आत्मस्वरूपके यथार्थ परिज्ञानके द्वारा अनादिकालीन महा भूलको दूर करनेका उपाय दूर करना हो उसे इसके लिये आत्मज्ञानी सत् पुरुषसे शुद्धात्माका सीधा स्वरूप सुनना चाहिये और उसका स्वयं अभ्यास करना चाहिये। ध्यान रहे कि मात्र सुनते रहनेसे अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता, किंतु अपने स्वभावके साथ मिलाकर स्वयं निर्णय करना चाहिये।

जीव स्वयं अनन्त बार तीर्थंकर भगवानके समवशरणमें जाकर उनका उपदेश सुन आया है। किंतु स्वाश्रय स्वभावकी श्रद्धा किये बिना उसे धर्म प्राप्त नहीं हुआ। "आत्मा ज्ञानस्वरूप है, किंतु वह परका कुछ भी कर नहीं सकता, पुण्यसे आत्माका धर्म नहीं होता" ऐसी निश्चयकी सच्ची बात सुनकर उसे स्वीकार करनेकी जगह जीव इन्कार करता है कि 'यह बात अभी अपने लिये कामकी नहीं है, कुछ पराश्रय चाहिये और पुण्य भी करना चाहिये, पुण्यके बिना अकेला आत्मा कैसे टिक सकता है ? इसप्रकार अपनी पराश्रयकी विपरीत मान्यताको दृढ़ करके सुना। सत्को सुनकर भी उसने उसे आत्मामें ग्रहण नहीं किया इसलिये महा मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ।

प्रारम्भसे ही आत्माके स्वावलम्बी शुद्ध स्वरूपकी समझ, उसकी श्रद्धा और उसका ज्ञान करनेका जो मार्ग है वह नहीं रुचा, किन्तु अनादि कालसे पराश्रय रुचा है, इसलिये सत्‌को सुनते हुये कई जीवोंको ऐसा लगता है कि अरे ! यदि आत्माका ऐसा स्वरूप मानेंगे तो समाज व्यवस्था कैसे निभेगी ? जब कि समाजमें रह रहे हैं तब एक दूसरेका कुछ करना तो चाहिये न ? ऐसी पराश्रित मान्यतासे संसारका पक्ष नहीं छोड़ा और आत्माको नहीं पहिचाना।

—सत्यको समझनेकी आवश्यक्ता—

स्वाधीन सत्यको स्वीकार करनेसे जीवको कदापि हानि नहीं होती, और समाजको भी सत्य सत्त्वको माननेसे कदापि कोई हानि नहीं होगी। समाज अपनी अज्ञानतासे ही दुःखी है, और वह दुःख अपनी यथार्थ समझसे ही दूर हो सकता है, इसलिये यथार्थ समझ करनी चाहिये। जो यह मानता है कि सच्ची समझसे हानि होगी वह सत्यका महान् अनादर करता है। मिथ्यात्वका महापाप दूर करनेके लिये सर्वप्रथम यथार्थ तत्त्वकी सच्ची पहचान करनेका अभ्यास करना आवश्यक है।

सर्वज्ञ वीतराग देव, निर्ग्रंथ गुरु और उनके द्वारा कहे गये अनेकान्तमय सत् शास्त्रोंका ठीक निर्णय करना चाहिये। स्वयं हिताहित का निर्णय करके, सत्यको समझनेका जिज्ञासु होकर, ज्ञानियोंसे शुद्ध आत्माकी बात सुनकर विचारके द्वारा निर्णय करना चाहिये। यही मिथ्यात्वको दूर करनेका उपाय है।

—भगवानके उपदेशका सार—

प्रश्न—भगवानके उपदेशमें मुख्यतया क्या कथन होता है ?

उत्तर—भगवान स्वयं अपने पुरुषार्थके द्वारा स्वरूपकी सच्ची श्रद्धा और स्थिरता करके पूर्ण दशाको प्राप्त हुये हैं, इसलिये उनके उपदेशमें भी पुरुषार्थ द्वारा आत्माकी सच्ची श्रद्धा और स्थिरता करनेकी बात मुख्यतासे आती है।

भगवानके उपदेशमें नव तत्त्वोंका स्वरूप बताया जाता है। यदि कोई 'आत्मा' शुद्ध है, इसप्रकार आत्मा-आत्मा ही कहा करे तो अज्ञानी जीव कुछ भी नहीं समझ सकेंगे, इसलिये यह समझाया जाता है कि आत्माका शुद्ध स्वभाव क्या है, उसकी विकारी या अविकारी दशा क्या है, आत्माके सुखका कारण क्या है, दुःखका कारण क्या है, संसार मार्ग क्या है, नवतत्त्व क्या हैं, देव, गुरु, शास्त्र क्या है, इत्यादि। किन्तु उसमें आत्माका स्वरूप समझनेकी मुख्यता होती है।

—नव तत्त्व—

आत्माका स्वभाव तो शुद्ध ही है, किन्तु अवस्थामें विकारी और अविकारी भेद हैं। पुण्य पाप विकार है और उसका फल आस्रव तथा बंध है। यह चारों (पुण्य, पाप, आस्रव, बंध) जीवके दुःखका कारण हैं, इसलिये वे त्याज्य हैं। आत्मस्वरूपको यथार्थ समझकर पुण्य पापको दूर करके स्थिरता करना सो संवर, निर्जरा, मोक्ष है। यह तीनों आत्माके सुख का कारण हैं, इसलिये वे प्रगट करने योग्य हैं। जीव स्वयं ज्ञानमय है, परन्तु ज्ञानरहित अजीव वस्तुके लक्षसे भूल करता है, इसलिये जीव-अजीवकी भिन्नता समझाई जाती है। इस प्रकार नव तत्त्वका स्वरूप समझना चाहिये।

—द्रव्य और पर्याय—

आत्मा अपनी शक्तिसे त्रिकाल शुद्ध है, किन्तु उसकी वर्तमान पर्याय बदलती रहती है। अर्थात् शक्ति स्वभावसे स्थिर रहकर भी अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। अवस्थामें स्वयं अपने स्वरूपको भूल कर जीव मिथ्यात्वरूप महाभूलको उत्पन्न करता है, वह भूल अवस्थामें है; और क्योंकि अवस्था बदलती है, इसलिये वह भूल सच्ची समझके द्वारा स्वयं दूर कर सकता है। अवस्था (पर्याय) में भूल करने वाला जीव स्वयं है इसलिये वह स्वयं ही भूलको दूर कर सकता है।

—यथार्थ समझ—

जीव अपने स्वरूपको भूल रहा है, इसलिये वह अजीवको अपना मानता है, और इसीलिये पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध होता है। यथार्थ समझके द्वारा सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेने पर उसे अपना स्वरूप अजीवसे और विकारसे भिन्न लक्षमें आता है, और इससे पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध क्रमशः दूर होकर संवर, निर्जरा, मोक्ष होता है। इसलिये सर्व प्रथम स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके मिथ्यात्वको यथार्थ समझके द्वारा दूर करके आत्मस्वरूपकी यथार्थ श्रद्धा करके सम्यग्दर्शनके द्वारा, अपने स्वरूपके महा भ्रमका अभाव करना चाहिये।

—क्रिया और ग्रहण त्याग—

यथार्थ समझके द्वारा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करते ही संवर-निर्जरा रूप धर्म प्रारम्भ हो जाता है और अनंत संसारके मूलरूप मिथ्यात्वका ध्वंस होता है। अनन्त परवस्तुओंसे अपनेको हानि लाभ होता है, ऐसी मान्यताके दूर होने पर अनन्त रागद्वेषकी असत् क्रियाका त्याग और ज्ञानकी सत् क्रियाका ग्रहण होता है। यही सर्व प्रथम धर्मकी सत् क्रिया है। इसे समझे विना धर्मकी क्रिया किंचित् मात्र भी नहीं हो सकती। देह तो जड़ है, उसकी क्रियाके साथ धर्मका कोई संबंध नहीं है।

आत्माका स्वभाव कैसा है, उसकी विकारी तथा अविकारी अवस्था किस प्रकारकी होती है, और विकारी अवस्थाके समय कैसे निमित्तका संयोग होता है, एवं अविकारी अवस्थाके समय कैसे निमित्त स्वयं छूट जाते हैं—यह सब जानना चाहिये इसके लिये स्व-परके भेद-ज्ञान पूर्वक नव तत्त्वका ज्ञान होना चाहिये।

—सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान—

प्रश्न—आत्माको सम्यग्ज्ञान किस क्रममें और किन दशामें प्रगट हो सकता है?

उत्तर—गृहस्थ दशामें आठ वर्षकी उम्रमें भी सम्यग्ज्ञान हो सकता है। गृहस्थ दशामें आत्मप्रतीति की जा सकती है। पहले तो निःशंक सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिये; सम्यग्दर्शनके होते ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है। और सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होने पर स्वभावके पुरुषार्थ द्वारा विकारको दूर करके जीव अविकारी दशाको प्रगट किये बिना नहीं रहता। अल्प पुरुषार्थके कारण कदाचित् विकारके दूर होनेमें देर लगे तथापि उसके दर्शनज्ञानमें मिथ्यात्व नहीं रहता।

—निश्चय और व्यवहार—

आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर जीवको ऐसा निश्चय होता है कि मेरा स्वभाव शुद्ध निर्दोष है तथापि मेरी अवस्थामें जो विकार और अशुद्धता है वह मेरा दोष है, वह मेरा वास्तविक स्वरूप नहीं है, इसलिये वह त्याज्य है-हेय है। जबतक मेरा लक्ष किसी अन्य वस्तुमें या विकारमें रहेगा तबतक अविकारी दशा नहीं होगी; किन्तु जब उस संयोग और विकार परसे अपने लक्षको हटाकर मैं अपने शुद्ध अविकारी ध्रुव स्वरूपमें लक्षको स्थिर करूंगा तब विकार दूर होकर अविकारी दशा प्रगट होगी।

मेरा ज्ञान स्वरूप नित्य है और रागादि अनित्य है; एक रूप ज्ञान स्वरूपके आश्रयमें रहने पर रागादि दूर हो जाते हैं। अवस्था-पर्याय तो क्षणिक है, और वह प्रतिक्षण बदलती रहती है, इसलिये उसके आश्रयसे ज्ञान स्थिर नही रहता, किन्तु उसमें वृत्ति उद्भूत होती है, इसलिये अवस्था का लक्ष छोड़ना चाहिये और त्रैकालिक शुद्ध स्वरूप पर लक्ष स्थापित करना चाहिये। यदि प्रकारान्तरसे कहा जाय तो निश्चय स्वभाव पर लक्ष करके व्यवहारका लक्ष छोड़नेसे शुद्धता प्रगट होती है।

—सम्यग्दर्शन का फल—

चारित्रकी शुद्धता एक साथ सपूर्ण प्रगट नहीं हो जाती किन्तु क्रमशः प्रगट होती है। जबतक अपूर्ण शुद्ध दशा रहती है तबतक साधक दशा कहलाती है। यदि कोई कहे कि शुद्धता कितनी प्रगट होती है? तो कहते

हैं कि—पहले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानसे जो आत्मस्वभाव प्रतीतिमें आया है उस स्वभावकी महिमाके द्वारा वह जितने बलपूर्वक स्वद्रव्यमें एकाग्रता करता है उतनी ही शुद्धता प्रगट होती है। शुद्धताकी प्रथम सीढ़ी शुद्धात्मा की प्रतीति अर्थात् सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके बाद पुरुषार्थके द्वारा क्रमशः स्थिरताको बढ़ाकर अन्तमें पूर्ण स्थिरताके द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रगट करके मुक्त हो जाता है। और सिद्धदशामें अक्षय अनंत आत्मसुखका अनुभव करता है। मिथ्यात्वका त्याग करके सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका ही यह फल है।

—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य—

प्रश्न—द्रव्य त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है, उसका कभी नाश नहीं होता और वह कभी भी दूसरे द्रव्यमें नहीं मिल जाता, इसका क्या आधार है? यह क्यों कर विश्वास किया जाय? हम देखते हैं कि दूध इत्यादि अनेक वस्तुओंका नाश हो जाता है; अथवा दूध (वस्तु) मिटकर दही (वस्तु) बन जाता है, तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें नहीं मिलता?

उत्तर—वस्तु स्वरूपका ऐसा सिद्धान्त है कि जो वस्तु है उसका कभी भी नाश नहीं होता, और जो वस्तु नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं होती तथा जो वस्तु है उसमें रूपान्तर होता रहता है। अर्थात् स्थिर रहकर बदलना (Parmanency with a change) वस्तुका स्वरूप है। शास्त्रीय भाषामें इस नियमको "उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्" के रूपमें कहा गया है। उत्पाद व्ययका अर्थ है अवस्था (पर्याय) का रूपान्तर और ध्रौव्यका अर्थ है वस्तुका स्थिर रहना-यह द्रव्यका स्वभाव है।

—अस्ति-नास्ति—

द्रव्य और पर्यायके स्वरूपमें यह अन्तर है कि द्रव्य त्रिकाल स्थिर है, वह बदलता नहीं है, किन्तु पर्याय क्षणिक है, वह प्रतिक्षण बदलती रहती है। पर्यायके बदलने पर भी द्रव्यका नाश नहीं होता। द्रव्य अपने

स्वरूपमें त्रिकाल स्थिर है इसलिये वह दूसरेमें कभी नही मिलता। इसे अनेकांत स्वरूप कहा जाता है, अर्थात् वस्तु अपने स्वरूपसे है और दूसरे स्वरूपकी अपेक्षासे नहीं है। जैसे लोहा लोहेके स्वरूपकी अपेक्षासे है किन्तु वह लकड़ीके स्वरूपकी अपेक्षासे नहीं है। जीव जीव स्वरूपसे है, किंतु वह जड़ स्वरूपसे नहीं है। ऐसा स्वभाव है इसलिये कोई वस्तु अंन्य वस्तुमें नहीं मिल जाती, किन्तु सभी अपने-अपने स्वरूपसे भिन्न ही रहती हैं।

नित्य-अनित्य

जीव अपने वस्तु स्वरूपसे स्थिर रहकर पर्यायकी अपेक्षासे बदलता रहता है, किन्तु जीव जीव रूपमें ही बदलता है। जीवकी अवस्था बदलती है, इसीलिये संसार दशाका नाश करके सिद्धदशा हो सकती है। और जीव और अज्ञानदशाका नाश करके ज्ञान दशा हो सकती है। और नित्य है इसलिये संसार दशाका नाश हो जाने पर भी वह मोक्ष दशा रूपमें स्थिर बना रहता है। इसप्रकार वस्तुकी अपेक्षासे नित्य और पर्यायकी अपेक्षासे अनित्य समझना चाहिये।

परमाणुमें भी उसकी अवस्था बदलती है, किन्तु किसी वस्तुका नाश नहीं होता। दूध इत्यादिका नाश होता हुआ दीखता है, किन्तु वास्तवमें वह वस्तुका नाश नहीं है। दूध कहीं मूल वस्तु नहीं है, किन्तु वह तो बहुत से परमाणुओंकी स्कंधरूप अवस्था है, और वह अवस्था बदलकर अन्य दही इत्यादि अवस्था हो जाती है, किन्तु उसमें परमाणु-वस्तु तो स्थिर बनी ही रहती है। और फिर दूध बदलकर दही हो जाता है इसलिये वस्तु अन्य रूप नहीं हो जाती। परमाणु वस्तु है वह तो सभी अवस्थाओंमें परमाणु रूप ही रहती है। वस्तु कभी भी अपने स्वरूपको नहीं छोड़ती। श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है—

क्यारे कोई वस्तु नो केवल होय न नाश, चेतन पामे नाश तो केमाँ भले तपास ?
कभी किसी भी वस्तुका केवल होय न नाश, चेतन पामे नाश तो किसमें मिले तपास ?
[आत्मसिद्धि ७०]

जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तुका कभी सर्वथा नाश नहीं

होता। यदि ज्ञानस्वरूप चेतन वस्तु नाशको प्राप्त हो तो वह किसमें जाकर मिलेगी? चेतनका नाश होकर क्या वह जड़में घुस जाता है? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इसलिये यह स्पष्ट है कि चेतन सदा चेतनरूप परिणमित होता है, और जड़ सदा जड़ परिणमित होता है। किन्तु वस्तु का कभी नाश नहीं होता।

पर्यायके वदलने पर वस्तुका नाश मान लेना अज्ञान है; और यह मानना भी अज्ञान है कि वस्तुकी पर्यायको दूसरा बदलवाता है। वस्तु कभी भी विना पर्यायके नहीं होती, और पर्याय कभी भी वस्तुके विना नहीं होती।

जो अनेक प्रकारकी अवस्थायें होती है वे नित्य स्थिर रहनेवाली वस्तुके विना नहीं हो सकती। यदि नित्य स्थिर रहने वाला पदार्थ न हो तो अवस्था कहाँसे आये? दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि सव अवस्थायें हैं, उसमें नित्य स्थिर रहने वाली मूल वस्तु परमाणु है। दूध इत्यादि पर्याय है इसलिये वह वदल जाती है, किन्तु उस किसी भी अवस्थामें परमाणु अपने परमाणुपनको नहीं छोड़ता, क्योंकि वह वस्तु है–द्रव्य है।

—सामान्य–विशेष—

द्रव्यका अर्थ है वस्तु और वस्तुकी वर्तमान अवस्थाको पर्याय कहते हैं। द्रव्य अंशी (सम्पूर्ण वस्तु) है और पर्याय उसका एक अश है। अंशीको सामान्य कहते हैं और अंशको विशेष कहते हैं। इस सामान्य विशेषको मिलाकर वस्तुका अस्तित्व है। सामान्य विशेपके विना कोई सत् पदार्थ नहीं होता। सामान्य ध्रुव है और विशेष उत्पाद व्यय है—"उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्"।

जो वस्तु एक समयमे है वह वस्तु त्रिकाल है, क्योंकि वस्तुका नाश नहीं होता किंतु रूपान्तर होता है। वस्तु अपनी शक्तिसे (सत्तासे–अस्तित्व से) स्थिर रहती है, उसे कोई पर वस्तु सहायक नहीं होती यदि इसी नियम को सरल भाषामें कहा जाये तो—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नहीं कर सकता।

—अन्तमें—

प्रश्न—यह सब किसलिए समझना चाहिये ?

उत्तर—अनादिकालसे चले आये हुए अनंत दुःखके कारण एवं महा पाप रूप मिथ्यात्वको दूर करनेके लिए यह सब समझना आवश्यक है। यह समझ लेने पर आत्म स्वरूपकी यथार्थ पहिचान हो जाती है और सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तथा सच्चा सुख प्रगट हो जाता है, इसलिये इसे ठीक २ समझनेका प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यग्दर्शनकी महानता

यह सम्यग्दर्शन महा रत्न है, सर्वलोकके एक भूषणरूप है अर्थात् सम्यग्दर्शन सर्व लोकमें अत्यन्त शोभायमान है और वही मोक्षपर्यंत सुख देनेमें समर्थ है।

[ज्ञानार्णव अ० ६ गा० ५३]

सम्यग्दर्शनसे कर्मका क्षय

जो जीव मिथ्यात्वको छोड़कर सम्यक्त्वको ध्याता है वही सम्यग्दृष्टि होता है, और सम्यक्त्वरूप परिणमनसे वह जीव इन दुष्ट अष्ट कर्मोंका क्षय करता है।

[मोक्षपाहुड़—८७]

सर्व धर्मका मूल

ज्ञान और चारित्रका बीज सम्यग्दर्शन ही है। यम और प्रशम भावोंका जीवन सम्यग्दर्शन ही है, और तप तथा स्वाध्यायका आधार भी सम्यग्दर्शन ही है। इसप्रकार आचार्यों ने कहा है।

[ज्ञानार्णव अ० ६—५४]

(४३) धर्मकी पहली भूमिका भाग ३

[आत्मस्वरूपकी विपरीत मान्यताको मिथ्यात्व कहते हैं, मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है और वही हिंसा है; उसे आत्माकी यथार्थ समझके द्वारा दूर किया जा सकता है। यथार्थ समझके होने पर ही धर्म की सत् क्रिया प्रारंभ होती है और अधर्मरूपी असत् क्रियाका नाश होता है। यथार्थ समझके द्वारा बालक, युवक वृद्ध और सभी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं, इसलिये वस्तुस्वरूपकी यथार्थ समझ प्राप्त करनी चाहिये। वस्तुस्वरूपका वर्णन करते हुये नव तत्त्व, द्रव्य-पर्याय, निश्चय-व्यवहार, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष इत्यादिका स्वरूप संक्षेपमें बता चुके है। अब छह द्रव्योंको विशेष-तया सिद्ध करके वस्तु स्वरूप सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य कुछ बातें बताई जाती हैं और अन्तमें उसका प्रयोजन बतलाकर यह विषय समाप्त किया जाता है]

—वस्तुके अस्तित्वका निर्णय—

प्रश्न—यह कहा है कि आत्मा और परमाणु वस्तु हैं परन्तु यदि परमाणु वस्तु हों तो वे आँखोंसे दिखाई क्यों नहीं देते ? और आत्मा भी आँखोंसे क्यों नहीं दिखाई देता ? जो वस्तु है वह आँखोंसे दिखाई देनी चाहिये ?

उत्तर—यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि जितना आँखोंसे दिखाई दे उतना माना जाय। यह मान्यता भी उचित नहीं है कि आँखोंमें दिखाई देने पर ही कोई चीज वस्तु कहलाती है। वस्तु आँखोंसे भले ही दिखाई न दे किन्तु ज्ञानमें तो मालूम होती ही है। एक पृथक् रजकण (परमाणु) आँखोंसे दिखाई नहीं दे सकता किन्तु ज्ञानके द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है। जैसे पानी ओक्सीजन और हाईड्रोजनके एकत्रित होने पर बनता है किन्तु ओक्सीजन और हाईड्रोजन और इसमें पानीकी शक्ति

आँखोंसे दिखाई नहीं देती तथापि वह ज्ञानके द्वारा जाना जा सकता है; इसी प्रकार अनेक परमाणु एकत्रित होकर सोना, लकड़ी, कागज इत्यादि दृश्यमान स्थूल पदार्थोंके रूपमें हुये हैं जिनसे परमाणुका अस्तित्व निश्चित् हो सकता है। जितने भी स्थूल पदार्थ दिखाई देते हैं वे सब परमाणुकी जाति के (अचेतन वर्णादि युक्त) ज्ञात होते है, उसका अन्तिम अंश परम-अणु है। इससे निश्चित् हुआ कि आँखसे दिखाई न देने पर भी परमाणुका नित्य अस्तित्व ज्ञानमें प्रतीत होता है।

यदि ऐसा कहा जाय कि हम तो उतना ही मानते हैं जितना आँखों से दिखाई देता है—अन्य कुछ नही मानते तो हम इसके समाधानार्थ यह पूछते है कि क्या किसीने अपने सात पीढ़ी पहलेके बापको अपनी आँखों से देखा है ? आँखोंसे न देखने पर भी सात पीढ़ी पूर्व बाप था यह मानता है या नहीं ? वर्त्तमानमें स्वयं है और अपना बाप भी है इसलिये सात पीढ़ी पूर्वका बाप भी था इसप्रकार आँखोंसे दिखाई न देने पर भी निःशंकतया निश्चय करता है, उसमें ऐसी शंका नहीं करता कि "मैंने अपने सात पीढ़ी पूर्वके पिताको आँखोंसे नहीं देखा इसलिये वे होंगे या नहीं ?" वस्तुका अस्तित्व आँखोंसे निश्चित् नहीं होता किंतु ज्ञानसे ही निश्चित् होता है और इसप्रकार जानने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञानके समान ही प्रमाण-भूत है।

जो वस्तु वर्तमान अवस्थाको धारण कर रही है वह वस्तु त्रिकाल स्थाई अवश्य होती है यदि त्रिकालिता न हो तो उसकी वर्तमान अवस्था भी न हो सके। उसकी जो वर्तमान अवस्था ज्ञात होती है वह वस्तुका त्रिकाल अस्तित्व प्रगट करती है। वर्तमानमें परमाणुकी अवस्था टोपीके रूपमें है वह यह प्रगट करती है कि हम पहले कपास, सूत इत्यादि अवस्था रूपमें थे और भविष्यमें धूल, अन्य इत्यादि अवस्था रूप रहेंगे। इसप्रकार वर्तमान अवस्था वस्तुके त्रिकाल अस्तित्वको घोषित करती है। अब यहाँ यह विचार करना चाहिये कि दूध बदलकर दही बन जाता है, दही बदलकर मक्खन या

घीके रूपमें होजाता है और घी बदलकर विष्ठामें रूपांतरित होजाता है; उसमें मूल स्थिर रहने वाली कौनसी वस्तु है जिसके आधारसे यह रूपान्तर हुआ करते हैं ? विचार करनेपर मालूम होगा कि नित्य स्थाई मूल वस्तु परमाणु है और परमाणु वस्तुके रूपमें नित्य स्थिर रहकर उसकी अवस्थामें रूपान्तर होते रहते हैं। इसप्रकार सिद्ध हुआ कि दृष्टिगोचर न हो सकने पर भी परमाणु वस्तु है।

जैसे परमाणुका अस्तित्व ज्ञानके द्वारा निश्चित किया जा सकता है उसीप्रकार आत्माका अस्तित्व भी ज्ञानके द्वारा निश्चित किया जा सकता है। यदि आत्मा न हो तो यह सब कौन जानेगा ? "आत्मा नहीं है" ऐसी शंका भी आत्माके अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है ? आत्मा है और 'है' के लिये वह त्रिकाल स्थाई है।

आत्मा जन्मसे मरण तक ही नहीं होता किंतु वह त्रिकाल होता है जन्म और मरण तो शरीरके संयोग और वियोगकी अपेक्षासे हैं। यदि शरीरकी अपेक्षाको अलग कर दिया जाय तो जन्म मरण रहित आत्मा लगातार त्रिकाल है वास्तवमें आत्माका न तो जन्म होता है और न मरण होता है। आत्मा सदा शाश्वत अविनाशी वस्तु है आत्मा वस्तु ज्ञान स्वरूप है, वह निजसे ही है; वह शरीर इत्यादि अन्य पदार्थोंसे स्थिर नहीं है अर्थात् आत्मा पराधीन नहीं है। आत्मा कर्माधीन नहीं है किन्तु स्वाधीन है।

—जीव और अजीव—

'आत्मा कैसा है ?' यह प्रश्न उपस्थित होते ही इतना तो निश्चित हो ही गया कि आत्मासे विरुद्ध जातिके अन्य पदार्थ भी हैं और उनसे इस आत्माका अस्तित्व भिन्न है। अर्थात् आत्मा है, आत्माके अतिरिक्त पर वस्तु है और उस परवस्तुसे आत्माका स्वरूप भिन्न है, इसलिये यह भी निश्चित होगया कि आत्मा पर वस्तुका कुछ नहीं कर सकता। इतना यथार्थ समझ लेने पर ही जीव और अजीवके अस्तित्वका निश्चय करना कहलाता है।

जीव स्वयं ज्ञाता स्वरूप है ऐसा निश्चय करने पर यह भी स्वतः निश्चय होगया कि जीवके अतिरिक्त अन्यपदार्थ ज्ञाता स्वरूप नहीं है। जीव ज्ञाता है–चेतन स्वरूप है इस कथनका कारण यह है कि ज्ञातृत्वसे रहित–अचेतन अजीव पदार्थ भी हैं। उन अजीव पदार्थोंसे जीवकी भिन्नताको पहचाननेके लिये ज्ञातृत्वके चिह्नसे (चेतनताके द्वारा) जीवकी पहचान कराई है। जीवके अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थमें ज्ञातृत्व नहीं है।

इससे जीव और अजीव नामक दो प्रकारके पदार्थोंका अस्तित्व निश्चित् हुआ। उनमेंसे जीव द्रव्यके सम्बन्धमें अभी तक बहुत कुछ कहा जा चुका है। अजीव पदार्थ पांच प्रकारके हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल। इसप्रकार छह द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) में से मात्र जीव ही ज्ञानवान है; शेष पाँच ज्ञान रहित हैं। वे पाँचों पदार्थ जीवसे विरुद्ध लक्षण वाले हैं इसलिये उन्हें 'अजीव' अथवा जड़ कहा गया है।

छह द्रव्योंकी विशेष सिद्धि

१—२ जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य

जो स्थूल पदार्थ हमें दिखाई देते हैं उन शरीर, पुस्तक, पत्थर, लकड़ी इत्यादिमें ज्ञान नहीं है अर्थात् वे अजीव हैं। उन पदार्थोंको तो अज्ञानी जीव भी देखता है। उन पदार्थोंमें कमी बेशी होती रहती है अर्थात् वे एकत्रित होते हैं और पृथक् हो जाते हैं। ऐसे दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थोंको पुद्गल कहते हैं। रूप, रस, गंध, और स्पर्श पुद्गल द्रव्यके गुण हैं; इसलिये पुद्गल द्रव्य काला–सफेद; खट्टा–मीठा; सुगन्धित–दुर्गन्धित और हल्का–भारी इत्यादि रूपसे जाना जाता है। यह सब पुद्गलके ही गुण हैं। जीव काला–गोरा, या सुगन्धित–दुर्गन्धित नहीं होता; जीव तो ज्ञानवान है। शब्द टकराता है अथवा बोला जाता है, यह सब पुद्गलकी ही पर्याय है। जीव उन पुद्गलोंसे भिन्न है। लोकमें अज्ञानी बेहोश मनुष्य

से कहा जाता है कि—तेरा चेतन कहाँ उड़ गया है? अर्थात् यह शरीर तो अजीव है जो कि जानता नहीं है किंतु जाननेवाला ज्ञान कहाँ चला गया? अर्थात् जीव कहाँ गया। इससे जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंकी सिद्धि होगई।

३—धर्म द्रव्य

इस धर्म द्रव्यको जीव अव्यक्तरूपसे स्वीकार करता है। छहों द्रव्योंका अस्तित्व स्वीकार किये बिना कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। आने-जाने और रहने इत्यादिमें छहों द्रव्योंका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। 'राजकोटसे सोनगढ़ आये' इस कथनमें धर्म द्रव्य सिद्ध हो जाता है। राजकोटसे सोनगढ़ आनेका अर्थ यह है कि जीव और शरीरके परमाणुओं की गति हुई, एक क्षेत्रसे दूसरा क्षेत्र बदला। अब इस क्षेत्र बदलनेके कार्य में निमित्त द्रव्य किसे कहोगे? क्योंकि यह नियम सुनिश्चित है कि प्रत्येक कार्यमें उपादान और निमित्त कारण अवश्य होता है। अब यहाँ यह विचार करना है कि जीव और पुद्गलोंके राजकोटसे सोनगढ़ आनेमें कौनसा द्रव्य निमित्त है। पहले तो जीव और पुद्गल दोनों उपादान है, निमित्त उपादानसे भिन्न होता है, इसलिये जीव अथवा पुद्गल उस क्षेत्रांतरका निमित्त नहीं हो सकता। कालद्रव्य परिणमनमें निमित्त होता है अर्थात् वह पर्यायके बदलनेमें निमित्त है; इसलिये काल द्रव्य क्षेत्रांतर का निमित्त नहीं है। आकाश द्रव्य समस्त द्रव्योंको रहनेके लिये स्थान देता है। जब हम राजकोटमें थे तब जीव और पुद्गलके लिये आकाश निमित्त था और सोनगढ़में भी वही निमित्त है, इसलिये आकाशको भी क्षेत्रान्तरका निमित्त नहीं कहा जा सकता। इससे यह सुनिश्चित है कि क्षेत्रांतर रूप कार्यका निमित्त इन चार द्रव्योंके अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गति करनेमें कोई एक द्रव्य निमित्तरूप है किन्तु वह द्रव्य कौनसा है, इस सम्बन्धमें जीवने कभी कोई विचार नहीं किया इसलिये उसे इसकी कोई खबर नहीं है। क्षेत्रान्तरित होनेमें निमित्तरूप जो द्रव्य है उस

द्रव्यको 'धर्म द्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य अरूपी है ज्ञान रहित है।

४–अधर्म द्रव्य

जैसे गति करनेमें धर्म द्रव्य निमित्त है उसीप्रकार स्थिति करनेमें उससे विरुद्ध अधर्म द्रव्य निमित्तरूप है। "राजकोटसे सोनगढ़ आकर स्थित हुये," इस स्थितिमें निमित्त कौन है? स्थिर रहनेमें आकाश निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसका निमित्त तो रहनेके लिये है, गतिके समय भी रहनेमें आकाश निमित्त था इसलिये स्थितिका निमित्त कोई अन्य द्रव्य होना चाहिये, और वह द्रव्य 'अधर्म द्रव्य' है। यह द्रव्य भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

५–आकाश द्रव्य

हर एक द्रव्यके अपना स्वक्षेत्र होता है, वह निश्चय क्षेत्र है, जहाँ निश्चय होता है वहाँ व्यवहार होता है, जो ऐसा न होय तो अल्पज्ञप्राणी को समझाया नहीं जा सकता। इसलिये जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा कालाणुओंके रहनेका जो व्यवहार क्षेत्र वह आकाश है, उस आकाशमें अवगाहन हेतु गुण होनेसे उसके एक प्रदेशमें अनन्त सूक्ष्म रजकण तथा अनन्त सूक्ष्म स्कन्ध भी रह सकते हैं, आकाश क्षेत्र है और अन्य पाँच द्रव्यक्षेत्री हैं। क्षेत्र, क्षेत्री से बड़ा होता है इसलिये एक अखंड आकाशके दो भाग हो जाते हैं, जिसमें पाँच क्षेत्री रहते हैं वह लोकाकाश है और बाकी का भाग अलोकाकाश है।

'आकाश' नामक द्रव्यको लोग अव्यक्त रूपसे स्वीकार करते हैं "अमुक मकान इत्यादि स्थानका आकाशसे पाताल तक हमारा अधिकार है" इसप्रकार दस्तावेजोंमें लिखवाया जाता है, इससे निश्चित हुआ कि आकाशसे पाताल रूप कोई एक वस्तु है। यदि आकाशसे पाताल तक कोई वस्तु है ही नहीं तो कोई यह कैसे लिखा सकता है कि आकाशसे पाताल तक मेरा अधिकार है? वस्तु है इसलिये उस पर अपना अधिकार माना जाता है। आकाशसे पाताल तक कहनेमें उस सर्व व्यापी वस्तुको

'आकाश द्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य ज्ञान रहित है और अरूपी है। उसमें रूप, रस, गंध इत्यादि नहीं है।

६—कालद्रव्य

लोग दस्तावेजमें यह लिखवाते हैं कि "यावत् चन्द्र दिवाकरौ"—अर्थात् जब तक सूर्य और चन्द्रमा रहें तब तक हमारा अधिकार है।" यहाँ पर कालद्रव्यको स्वीकार किया गया है। वर्तमान मात्रके लिये ही अधिकार हो सो बात नहीं है किन्तु अभी काल आगे बढ़ता जा रहा है उस समस्त कालमें मेरा अधिकार है। इसप्रकार काल द्रव्यको स्वीकार करते हैं। लोग कहा करते हैं कि हम और हमारा परिवार सदा फलता फूलता रहे इसमें भी भविष्य कालको स्वीकार किया है। यहाँ तो मात्र काल द्रव्यको सिद्ध करनेके लिये फलने फूलने की बात है, फलते फूलते रहनेकी भावना तो मिथ्यादृष्टि की ही है। लोग कहा करते हैं कि हम तो सात पीढ़ीसे सुखी रहते आ रहे हैं, इसमें भी भूतकालको स्वीकार किया है। भूत, भविष्यत और वर्तमान इत्यादि सभी प्रकार 'काल द्रव्य' की व्यवहार पर्याय हैं। यह काल द्रव्य भी अरूपी है और ज्ञान रहित है।

इसप्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंकी सिद्धि की गई है। इनके अतिरिक्त अन्य सातवाँ कोई द्रव्य है ही नहीं। इन छह द्रव्योंमें से एक भी द्रव्य कम नहीं है, ठीक छह ही हैं, और ऐसा माननेसे ही यथार्थ वस्तुकी सिद्धि होती है। यदि इन छह द्रव्योंके अतिरिक्त कोई सातवां द्रव्य हो तो उसका कार्य बताइये। ऐसा कोई कार्य नहीं है जो इन छह द्रव्योंसे बाहर हो, इसलिये यह सुनिश्चित् है कि कोई सातवाँ द्रव्य है ही नहीं। और यदि इन छह द्रव्योंमेंसे कोई एक द्रव्य कम हो तो उस द्रव्यका कार्य कौन करेगा? छह द्रव्योंमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जिसके बिना विश्वका विषय-व्यवहार चल सके।

(१) जीव—इस जगतमें अनंत जीव हैं, जीव जानपने चिह्न (विशेष गुण) के द्वारा पहिचाना जाता है; क्योंकि जीवके अतिरिक्त किसी

भी पदार्थमें ज्ञातृत्व नहीं है। जो अनंत जीव हैं वे एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं।

(२) पुद्गल—इस जगतमें अनन्तानन्त पुद्गल हैं; वे रूप, रस, गंध, स्पर्शके द्वारा पहचाने जाते हैं, क्योंकि पुद्गलके अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं होते। इन्द्रियोंके द्वारा जो भी दिखाई देता है वह सब पुद्गल द्रव्यसे बने हुये स्कंध हैं।

(३) धर्म—यहाँ धर्मका अर्थ आत्माका धर्म नहीं है, किन्तु धर्म नामका प्रथक् द्रव्य है। यह द्रव्य एक अखंड द्रव्य है जो समस्त लोक में विद्यमान है। जीव और पुद्गलोंके गति करते समय यह द्रव्य निमित्त रूप पहचाने जाते हैं।

(४) अधर्म—यहाँ अधर्मका अर्थ पाप अथवा आत्माका दोष नहीं है किन्तु 'अधर्म' नामका स्वतंत्र द्रव्य है। यह एक अखंड द्रव्य है जो कि समस्त लोकमें विद्यमान है। जब जीव और पुद्गल गति करते रुक जाते हैं तब यह द्रव्य उस स्थिरतामें निमित्त रूप पहिचाने जाते हैं।

(५) आकाश—यह एक अखंड सर्व व्यापक द्रव्य है। यह समस्त पदार्थोंको स्थान देनेमें निमित्त रूप पहचाने जाते हैं। इस द्रव्यके जितने भागमें अन्य पाँच द्रव्य रहते हैं उतने भागको 'लोकाकाश' कहते हैं और जितना भाग पाँच द्रव्योंसे रहित-खाली होता है उसे अलोकाकाश कहते हैं। जो खाली स्थान कहा जाता है उसका अर्थ मात्र आकाश द्रव्य होता है।

(६) काल—काल द्रव्य असंख्य हैं। इस लोकमें असंख्य प्रदेश हैं, उस प्रत्येक प्रदेश पर एक एक काल द्रव्य स्थित है। जो असंख्य कालाणु हैं वे सब एक दूसरेसे पृथक् हैं यह द्रव्य वस्तुके रूपांतर (परिवर्तन) होने में निमित्त रूप पहचाने जाते हैं।

इन छह द्रव्योंको सर्वज्ञके अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। सर्वज्ञदेवने ही इन छह द्रव्योंको जाना है और उन्होंने उनका

यथार्थ स्वरूप कहा है, इसलिये सर्वज्ञके सत्य मार्गके अतिरिक्त अन्य कहीं भी छह द्रव्योंका स्वरूप नहीं पाया जा सकता, क्योंकि अन्य अपूर्ण जीव उन द्रव्योंको परिपूर्ण नहीं जान सकते इसलिये छह द्रव्योंके स्वरूपको यथार्थतया समझना चाहिये।

—टोपी के उदाहरण से छह द्रव्यों की सिद्धि—

देखिये, यह वस्त्र निर्मित टोपी अनंत परमाणु एकत्रित होकर बनी है और उसके कट जाने पर-छिन्न भिन्न हो जाने पर परमाणु पृथक् हो जाते हैं। इस प्रकार एकत्रित होना और पृथक् होना पुद्गलका स्वभाव है। यह टोपी सफेद है, कोई काली, पीली और लाल रंगकी भी होती है, रंग पुद्गल द्रव्यका चिह्न है इसलिये जो दृष्टिगोचर होता है वह पुद्गल द्रव्य है। 'यह टोपी है, पुस्तक नहीं' ऐसा जाननेवाला ज्ञान है और ज्ञान जीवका चिह्न है, इससे जीव भी सिद्ध होगया।

अब यह विचार है कि टोपी कहाँ है? यद्यपि निश्चयसे तो टोपी टोपीमें ही है परन्तु टोपी टोपीमें ही है ऐसा कहनेसे टोपीका बराबर ख्याल नहीं आ सकता, इसलिये निमित्तके रूपमें यह कहा जाता है कि अमुक जगह पर टोपी स्थित है। जो जगह है वह आकाश द्रव्यका अमुक भाग है, इसप्रकार आकाश द्रव्य सिद्ध हुआ।

ध्यान रहे, अब इस टोपीकी घड़ी की जाती है। जब टोपी सीधी थी तब आकाशमें थी और उसकी घड़ी हो जाने पर भी वह आकाशमें ही है, इसलिये आकाशके निमित्तसे टोपीकी घड़ी का होना नहीं पहचाना जा सकता। तब फिर टोपीकी घड़ी होनेकी जो क्रिया हुई है उसे किस निमित्तसे पहचानोगे? टोपीकी घड़ी होगई इसका अर्थ यह है कि पहले उसका क्षेत्र लम्बा था और वह अब अल्प क्षेत्रमें समा गई है। इसप्रकार टोपी क्षेत्रान्तरित हुई है और उस क्षेत्रान्तरके होनेमें जो वस्तु निमित्त है वह धर्म द्रव्य है।

अब टोपी घड़ी होकर ज्यों की त्यों स्थिर पड़ी है उसमें कौन निमित्त है? आकाश द्रव्य तो मात्र स्थान दानमें निमित्त है टोपीके चलने अथवा स्थिर रहनेमें आकाश निमित्त नहीं है। जब टोपीने सीधी दशामें से टेढ़ी दशा रूप होनेके लिये गमन किया तब धर्म द्रव्यका निमित्त था, तो अब स्थिर रहने की क्रियामें उससे विपरीत निमित्त होना चाहिये। गतिमें धर्म द्रव्य निमित्त था और अब स्थिर रहनेमें अधर्म द्रव्य निमित्त रूप है। पहले टोपी सीधी थी, अब घड़ी वाली है और अब वह अमुक समय तक रहेगा–जहाँ ऐसा जाना वहाँ 'काल' सिद्ध होगया। भूत, भविष्यत, वर्तमान अथवा नया–पुराना–दिन–घंटे इत्यादि जो भी भेद होते हैं वे सब किसी एक मूल वस्तुके बिना नहीं हो सकते हैं। उपर्युक्त सभी भेद काल द्रव्यके हैं। यदि काल द्रव्य न हो तो नया–पुराना पहले–पीछे इत्यादि कोई भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसीसे काल द्रव्य सिद्ध होगया।

इन छह द्रव्योंमेंसे यदि एक भी द्रव्य न हो तो जगत व्यवहार नहीं चल सकता। यदि पुद्गल नहीं हो तो टोपी नहीं हो सकती, यदि जीव न हो तो टोपीका अस्तित्व कौन निश्चित करेगा? यदि आकाश न हो तो यह नहीं जाना जा सकता कि टोपी कहाँ है। यदि धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य न हो तो टोपीमें होने वाला परिवर्तन (क्षेत्रान्तर और स्थिरता) नहीं जाना जा सकता। यदि काल द्रव्य न हो तो 'पहले' जो टोपी सीधी थी वही 'अब' घड़ी वाली है–इस प्रकार पहले टोपीका अस्तित्व निश्चित नहीं हो सकता, इसलिये टोपीको सिद्ध करनेके लिये छहों द्रव्योंको स्वीकार करना होता है। विश्वकी किसी भी एक वस्तुको स्वीकार करने पर व्यक्त रूपसे अथवा अव्यक्त रूपसे छहों द्रव्योंकी स्वीकृति हो जाती है।

मानव शरीरको लेकर छह द्रव्योंकी सिद्धि

यह दृष्टिगोचर होनेवाला शरीर पुद्गल निर्मित है, और इस शरीरमें जीव रहता है। जीव और पुद्गल एकही आकाश–स्थलमें रहते

हैं तथापि दोनों भिन्न हैं। जीवका ज्ञाता स्वभाव है। और पुद्गल निर्मित यह शरीर कुछ भी नहीं जानता। यदि शरीरका कोई अंग कट जाय तथापि जीवका ज्ञान नहीं कट जाता, जीव तो सम्पूर्ण बना रहता है क्योंकि जीव और शरीर सदा भिन्न हैं। दोनोंका स्वरूप भिन्न है और दोनोंका प्रथक् कार्य है। यह जीव और पुद्गल स्पष्ट हैं। जीव और शरीर कहाँ रहते हैं? वे अमुक स्थान पर दो चार या छह फुटके स्थानमें रहते हैं, इसप्रकार स्थान अथवा जगहके कहने पर 'आकाश द्रव्य' सिद्ध हो जाता है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ यह कहा जाता है कि जीव और शरीर आकाशमें रह रहे हैं वहाँ वास्तवमें जीव, शरीर और आकाश तीनों स्वतंत्र पृथक् २ हैं, कोई एक दूसरेके स्वरूपमें घुस नहीं जाता। जीव तो ज्ञाता स्वरूपमें ही विद्यमान है। रूप, रस, गंध इत्यादि शरीरमें ही है, वे आकाश अथवा जीव इत्यादि किसीमें भी नहीं हैं। आकाशमें न तो रूप, रस इत्यादि हैं और न ज्ञान ही है, वह अरूपी–अचेतन है। जीवमें ज्ञान है किन्तु रूप, रस, गंध इत्यादि नहीं हैं अर्थात् वह अरूपी–चेतन है, पुद्गलमें रूप, रस, गंध इत्यादि हैं किन्तु ज्ञान नहीं है, अर्थात् वह रूपी–अचेतन है। इसप्रकार तीनों द्रव्य एक दूसरे से भिन्न–स्वतंत्र हैं। कोई अन्य वस्तु स्वतंत्र वस्तुओंका कुछ नहीं कर सकती यदि एक वस्तुमें दूसरी वस्तु कुछ करती हो तो वस्तु को स्वतंत्र कैसे कहा जायगा?

इसप्रकार जीव पुद्गल और आकाशका निश्चय करके काल द्रव्यका निश्चय करते हैं। प्रायः ऐसा पूछा जाता है कि "आपकी आयु कितनी है"? (यहाँ पर 'आपकी' से मतलब शरीर और जीव दोनों की आयु की बात समझनी चाहिये) शरीर की आयु ४०, ५० वर्षकी कही जाती है और जीव अस्ति रूपसे अनादि अनन्त है। जहाँ यह कहा जाता है कि—'यह मुझसे पाँच वर्ष छोटा है या पाँच वर्ष बड़ा है' वहाँ शरीरके कदकी अपेक्षासे छोटा बड़ा नहीं होता किन्तु कालकी अपेक्षासे

छोटा बड़ा कहा जाता है। यदि कालद्रव्यकी अपेक्षा न रहे तो यह नही कहा जा सकता कि यह छोटा है, यह बड़ा है, यह बालक है, यह युवान है, यह वृद्ध है। जो नई पुरानी अवस्थायें बदलती रहती है उनसे काल द्रव्यका अस्तित्व निश्चित होता है।

कभी तो जीव और शरीर स्थिर होते हैं और कभी गमन करते है वे स्थिर होने और गमन करनेकी दशामें दोनों समय आकाशमें ही होते हैं, इसलिये आकाशको लेकर उनका गमन अथवा स्थिर रहना निश्चित नही हो सकता। गमनरूप दशा और स्थिर रहनेकी दशा इन दोनोंको भिन्न भिन्न जाननेके लिये उन दोनों अवस्थाओंमें भिन्न भिन्न निमित्तरूप दो द्रव्योंको जानना होगा। धर्म द्रव्यके निमित्तसे जीव-पुद्गलका गमन जाना जा सकता है, और अधर्मके निमित्तसे जीव पुद्गलकी स्थिरता जानी जा सकती है। यदि यह धर्म और अधर्म द्रव्य न हों तो गमन और स्थिरताके भेद नहीं जाने जा सकते।

धर्म, अधर्म द्रव्य जीव और पुद्गलोंको गति अथवा स्थिति करने में वास्तवमें सहायक नहीं होते। एक द्रव्यके भावको अन्य द्रव्यकी अपेक्षा के बिना पहचाना नहीं जा सकता। जीवके भावको पहचानने के लिये अजीवकी अपेक्षा होती है। जो जानता है सो जीव है ऐसा कहते ही यह बात स्वतः आजाती है कि जो ज्ञातृत्वसे रहित है वे द्रव्य जीव नहीं हैं, और इसप्रकार अजीवकी अपेक्षा आ जाती है। जीव अमुक स्थान पर है ऐसा कहते ही आकाशकी अपेक्षा आ जाती है। इसीप्रकार छहों द्रव्योंके सम्बन्धमें परस्पर समझ लेना चाहिये। एक आत्म द्रव्यका निर्णय करने पर छहों द्रव्य ज्ञात हो जाते है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह ज्ञानकी विशालता है और ज्ञानका स्वभाव सर्व द्रव्योंको जान लेना है। एक द्रव्यके सिद्ध करने पर छहों द्रव्य सिद्ध हो जाते हैं, इसमें द्रव्यकी पराधीनता नहीं है किन्तु ज्ञानकी महिमा है, जो पदार्थ है वह ज्ञानमें अवश्य ज्ञात होता है, जितना पूर्ण ज्ञानमें ज्ञात होता है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी

इस जगतमें नहीं है। पूर्ण ज्ञानमें छहों द्रव्य ज्ञात हुये हैं, उनसे अधिक अन्य कुछ नहीं है।

कर्मोंको लेकर छह द्रव्योंकी सिद्धि

कर्म पुद्गलकी अवस्था है, वे जीवके विकारी भावके निमित्तसे रह रहे हैं, कुछ कर्म बंध रूपमें स्थित हुआ तब उसमें अधर्मास्तिकायका निमित्त है, प्रति क्षण कर्म उदयमें आकर खिर जाते हैं, उनके खिर जाने पर जो क्षेत्रान्तर होता है उसमें उसके धर्मास्तिकायका निमित्त है, कर्मकी स्थितिके सम्बन्धमें कहा जाता है कि यह सत्तर कोडाकोडीका कर्म है अथवा अन्तरमुहूर्त का कर्म है, इसमें कालद्रव्य की अपेक्षा है, अनेक कर्म परमाणुओंके एक क्षेत्रमें रहनेमें आकाश द्रव्यकी अपेक्षा है। इसप्रकार छह द्रव्य सिद्ध हुये।

द्रव्योंकी स्वतंत्रता

उपरोक्त कथनसे यह सिद्ध होता है कि जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य (कर्म) दोनों बिलकुल विभिन्न वस्तु हैं, यह दोनों अपने आपमें स्वतंत्र हैं कोई एक दूसरेका कुछ भी नहीं करता। यदि जीव और कर्म एकत्रित हो जांय तो इस जगतमें छह द्रव्य ही नहीं रह सकेंगे। जीव और कर्म सदा भिन्न ही हैं। द्रव्योंका स्वभाव अनादि अनन्त स्थिर रहते हुये भी प्रतिसमय बदलने का है। समस्त द्रव्य अपनी शक्तिसे स्वतंत्रतया अनादि अनन्त स्थिर रहकर स्वयं ही अपनी पर्यायको बदलते है। जीव की पर्यायको जीव बदलते है और पुद्गलकी पर्यायको पुद्गल बदलते हैं। जीव न तो पुद्गलका कुछ करते हैं और न पुद्गल जीवका ही कुछ करते हैं।

उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य

द्रव्यका कोई कर्ता नहीं है। यदि कोई कर्ता है तो उसने द्रव्योंको कैसे बनाया ? किसने बनाया ? वह स्वयं किसका कर्ता बना ? जगतमें छह द्रव्य अपने स्वभावसे ही हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। किसी भी नवीन पदार्थकी उत्पत्ति होती ही नहीं है। किसी भी प्रयोगके द्वारा नये जीवकी

अथवा नये परमाणुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो पदार्थ होता है वही रूपान्तरित होता है। जो द्रव्य है वह कभी नष्ट नहीं होता, और जो द्रव्य नहीं है वह कभी उत्पन्न नहीं होता, हाँ, जो द्रव्य है वह प्रतिक्षण अपनी पर्यायको बदलता रहता है, ऐसा नियम है। इस सिद्धान्तको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अर्थात् नित्य स्थिर रहकर बदलना (Permanency with a change) कहते है।

क्योंकि द्रव्यका कोई बनाने वाला नहीं है इसलिये कोई सातवां द्रव्य नहीं हो सकता और किसी द्रव्यको कोई नाश करनेवाला नहीं है इसलिये छह द्रव्योंमें से कभी कोई कम नहीं हो सकता, शाश्वतरूपसे छह ही द्रव्य हैं। सर्वज्ञ भगवानने अपने सम्पूर्ण ज्ञानके द्वारा छह द्रव्योंको जाना है और उन्हींको अपने उपदेशमें दिव्यवाणीके द्वारा कहा है। सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत परम सत्यमार्गके अतिरिक्त इन छह द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

—द्रव्यकी शक्ति—

द्रव्यकी विशेष शक्ति (चिह्न-विशेष गुण) के सम्बन्धमें पहले संक्षेपमें कहा जा चुका है। एक द्रव्यकी जो विशेष शक्ति होती है वह अन्य द्रव्योंमें नहीं होती, इसलिये विशेष शक्तिके द्वारा द्रव्यके स्वरूपको पहचाना जा सकता है। जैसे—ज्ञान जीव द्रव्यकी विशेष शक्ति है, जीवके अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्यमें ज्ञान नहीं है इसलिये ज्ञान शक्तिके द्वारा जीव पहचाना जाता है।

अब यहाँ द्रव्योंकी सामान्य शक्तिके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है। जो शक्ति सभी द्रव्योंमें होती है उसे सामान्य शक्ति (सामान्य गुण) कहते है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व यह छहों सामान्य गुण मुख्य हैं, वे सभी द्रव्यमें है।

(१) अस्तित्व गुणके कारण द्रव्यके अस्तित्वका कभी नाश नहीं होता। द्रव्य अमुक कालके लिये है और उसके बाद नष्ट होजाते हैं—

ऐसी बात नहीं है। द्रव्य नित्य स्थिर रहने वाले हैं। यदि अस्तित्व गुण न हो तो वस्तु नहीं रह सकती, और यदि वस्तु ही न हो तो फिर किसे समझाना है ?

(२) वस्तुत्वगुणके कारण द्रव्य अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है। द्रव्य स्वयं अपने गुण पर्यायोंका प्रयोजनभूत कार्य करते हैं। एक द्रव्य दूसरे अन्य द्रव्यका कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

(३) द्रव्यत्व गुणके कारण द्रव्य निरंतर एक अवस्थामें से दूसरी अवस्था में द्रवित होता रहता है—परिणमन करता रहता है। द्रव्य त्रिकाल अस्तिरूप होने पर भी सदा एकसा (कूटस्थ) नहीं है परन्तु निरन्तर नित्य बदलने वाला-परिणामी है। यदि द्रव्यमें परिणमन न हो तो जीवके संसार दशाका नाश होकर मोक्षकी उत्पत्ति कैसे हो ? शरीरकी बाल्यावस्थामें से युवावस्था कैसे हो ? छहों द्रव्योंमें द्रव्यत्व शक्ति होनेसे सभी स्वतंत्र रूपसे अपनी अपनी पर्यायका परिणमन कर रहे है। कोई द्रव्य अपनी पर्यायका परिणमन करनेके लिये दूसरे द्रव्यकी सहायता अथवा असरकी अपेक्षा नहीं रखता।

(४) प्रमेयत्व गुणके कारण द्रव्य ज्ञानमें प्रतीत होते हैं छहों द्रव्यमें प्रमेयत्व शक्ति होनेसे ज्ञान छहों द्रव्यके स्वरूपका निर्णय कर सकता है। यदि वस्तुमें प्रमेयत्व गुण न हो तो वह अपनेको यह कैसे बता सकेगी कि 'यह वस्तु है' ? जगतका कोई भी पदार्थ ज्ञानके द्वारा अगम्य नहीं है। आत्मामें प्रमेयत्व गुण होनेसे आत्मा स्वयं अपनेको जान सकता है।

(५) अगुरु लघुत्व गुणके कारण प्रत्येक वस्तु निज स्वरूपमें ही स्थिर रहती है, जीव बदलकर कभी परमाणु नहीं हो जाता और परमाणु बदलकर कभी जीव रूप नहीं हो जाता। जड़ सदा जड़ रूपमे और चेतन सदा चेतन रूपमें रहता है। ज्ञानकी प्रगटता विकार दशामें चाहे जितनी कम हो तथापि ऐसा कभी नहीं हो सकता कि जीव द्रव्य बिल्कुल ज्ञान हीन हो जाय। इस शक्तिके कारण द्रव्यके गुण छिन्न भिन्न नहीं हो जाते, तथा

कोई दो वस्तुयें एकरूप होकर तीसरी नई प्रकारकी वस्तु उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वस्तुका स्वरूप कदापि अन्यथा नहीं होता।

(६) प्रदेशत्व गुणके कारण प्रत्येक द्रव्यके अपना आकार होता है। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने निज आकारमें ही रहता है। सिद्ध दशाके होनेपर एक जीव दूसरे जीवमे मिल नही जाता किन्तु प्रत्येक जीव अपने प्रदेशाकार स्वतंत्र रूपसे स्थिर रहता है।

यह छह सामान्य गुण मुख्य है, इनके अतिरिक्त अन्य सामान्य गुण भी हैं। इसप्रकार गुणोके द्वारा द्रव्यका स्वरूप अधिक स्पष्टतासे जाना जाता है।

—प्रयोजन भूत—

इसप्रकार छह द्रव्यके स्वरूपका अनेक प्रकार वर्णन किया है। इन छह द्रव्योंमें प्रति समय परिणमन होता रहता है, जिसे पर्याय (अवस्था, हालत, Condition) कहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्योंकी पर्याय तो सदा शुद्ध ही है, शेष जीव और पुद्गल द्रव्योंमें शुद्ध पर्याय होती है और अशुद्ध पर्याय भी हो सकती है।

जीव और पुद्गल द्रव्योंमें से पुद्गल द्रव्यमें ज्ञान नहीं है, उसमें ज्ञातृत्व नहीं है और इसलिये उसमें ज्ञानकी विपरीत रूप भूल नही है, इसलिये पुद्गलके सुख अथवा दुःख नही होता। सच्चे ज्ञानसे सुख और विपरीत ज्ञानसे दुःख होता है, परन्तु पुद्गल द्रव्यमें ज्ञान गुण ही नहीं है इसलिये उसके सुख दुःख नहीं होता उसमें सुख गुण ही नहीं है। ऐसा होनेसे पुद्गल द्रव्यके अशुद्ध दशा हो या शुद्धदशा हो, दोनों समान है। शरीर पुद्गल द्रव्यकी अवस्था है इसलिये शरीरमें सुख दुःख नहीं होते। शरीर निरोगी हो अथवा रोगी हो उसके साथ सुख दुःखका सम्बन्ध नही है।

—अवशेष रहा ज्ञाता जीव—

छह द्रव्यों में यह एक ही जीव द्रव्य ज्ञान शक्तिवाला है। जीवमें ज्ञानगुण है और ज्ञानका फल सुख है जीवमें सुख गुण है। यदि यथार्थ

ज्ञान करे तो सुख हो, परन्तु जीव अपने ज्ञानस्वभावको नहीं पहचानता और ज्ञानसे भिन्न अन्य वस्तुओंमें सुखकी कल्पना करता है, यह उसके ज्ञानकी भूल है और उस भूलके कारण ही जीवके दुःख है। अज्ञान जीव की अशुद्ध पर्याय है। जीवको अशुद्ध पर्याय दुख रूप है इसलिये उस दशाको दूर करके सच्चे ज्ञानके द्वारा शुद्ध दशा प्रगट करनेका उपाय समझाया जाता है। सभी जीव सुख चाहते हैं और सुख जीवकी शुद्ध दशामें ही है इसलिये जिन छह द्रव्योंको जाना है उनमेंसे जीवके अतिरिक्त पाँच-द्रव्योंके गुण पर्यायके साथ जीवका कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु अपने गुण पर्यायके साथ ही प्रयोजन है।

प्रत्येक जीव अपने लिये सुख चाहता है अर्थात् अशुद्धताको दूर करना चाहता है जो मात्र शास्त्रोंको पढ़कर अपनेको ज्ञानी मानता है वह ज्ञानी नहीं है किन्तु जो द्रव्योंसे भिन्न अपने आत्माको पुण्य-पापकी क्षणिक अशुद्ध वृत्तियोंसे भिन्न रूपमें यथार्थतया जानता है वही ज्ञानी है। कोई परवस्तु आत्माको हानि लाभ नहीं पहुँचाती। अपनी अवस्थामें अपने ज्ञानकी भूलसे ही दुखी था। अपने स्वभावकी समझके द्वारा उस भूलको स्वयं दूर करे तो दुख दूर होकर सुख होता है। जो यथार्थ समझके द्वारा भूलको दूर करता है वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, सुखी धर्मात्मा है, जो यथार्थ समझके बाद उस समझके बलसे आंशिक रागको दूर करके स्वरूपकी एकाग्रताको क्रमशः साधता है वह श्रावक है। जो विशेष रागको दूर करके, सर्व संगका परित्याग करके स्वरूपकी रमणतामें बारम्बार लीन होता है वह मुनि-साधु है और जो सम्पूर्ण स्वरूपकी स्थिरता करके, सम्पूर्ण राग को दूर करके शुद्ध दशाको प्रगट करते है वे सर्वज्ञदेव-केवली भगवान हैं। उनमें से जो शरीर सहित दशामें विद्यमान हैं वे अरहन्तदेव हैं जो शरीर रहित है वे सिद्ध भगवान हैं। अरहन्त भगवानने दिव्यध्वनिमें जो वस्तु स्वरूप दिखाया है उसे 'श्रुत' (शास्त्र) कहते हैं।

इनमेंसे अरिहन्त और सिद्ध देव हैं, साधक, संत मुनि गुरु हैं और

सत् श्रुत–शास्त्र है। जो इन सच्चे देव गुरु शास्त्रको यथार्थतया पहचानता है उसकी गृहीत मिथ्यात्वरूपी महा भूल दूर हो जाती है। यदि देव गुरु शास्त्रके स्वरूपको जानकर अपने आत्म स्वरूपका निर्णय करे तो अनन्त संसारका कारण–सर्वाधिक महा पापरूप अगृहीत मिथ्यात्व दूर हो जाय और सम्यग्दर्शनरूपी अपूर्व आत्मधर्म प्रगट हो।

सच्चे देवके स्वरूपमें मोक्ष तत्त्वका समावेश होता है संत–मुनिके स्वरूपमें संवर और निर्जरा तत्त्वका समावेश होता है। जैसा सच्चे देवका स्वरूप है वैसा ही शुद्ध जीव तत्त्वका स्वरूप है। कुगुरु, कुदेव, कुधर्ममें अजीव, आश्रव, तथा बन्ध तत्त्वका समावेश होता है। अरिहन्त–सिद्धके समान शुद्ध स्वरूप ही जीवका स्वभाव है, और स्वभाव ही धर्म है। इसप्रकार सच्चे देव, गुरु, धर्मके स्वरूपको भलीभांति जान लेने पर उसमें सात तत्त्वोंके स्वरूपका ज्ञान भी आजाता है।

—जिज्ञासुओं का कर्तव्य—

उपरोक्त तत्त्व स्वरूपको प्रथम जानकर गृहीत मिथ्यात्वका (व्यवहार मिथ्यापनका) पाप दूर करे और अभूतपूर्व निश्चय आत्मज्ञानसे आत्माके लक्ष्यसे ज्ञान करके यह निर्णय करे तो अगृहीत मिथ्यात्वका सर्वोपरि पाप दूर हो जाय, यही अपूर्व सम्यग्दर्शनरूपी धर्म है, इसलिये जिज्ञासु जीवोंको प्रथम भूमिकासे ही यथार्थ समझके द्वारा गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्वको नाश करनेका निरंतर प्रयत्न करना चाहिये और उसका नाश सच्चे ज्ञानके द्वारा ही होता है इसलिये निरंतर सच्चे ज्ञानका अभ्यास करना चाहिये।

सर्व दुःखोंकी परम–औषधि

जो प्राणी कषायके आतापसे तप्त हैं, इन्द्रियविषयरूपी रोगसे मूर्च्छित है, और इष्टवियोग तथा अनिष्टसंयोगसे खेद-खिन्न है–उन सब के लिये सम्यक्त्व परम हितकारी औषधि है। [सारसमुच्चय—३८]

सम्यग्दर्शन का स्वरूप और वह कैसे प्रगटे ?

सम्यग्दर्शन अपने आत्माके श्रद्धा गुणकी निर्विकारी पर्याय है। अखंड आत्माके लक्ष्यसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, सम्यग्दर्शनको किसी विकल्पका अवलंबन नहीं है किन्तु निर्विकल्प स्वभावके अवलम्बनसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह सम्यग्दर्शन ही आत्माके सर्व सुखका कारण है। 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, बंध रहित हूँ' ऐसा विकल्प करना सो भी शुभराग है, उस शुभरागका अवलम्बन भी सम्यग्दर्शनके नहीं है उस शुभ विकल्पको उल्लंघन करनेपर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं राग और विकल्प रहित निर्मल गुण है उसके किसी प्रकारका अवलम्बन नहीं है किन्तु समूचे आत्माका अवलम्बन है वह समूचे आत्माको स्वीकार करता है।

एकवार विकल्प रहित होकर अखंड ज्ञायक स्वभावको लक्ष्यमें लिया कि सम्यक् प्रतीति हुई। अखंड स्वभावका लक्ष्य ही स्वरूपकी सिद्धिके लिये कार्यकारी है अखंड सत्यस्वरूपको जाने विना-श्रद्धा किये विना 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अबद्ध स्पष्ट हूँ' इत्यादि विकल्प भी स्वरूपकी शुद्धिके लिये कार्यकारी नहीं है। एकवार अखंड ज्ञायक स्वभावका लक्ष्य करनेके बाद जो वृत्तियां उठती है वे वृत्तियां अस्थिरताका कार्य करती हैं परन्तु वे स्वरूपको रोकनेके लिये समर्थ नहीं हैं क्योंकि श्रद्धामें तो वृत्ति-विकल्परहित स्वरूप है इसलिये जो वृत्ति उठती है वह श्रद्धाको नहीं बदल सकती है जो विकल्पमें ही अटक जाता है वह मिथ्यादृष्टि है विकल्प रहित होकर अभेद का अनुभव करना सो सम्यग्दर्शन है और यही समयसार है। यही बात निम्नलिखित गाथामें कही है:—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णय पक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

'आत्मा कर्मसे बद्ध है या अबद्ध' इसप्रकार दो भेदोंके विचार

लगना सो नयका पक्ष है। 'मै आत्मा हूँ, परसे भिन्न हूँ' इसप्रकारका विकल्प भी राग है। इस रागकी वृत्तिको–नयके पक्षोंको उल्लंघन करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट हो।

'मैं बँधा हुआ हूँ अथवा मै बंध रहित मुक्त हूँ' इसप्रकारकी विचार श्रेणीको उल्लंघन करके जो आत्माका अनुभव करता है सो सम्यग्दृष्टि है और वही समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है। मै अबंध हूँ–बंध मेरा स्वरूप नहीं है इसप्रकारके भंगकी विचार श्रेणीके कार्यमें जो लगता है वह अज्ञानी है और उस भंगके विचारको उल्लंघन करके अभंग स्वरूपको स्पर्श करना [अनुभव करना] सो प्रथम आत्म धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है। 'मै पराश्रय रहित अबन्ध शुद्ध हूँ' ऐसे निश्चयनयके पक्षका जो विकल्प है सो राग है और उस रागमें जो अटक जाता है (रागको ही सम्यग्दर्शन मान ले किन्तु राग रहित स्वरूपका अनुभव न करे) वह मिथ्यादृष्टि है।

भेद का विकल्प उठता तो है तथापि उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता

अनादि कालसे आत्म स्वरूपका अनुभव नहीं है, परिचय नहीं है, इसलिये आत्मानुभव करनेसे पूर्व तत्सम्बन्धी विकल्प उठे बिना नहीं रहते। अनादिकालसे आत्माका अनुभव नहीं है इसीलिये वृत्तियोंका उफान होता है कि—मै आत्मा कर्मके सम्बन्धसे युक्त हूँ अथवा कर्मके सम्बन्धसे रहित हूँ इसप्रकार दो नयोंके दो विकल्प उठते है परन्तु 'कर्मके सम्बन्धसे युक्त हूँ अथवा कर्मके सम्बन्धसे रहित हूँ अर्थात् बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ' ऐसे दो प्रकार के भेदका भी एक स्वरूपमें कहाँ अवकाश है ? स्वरूप तो नय पक्षकी अपेक्षाओंसे परे है, एकप्रकारके स्वरूपमें दो प्रकारकी अपेक्षायें नहीं हैं। मै शुभाशुभभावसे रहित हूँ इसप्रकारके विचारमें लगना भी एक पक्ष है, इससे भी उस पार स्वरूप है, स्वरूप तो पक्षातिक्रांत है यही सम्यग्दर्शनका विषय है अर्थात् उसीके लक्ष्यसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शनका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप क्या है, देहकी किसी क्रियासे सम्यग्दर्शन नहीं होता, जड़ कर्मोंसे नहीं होता, अशुभराग अथवा शुभरागके लक्ष्यसे भी सम्यग्दर्शन नहीं होता और 'मैं पुण्य पापके परिणामोंसे रहित ज्ञायक स्वरूप हूँ' ऐसा विचार भी स्वरूपका अनुभव करानेके लिये समर्थ नहीं है। 'मैं ज्ञायक हूँ' इसप्रकारके विचारमें जो अटका सो वह भेदके विचारमें अटक गया किन्तु स्वरूप तो ज्ञातादृष्टा है उसका अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। भेदके विचारमें अटक जाना सम्यग्दर्शनका स्वरूप नहीं है।

जो वस्तु है वह अपने आप परिपूर्ण स्वभावसे भरी हुई है आत्मा का स्वभाव परकी अपेक्षासे रहित एकरूप है कर्मोंके संबंधसे युक्त हूँ अथवा कर्मोंके संबंधसे रहित हूँ, इसप्रकारकी अपेक्षाओंसे उस स्वभावका लक्ष्य नहीं होता। यद्यपि आत्मस्वभाव तो अबन्ध ही है परन्तु 'मैं अबंध हूँ' इस प्रकारके विकल्पको भी छोड़कर निर्विकल्प ज्ञातादृष्टा निरपेक्ष स्वभावका लक्ष्य करते ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

हे प्रभो! तेरी प्रभुताकी महिमा अंतरंगमें परिपूर्ण है अनादिकाल से उसकी सम्यक् प्रतीतिके विना उसका अनुभव नहीं होता। अनादिकालसे पर लक्ष किया है किंतु स्वभावका लक्ष्य नहीं किया है। शरीरादिमें तेरा सुख नही है, शुभरागमें तेरा सुख नहीं है और 'शुभराग रहित मेरा स्वरूप है' इसप्रकारके भेद विचारमें भी तेरा सुख नहीं है इसलिये उस भेदके विचारमें अटक जाना भी अज्ञानी का कार्य है और उस नय पक्षके भेदका लक्ष्य छोड़कर अभेद ज्ञातास्वभावका लक्ष्य करना सो सम्यग्दर्शन है और उसीमें सुख है। अभेदस्वभावका लक्ष्य कहो, ज्ञातास्वरूपका अनुभव कहो, सुख कहो, धर्म कहो अथवा सम्यग्दर्शन कहो वह सब यही है।

विकल्प रखकर स्वरूपका अनुभव नहीं हो सकता।

अखंडानन्द अभेद आत्माका लक्ष्य नयके द्वारा नहीं होता। कोई किसी महलमें जानेके लिये चाहे जितनी तेजीसे मोटर दौड़ाये किन्तु वह महलके दरवाजे तक ही जा सकती है, मोटरके साथ महलके अन्दर कमरेमें

नहीं घुसा जा सकता। मोटर चाहे जहाँ तक भीतर ले जाय किन्तु अन्तमें तो मोटरसे उतरकर स्वयं ही भीतर जाना पड़ता है, इसीप्रकार नय पक्षके विकल्पोंवाली मोटर चाहे जितनी दौड़ाये 'मैं ज्ञायक हूँ, अभेद हूँ, शुद्ध हूँ, ऐसे विकल्प करे तो भी स्वरूपके आँगन तक ही जाया जा सकता है किन्तु स्वरूपानुभव करते समय तो वे सब विकल्प छोड़ देने ही पड़ते हैं। विकल्प रखकर स्वरूपानुभव नहीं हो सकता। नय पक्षका ज्ञान उस स्वरूपके आँगनमें आनेके लिये आवश्यक है।

"मैं स्वाधीन ज्ञान स्वरूपी आत्मा हूँ, कर्म जड़ है, जड़ कर्म मेरे स्वरूपको नहीं रोक सकते, मैं विकार करूं तो कर्मोंको निमित्त कहा जा सकता है, किन्तु कर्म मुझे विकार नहीं कराते क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न हैं, वे कोई एक दूसरेका कुछ नहीं करते, मैं जड़का कुछ नहीं करता और जड़ मेरा कुछ नहीं करता, जो रागद्वेष होता है उसे कर्म नहीं कराता तथा वह पर वस्तुमें नहीं होता किन्तु मेरी अवस्थामें होता है, वह रागद्वेष मेरा स्वभाव नहीं है, निश्चयसे मेरा स्वभाव राग रहित ज्ञान स्वरूप है" इस प्रकार सभी पहलुओंका (नयों का) ज्ञान पहले करना चाहिये किन्तु जब तक इतना करता है तबतक भी भेदका लक्ष्य है। भेदके लक्ष्यसे अभेद आत्म स्वरूपका अनुभव नहीं हो सकता, तथापि पहले उन भेदोंको जानना चाहिये, जब इतना जानले तब समझना चाहिये कि वह स्वरूपके आँगन तक आया है बादमें जब अभेदका लक्ष्य करता है तब भेदका लक्ष्य छूट जाता है और स्वरूपका अनुभव होता है अर्थात् अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसप्रकार यद्यपि स्वरूपोन्मुख होनेसे पूर्व नयपक्षके विचार होते तो हैं परन्तु वे नयपक्षके कोई भी विचार स्वरूपानुभवमें सहायक तक नहीं होते।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का संबंध किसके साथ है ?

सम्यग्दर्शन निर्विकल्प सामान्य गुण है उसका मात्र निश्चय—अखड स्वभावके साथ ही संबंध है अखंड द्रव्य जो भंग-भेद रहित है वही

सम्यग्दर्शनको मान्य है। सम्यग्दर्शन पर्यायको स्वीकार नहीं करता किन्तु सम्यग्दर्शनके साथ जो सम्यग्ज्ञान रहता है उसका संबंध निश्चय-व्यवहार दोनोंके साथ है। अर्थात् निश्चय-अखण्ड स्वभावको तथा व्यवहारमें पर्याय के जो भंग-भेद होते हैं उन सबको सम्यग्ज्ञान जान लेता है।

सम्यग्दर्शन एक निर्मल पर्याय है किन्तु सम्यग्दर्शन स्वय अपनेको यह नहीं जानता कि मै एक निर्मल पर्याय हूँ। सम्यग्दर्शनका एक ही विषय अखण्ड द्रव्य है, पर्याय सम्यग्दर्शनका विषय नहीं है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन का विषय अखण्ड है और वह पर्यायको स्वीकार नहीं करता तब फिर सम्यग्दर्शनके समय पर्याय कहाँ चली गई ? सम्यग्दर्शन स्वयं पर्याय है, क्या पर्याय द्रव्यसे भिन्न होगई ?

उत्तर—सम्यग्दर्शनका विषय तो अखण्ड द्रव्य ही है। सम्यग्दर्शनके विषयमें द्रव्य गुण पर्यायका भेद नहीं है। द्रव्य गुण पर्यायसे अभिन्न वस्तु ही सम्यग्दर्शनको मान्य है (अभेद वस्तुका लक्ष्य करने पर जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वह सामान्य वस्तुके साथ अभेद होजाती है) सम्यग्दर्शनरूप जो पर्याय है उसे भी सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता एक समय में अभेद परिपूर्ण द्रव्य ही सम्यग्दर्शनको मान्य है, मात्र आत्मा तो सम्यग्दर्शनको प्रतीतिमें लेता है किन्तु सम्यग्दर्शनके साथ प्रगट होनेवाला सम्यग्ज्ञान सामान्य विशेष सबको जानता है। सम्यग्दर्शन पर्यायको और निमित्त को भी जानता है, सम्यग्दर्शनको भी जानने वाला सम्यग्ज्ञान ही है।

श्रद्धा और ज्ञान कब सम्यक् हुये ?

उदय, उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षायिक भाव इत्यादि कोई भी सम्यग्दर्शनका विषय नहीं है क्योंकि वे सब पर्यायें है। सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है। पर्यायको सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता, मात्र वस्तुका जब लक्ष्य किया तब श्रद्धा सम्यक् हुई, साथ ही साथ सम्यक्ज्ञान हुआ, ज्ञान सम्यक् कब हुआ ? ज्ञानका स्वभाव सामान्य-विशेष सबको जानना है जब ज्ञानने सारे द्रव्यको, प्रगट

पर्यायको और विकारको तद्‌वस्थ जानकर इस प्रकारका विवेक किया कि 'जो परिपूर्ण स्वभाव है सो मैं हूँ और जो विकार है सो मै नहीं हूँ' तब वह सम्यक् हुआ। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनरूप प्रगट पर्यायको और सम्यग्दर्शनकी विषयभूत परिपूर्ण वस्तुको तथा अवस्थाकी कर्मोको तद्‌वस्थ जानता है, ज्ञानमें अवस्थाकी स्वीकृति है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन तो एक निश्चयको ही (अभेद स्वरूपको ही) स्वीकार करता है और सम्यग्दर्शनका अविनाभावी (साथ ही रहने वाला) सम्यग्ज्ञान निश्चय और व्यवहार दोनोंको बराबर जानकर विवेक करता है। यदि निश्चय व्यवहार दोनोंको न जाने तो ज्ञान प्रमाण (सम्यक्) नहीं हो सकता। यदि व्यवहारको लक्ष्य करे तो दृष्टि खोटी (विपरीत) ठहरती है और जो व्यवहारको जाने ही नहीं तो ज्ञान मिथ्या ठहरता है। ज्ञान निश्चय व्यवहारका विवेक करता है इसलिये वह सम्यक् है (समीचीन है) और दृष्टि व्यवहारके लक्ष्यको छोड़कर निश्चयको स्वीकार करे तो सम्यक् है।

सम्यग्दर्शन का विषय क्या है? और मोक्षका परमार्थ कारण कौन है?

सम्यग्दर्शनके विषयमें मोक्ष पर्याय और द्रव्यसे भेद नहीं है, द्रव्य ही परिपूर्ण है वह सम्यग्दर्शनको मान्य है। बन्ध मोक्ष भी सम्यग्दर्शनको मान्य नहीं बन्ध-मोक्षकी पर्याय, साधकदशाका भंगभेद इन सभीको सम्यग्ज्ञान जानता है।

सम्यग्दर्शनका विषय परिपूर्ण द्रव्य है, वही मोक्षका परमार्थ कारण है पंचमहाव्रतादिको अथवा विकल्पको मोक्षका कारण कहना सो स्थूल व्यवहार है और सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्ररूप साधक अवस्थाको मोक्ष-का कारण कहना सो भी व्यवहार है क्योंकि उस साधक अवस्थाका भी जब अभाव होता है तब मोक्ष दशा प्रगट होती है। अर्थात् वह अभावरूप कारण है इसलिये व्यवहार है।

त्रिकाल अखण्ड वस्तु ही निश्चय मोक्षका कारण है किंतु परमार्थ : तो वस्तुमें कारण कार्यका भेद भी नहीं है, कार्य कारणका भेद भी व्यवहार है। एक अखण्ड वस्तुमें कार्य कारणके भेदके विचारसे विकल्प होता है इसलिये वह भी व्यवहार है। तथापि व्यवहारमें भी कार्य कारण भेद हैं अवश्य। यदि कार्य कारण भेद सर्वथा न हों तो मोक्षदशाको प्रगट करनेके लिये भी नहीं कहा जा सकता। इसलिये अवस्थामें साधक साध्यका भेद है, परन्तु अभेदके लक्ष्यके समय व्यवहारका लक्ष्य नहीं होता क्योंकि व्यवहारके लक्ष्यमें भेद होता है और भेदके लक्ष्यमें परमार्थ-अभेद स्वरूप लक्ष्यमें नहीं आता, इसलिये सम्यग्दर्शनके लक्ष्यमें अभेद ही होते, एकरूप अभेद वस्तु ही सम्यग्दर्शनका विषय है।

सम्यग्दर्शन ही शांतिका उपाय है।

अनादिसे आत्माके अखण्ड रसको सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं जाना, इसलिये परमें और विकल्पमें जीव रसको मान रहा है। परन्तु मैं अखंड एकरूप स्वभाव हूँ उसीमें मेरा रस है। परमें कहीं भी मेरा रस नहीं है। इसप्रकार स्वभावदृष्टिके बलसे एकबार सबको नीरस बनादे, जो शुभ विकल्प उठते हैं वे भी मेरी शांतिके साधक नहीं हैं। मेरी शांति मेरे स्वरूप में है, इसप्रकार स्वरूपके रसानुभवमें समस्त संसारको नीरस बनादे तो तुझे सहजानन्द स्वरूपके अमृत रसकी अपूर्व शांतिका अनुभव प्रगट होगा, उसका उपाय सम्यग्दर्शन ही है।

संसारका अभाव सम्यग्दर्शनसे ही होता है

अनन्तकालसे अनंत जीव संसारमें परिभ्रमण कर रहे हैं और अनन्तकालमें अनंत जीव सम्यग्दर्शनके द्वारा पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति करके मुक्तिको प्राप्त हुये हैं इस जीवने संसार पक्ष तो अनादिसे ग्रहण किया है परन्तु सिद्धका पक्ष कभी ग्रहण नहीं किया, अब सिद्धका पक्ष करके अपने सिद्ध स्वरूपको जानकर संसारके अभाव करनेका अवसर आया है और उसका उपाय एक मात्र सम्यग्दर्शन ही है।

(४४) धर्म साधन

धर्मके लिये प्रधानतया दो वस्तुओंकी आवश्यक्ता है। १—क्षेत्र विशुद्धि, २—यथार्थ बीज।

क्षेत्र विशुद्धि—संसारके अशुभ निमित्तोंके प्रति जो आसक्ति है उसमें मन्दता, ब्रह्मचर्यका रंग, कषायकी मदता, देव, गुरुके प्रति भक्ति तथा सत्की रुचि, आदिका होना क्षेत्र विशुद्धि है। वह प्रथम होती ही है।

किन्तु केवल क्षेत्र विशुद्धिसे ही धर्म नहीं होता। क्षेत्रविशुद्धि तो प्रत्येक जीवने अनेकबार की है, क्षेत्रविशुद्धि (यदि भान सहित हो) तो बाह्यसाधन है, व्यवहार साधन है।

पहले क्षेत्रविशुद्धिके बिना कभी भी धर्म नहीं हो सकता। किन्तु क्षेत्रविशुद्धिके होनेपर भी यदि यथार्थ बीज न हो तो भी धर्म नहीं हो सकता।

यथार्थ बीज—मेरा स्वभाव निरपेक्ष बन्ध मोक्षके भेदसे रहित, स्वतंत्र, पर निमित्तके आश्रयसे रहित है; स्वाश्रय स्वभावके बल पर ही मेरी शुद्धता प्रगट होती है, इस प्रकारसे अखंड निरपेक्ष स्वभावकी निश्चय श्रद्धाका होना सो यथार्थ बीज है। वही अन्तर साधन अर्थात् निश्चय साधन है। जीवने कभी अनादिकालमें स्वभावकी निश्चय श्रद्धा नही की है। उस श्रद्धाके बिना अनेक बार बाह्य साधन किये, फिर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ।

इसलिये धर्ममें मुख्य साधन है यथार्थ श्रद्धा, और जहाँ यथार्थ श्रद्धा होती है वहाँ बाह्य साधन सहज होते हैं। बिना यथार्थ श्रद्धाके बाह्य साधनसे कभी धर्म नहीं होता।

इसलिये प्रत्येक जीवका प्रथम कर्तव्य आत्म स्वरूपकी यथार्थ श्रद्धा करना है। अनन्त कालमें दुर्लभ नर देह, और फिर उसमें उत्तम

जैनधर्म तथा सत् समागमका योग मिलने पर भी यदि स्वभाव वलसे सत्की श्रद्धा नहीं की तो फिर चौरासीके जन्म मरणमें ऐसी उत्तम नर देह मिलना दुर्लभ है।

आचार्य महाराज कहते है कि एकवार स्वाश्रयकी श्रद्धा करके इतना तो कह कि मेरा स्वभावको 'परका आश्रय नहीं है,' बस, इस प्रकार स्वाश्रयकी श्रद्धा करनेसे तेरी मुक्ति निश्चित है। सभी आत्मा प्रभु हैं। जिसने अपनी प्रभुताको मान लिया वह प्रभु हो गया।

इसप्रकार प्रत्येक जीवका सर्व प्रथम कर्तव्य सत्समागम होने पर स्वभावकी यथार्थ श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) करना है। निश्चयसे यही धर्म (मुक्ति) का प्रथम साधन है।

बन्ध और मोक्षके कारण

परद्रव्यके चितन वही वन्धके कारण हैं और केवल विशुद्ध स्वद्रव्यके चिंतन ही मोक्षके कारण हैं।

[तत्त्वज्ञान तरंगिणी १५–१६]

सम्यक्त्वी सर्वत्र सुखी

सम्यग्दर्शन सहित जीवका नरकवास भी श्रेष्ठ है, परन्तु सम्यग्दर्शन रहित जीवका स्वर्गमे रहना भी शोभा नहीं देता, क्योंकि आत्मभान विना स्वर्गमें भी वह दुःखी है। जहाँ आत्मज्ञान है वहीं सच्चा सख है।

[सारसमुच्चय ३९]

(४५) निश्चयश्रद्धा-ज्ञान कैसे प्रगट हो ?

अनेक जीव दयारूप परिणामों वाले होते है, तथापि वे शास्त्रोंका सच्चा अर्थ नहीं समझ सकते; इसलिये दयारूप परिणाम शास्त्रोंके समझनेमें कारण नहीं हैं। इसीप्रकार मौन धारण करें, सत्य बोलें और ब्रह्मचर्य आदिके परिणाम करें फिर भी शास्त्रका आशय नहीं समझ सकते; अर्थात् यहाँ ऐसा बताया है कि आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वभावका आश्रय ही सम्यग्ज्ञानका उपाय है, कोई भी मंद—कषायरूप परिणाम सम्यग्ज्ञानका उपाय नहीं है।

इस समय शुभपरिणाम करनेसे पश्चात् सम्यग्ज्ञानका उपाय हो जायेगा, यह मान्यता मिथ्या है। अनंतवार शुभ परिणाम करके स्वर्गमें जानेवाले जीव भी शास्त्रोंके तात्पर्यको नहीं समझ पाये। तथा वर्तमानमें भी ऐसे अनेक जीव दिखाई देते है जो कि वर्षोंसे शुभपरिणाम, मंदकषाय' तथा व्रत-प्रतिमा आदि करने पर शास्त्रके सच्चे अर्थको नहीं जानते, अर्थात् उनके ज्ञानकी व्यवहारशुद्धि भी नहीं है, अभी ज्ञानकी व्यवहार शुद्धिके बिना जो चारित्रकी व्यवहारशुद्धि करना चाहते है, वे जीव ज्ञानके पुरुषार्थको नहीं समझे।

ऐसे ही दयादिके भावरूप मंद-कषायसे भी व्यवहारशुद्धि नहीं होती। और ज्ञानकी व्यवहारशुद्धिसे आत्मज्ञान नहीं होता। आत्माके आश्रयसे ही सम्यग्ज्ञान होता है, यही धर्म है। इस धर्मकी प्रतीतिके बिना तथा वास्तविक व्यवहारज्ञान न होनेसे-शास्त्रके सच्चे अर्थको न समझ ले तबतक जीवके सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। दयादिरूप मंदकषायके परिणामोंसे व्यवहार ज्ञानकी भी शुद्धि नहीं होती।

बाह्य-क्रियाओं पर परिणामोंका आधार नहीं है। कोई द्रव्यलिगी मुनियोंके साथ रहता हो और किसीके बाह्यक्रिया बराबर होती हो तथापि एक नवमें ग्रैवेयकमें जाता है और दूसरा पहले स्वर्गमें, क्योंकि-परिणामोंमें कषायकी मंदता बाह्यक्रियासे नहीं होती।

जो शुभपरिणाम अंतरंगमें करता है उससे व्यवहार ज्ञानकी शुद्धि नहीं होती किन्तु वह यथार्थ ज्ञानके अभ्याससे ही होती है।

ज्ञानकी व्यवहारशुद्धिसे भी आत्मस्वभावका सम्यग्ज्ञान नहीं होता, किन्तु अपने परमात्मस्वभावका रागरहितरूपसे अनुभव करे तभी सम्यक्ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञानमें पराश्रय नहीं स्वभावका ही आश्रय है।

वस्तुस्वभाव ही स्वतंत्र और परिपूर्ण है, उसे किसीके आश्रयकी आवश्यक्ता नहीं है। स्वभावके आश्रयसे ही सम्यग्दर्शन होता है। नवमें-ग्रैवेयकमें जानेवाले जीवके देव-शास्त्र-गुरुकी यथार्थ श्रद्धा, ग्यारह अंगका ज्ञान और पंचमहाव्रतोंका पालन ऐसे परिणाम होने पर भी चैतन्य स्वभाव की श्रद्धा करनेके लिये वे परिणाम काममें नहीं आते। स्वभावके लक्षपूर्वक मदकषाय हो तो वहाँ मंदकषायकी मुख्यता नहीं रही किंतु शुद्धस्वभावके लक्ष्यकी ही मुख्यता है। स्वभावकी श्रद्धाको व्यवहार-रत्नत्रयकी सहायता नहीं होती।

कषायकी मंदतारूप आचरणके द्वारा श्रद्धा-ज्ञानका व्यवहार नहीं सुधरता। शास्त्रमें जड़-चैतन्यकी स्वाधीनता, उपादान-निमित्तकी स्वतंत्रता बतलाई है जो यह नहीं समझता उसके ज्ञानका व्यवहार भी नहीं सुधरा है। चैतन्यस्वभावका ज्ञान तो व्यवहारज्ञानसे भी पार है। आत्मज्ञान सो परमार्थज्ञान है। और शास्त्रके आशयका यथार्थ ज्ञान सो ज्ञानका व्यवहार है। जिसके ज्ञानका व्यवहार भी ठीक नहीं है उसके परमार्थज्ञान कैसा ?

बाह्यक्रिया तो ज्ञानका कारण नहीं है, किंतु जो अंतरंगमें व्यवहार आचरणके मंदकषायरूप परिणाम होते हैं वे परिणाम भी शास्त्रज्ञानके कारण नहीं होते। और स्वभावका ज्ञान तो शास्त्रज्ञानसे भी पार है शास्त्रज्ञानके रागके अवलंबनको दूर करके जब परमात्मस्वभावका अनुभव करता है उस समय सम्यक् श्रद्धा होती है। जिस समय श्रद्धामें रागका नाश करके निज परमात्मस्वभावको अपना जाना उस समय जीवको परमात्मा ही उपादेय है। आत्मा तो त्रिकाल परमात्मा ही है, किंतु जब राग का आलम्बन

रहित होकर उसकी प्रतीति करता है तब वह उपादेयरूप होता है, वह रागके द्वारा नहीं जाना जाता।

कितनी भक्तिसे आत्मा समझमें आता है? भक्तिसे आत्मा नहीं समझा जा सकता। कितने उपवासोंसे आत्मा समझमें आयेगा? उपवाससे शुभपरिणामोंसे आत्मा समझमें नहीं आता। कोई भी शुभपरिणाम सम्यक्ज्ञानकी रीति नहीं है, किन्तु जब स्वभावके लक्ष्यसे यथार्थ शास्त्रका अर्थ समझता है तब ज्ञानका व्यवहार सुधरता है पहले ज्ञानके आचरण सुधरे बिना चारित्रके आचरण नहीं सुधरते। यदि सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की रीतिको ही नहीं जाने तो वह कहाँसे होगा? अनेक जीव आचरणके परिणामोंको सुधार कर उसे ज्ञानका उपाय मानते हैं वे जीव सम्यग्ज्ञानके उपायको नहीं समझे है, व्यवहारका निषेध करके परमार्थ स्वभावको समझे बिना व्यवहारका भी सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता।

कषायकी मन्दताके द्वारा जो मिथ्यात्वकी मन्दता होती है उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं कहते। किंतु सच्ची समझकी ओरके प्रयत्नसे ही व्यवहार सम्यक्त्व होता है। किंतु यह व्यवहार–सम्यक्त्व भी निश्चय सम्यग्दर्शनका कारण नहीं है। यदि देव–गुरु–शास्त्रके लक्षमें ही रुक जांये तो सम्यग्दर्शन नहीं होगा। जिस समय चिन्मात्र स्वभावके आश्रयसे श्रद्धा ज्ञान करता है उस समय ही सम्यकश्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है। चैतन्य की श्रद्धा चैतन्यके द्वारा ही होती है–रागके द्वारा या परके द्वारा नही होती।

बाह्य क्रियाओंके आश्रयसे कषायकी मन्दता नहीं होती। और कषायकी मन्दतासे पर्यायकी स्वतंत्रताकी श्रद्धा नहीं होती।

दयादिके परिणामोंका पुरुषार्थ तो करते हैं, किंतु वर्तमान पर्याय स्वतंत्र है ऐसी व्यवहारश्रद्धाका उपाय उससे भिन्न प्रकारका है। पर-जीवके कारण या पर द्रव्योंके कारण मेरे दयादिरूप परिणाम हुए है, अथवा कर्मके कारण रागादि हुए–ऐसी मान्यतापूर्वक कषायकी मन्दता करे किन्तु उस मन्दकषायमें व्यवहार–श्रद्धा करनेकी शक्ति नहीं है, तो फिर उससे सम्यग्दर्शन तो हो ही कैसे सकता है।

परके कारण मेरे परिणाम नहीं होते, मैं अपनेसे ही कषायकी मन्दता करता हूँ, परके कारण या कर्मके कारण मेरी पर्यायमें रागादि नहीं होते–ऐसी पर्यायकी स्वतंत्रताकी श्रद्धा सो व्यवहार–श्रद्धा है। मिथ्यात्वके रसको मन्द करके पर्यायकी स्वतंत्रताकी श्रद्धा करनेकी जिसकी शक्ति नहीं है उस जीवके सम्यग्दर्शन नहीं होता।

यदि इस समय पर्यायकी स्वतंत्रता माने तो मिथ्यात्व मन्द होता है। और उसको व्यवहार–सम्यक्त्व कहते हैं। मात्र कषायकी मन्दताके द्वारा मिथ्यात्वकी मन्दता होती है उसे व्यवहार–सम्यक्त्व नहीं कहते, क्योंकि श्रद्धा और चारित्रकी पर्याय भिन्न-भिन्न है।

जो जीव जड़की क्रिया अथवा कर्मको लेकर आत्माके परिणाम मानते हैं उन्होंने परिणामोंकी स्वतंत्रता भी नहीं मानी है। यदि वे शुभभाव करें तो भी उनके मिथ्यात्वकी मन्दता यथार्थ रीतिसे नहीं होती, और वे द्रव्यलिंगीसे भी छोटे हैं। जिनके अशुभ परिणाम होते हैं ऐसे जीवोंकी अभी बात नहीं है; किन्तु यहाँ तो मन्दकषाय वाले जीवोंकी बात है, जो जीव अपने परिणामोंकी स्वतंत्रताको नहीं जानते उनके मन्दकषाय होनेपर भी व्यवहारश्रद्धा तक नहीं होती।

जो जीव पर्यायकी स्वतंत्रता मानते हुए भी पर्यायबुद्धिमें अटके हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि हैं।

जो अंशतः स्वतंत्र है ऐसी व्यवहारश्रद्धा करनेकी शक्ति कषायकी मन्दतामें नहीं है। मैं अपने परिणामोंमें अटका हूँ इसीसे विकार होता है–ऐसी अंशतः स्वतंत्रता माने तो स्वयं उसका निषेध करे। किंतु यदि ऐसा माने कि पर विकार कराता है, तो स्वयं कैसे उसका निषेध कर सकता है? निमित्त या संयोगसे मेरे परिणाम नहीं होते, इसप्रकार अंशतः स्वतंत्रता करके त्रिकाल स्वभावमें उस अंशका निषेध करना सो ही निश्चयश्रद्धा–सम्यग्दर्शन है।

कषायकी मन्दता वह उस समयकी पर्यायका स्वतंत्र कार्य है,

तथापि जो जीव देव, गुरु, शास्त्रसे लाभ और कर्मसे हानि मानते हैं उनके व्यवहार श्रद्धा भी नहीं है, तब वे अंशका निषेध करके त्रिकाली स्वभावकी श्रद्धा क्यों करेंगे? कषायकी मन्दता तो अभव्य भी अनन्तबार करते हैं। पर्याय स्वतंत्र है-ऐसी आंशिक स्वतंत्रताको स्वीकार किये बिना मिथ्यात्वका रस भी यथार्थरूपसे मन्द नहीं होता।

प्रश्न—कषायकी मन्दता या मिथ्यात्व-रसकी मन्दता इन दोनोंमें से कोई भी मोक्षमार्गरूप नहीं है, तो उनमें क्या अन्तर है?

उत्तर—यहां दोनोंके पुरुषार्थका अन्तर बतलाना है। किन्तु पर्याय की स्वतंत्रता स्वीकार करनेसे कहीं मोक्षमार्ग नहीं होजाता। पर्यायकी स्वतंत्रता भी अनंत बार मानी तथापि सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। किन्तु यहां व्यवहारसे उन दोनोंमें जो अन्तर है वह बतलाना है।

कषायकी मन्दता करनेसे कहीं व्यवहारश्रद्धा नहीं होती, क्योंकि व्यवहार-श्रद्धाका पुरुषार्थ उससे भिन्न है। यद्यपि दोनों पुण्य और मिथ्यात्व हैं किन्तु मिथ्यात्वके रसकी अपेक्षासे उसमें अन्तर है।

जिसप्रकार कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्रकी श्रद्धा और सुदेवादि की श्रद्धा दोनों मिथ्यात्व हैं तथापि कुदेवादिकी श्रद्धामें तीव्र मिथ्यात्व है और सुदेवादिकी श्रद्धामें मन्द, इसीप्रकार यहां भी समझना चाहिये। दो जीव शुभभाव करते हैं, उनमेंसे एक अपनी पर्यायको स्वतंत्र नहीं मानता तथा दूसरा शास्त्रादिके ज्ञानसे पर्यायकी स्वतंत्रता मानता है, उनमें पहले जीवको व्यवहारज्ञान भी यथार्थ नहीं है, दूसरे जीवको व्यवहारज्ञान है। इस अपेक्षासे दोनोंके पुरुषार्थमें अन्तर समझना चाहिये। परमार्थसे दोनों समान हैं।

पहले पर्यायको स्वतंत्र समझे बिना कौन त्रिकाली स्वभावकी ओर उन्मुख होगा? व्यवहार-श्रद्धा मोक्षमार्ग नहीं है किन्तु पर्यायकी स्वतंत्रता का ज्ञान अपने शुद्ध चैतन्य स्वभावकी ओर उन्मुख होनेके लिये प्रयोजनभूत है। जो वर्तमान पर्यायकी स्वतंत्रता को नहीं मानता वह सर्व

विभावोंसे रहित चैतन्यको कैसे मानेगा ? जो रागकी स्वतंत्रता नहीं मानता वह राग रहित स्वभावको भी नहीं मानेगा।

यहाँ पर यह बताया है कि मात्र कषायकी मन्दतामें अनेक जीव लग जाते हैं, किंतु उन्हें व्यवहारश्रद्धा तक नहीं होती, उनके मिथ्यात्वरस की यथार्थ मन्दता नहीं होती। जो जीव पर्यायकी स्वतंत्रता मानते है उनके कषायकी मन्दता तो सहज ही होती है, कितु वह मोक्षमार्ग नहीं है। जब अपने स्वभावको स्व से परिपूर्ण और सर्व विभावोंसे रहित माने तथा पर्याय के लक्ष्यको गौण करके ध्रुव चैतन्यस्वभावका आश्रय ले उस समय स्वभाव की श्रद्धासे ही सम्यग्दर्शन होता है।

आजकलके कुछ त्यागी-व्रतधारियोंकी व्यवहारश्रद्धा भी सच्ची नहीं है, जो यह नहीं जानते कि अपने परिणाम स्वतंत्र हैं उनके तो दर्शन-शुद्धि का व्यवहार भी यथार्थ नहीं है मिथ्यात्वकी मन्दता भी वास्तविक नहीं है। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, वह किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। त्यागादिके शुभ परिणामों द्वारा वस्तुस्वरूपकी साधना नहीं हो सकती।

त्रैकालिक स्वभाव स्वतंत्र है, उसका प्रत्येक अंश स्वतंत्र है, मेरे त्रिकाल स्वभावमें रागादि परिणाम नहीं हैं इसप्रकार स्वभावदृष्टि करके पर्यायबुद्धिको छोड़दे तभी सम्यग्दर्शन होता है, और मोक्षमार्ग भी तभी होता है। द्रव्यलिंगी जीव पर्यायको तो स्वतंत्र मानते है किन्तु पर्यायबुद्धि को नहीं छोड़ते, त्रिकाली स्वभाव का आश्रय नहीं करते, इसीसे उनके मिथ्यात्व रहता है। वे जीव शास्त्रमें लिखा हुआ अधिक मानते हैं, किन्तु स्व में स्थिर नहीं होते। पर लक्षसे पर्यायकी स्वतंत्रता मानते हैं, किंतु यथार्थतया स्वभावमें रागादि भी नहीं है ऐसी श्रद्धाके बिना परमार्थसे आंशिक स्वतंत्रताकी मान्यता भी नहीं कही जाती।

'कर्म विकार कराते हैं अथवा निमित्ताधीन होकर विकार करना पड़ता है' इत्यादि प्रकारसे जिन्होंने पर्यायको ही पराधीन माना है उन जीवोंने तो उपादान-निमित्तको ही एकमेक माना है। निमित्तको लेकर

अपनी पर्याय न माने, किन्तु ऐसा माने कि यह स्वतंत्र है, तथापि पर्यायमें जो विकार होता है उसे स्वरूप मानकर अटक जाये तो वह भी मिथ्यात्व है।

जो यह मानते है कि परद्रव्योंकी क्रियासे अपने परिणाम होते हैं, उनके मन्दकषाय होनेपर भी मिथ्यात्वका रस यथार्थतया मन्द नहीं पड़ता, तथा शास्त्रज्ञान भी सच्चा नहीं होता।

मेरी पर्याय परद्रव्यसे नहीं होती किन्तु स्वतंत्र मुझसे ही होती है-इस प्रकार पर्यायकी स्वतंत्रताको माने तब मिथ्यात्वका रस मन्द होता है, और सच्चा शास्त्रज्ञान भी होता है, उसे व्यवहार-श्रद्धा-ज्ञान कहते हैं, वहाँ कषायकी मंदता होती ही है। किन्तु अभी पर्यायदृष्टि है इसलिये सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जो त्रैकालिक चैतन्यस्वभाव है वह अंशमात्र (पर्याय जितना) नहीं है, स्वभावसे परिपूर्ण और विभावसे रहित है, ऐसी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है, वही अपूर्व पुरुषार्थ, एवं मोक्षमार्ग है। मन्द कषायका पुरुषार्थ अपूर्व नहीं है, वह तो जीवने अनन्तबार किया है, इसलिये उसे सीखना नहीं पड़ता क्योंकि वह कोई नवीन नही है। किन्तु जीवने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका उपाय कभी भी नहीं किया इसलिये वही अपूर्व है और वही कल्याणका कारण है।

जीवोंने श्रद्धा और ज्ञानका व्यवहार तो अनन्तबार सुधारा है, तथापि निश्चयश्रद्धा, ज्ञानके अभावके कारण उनका हित नहीं हुआ। अधिकांश लोग धर्मके नामसे बाह्य क्रियाकांडमें ही अटक गये हैं, और उनके व्यवहारश्रद्धा, ज्ञान भी यथार्थ नहीं होता, इसलिये यहां यथार्थ समझाया है कि व्रत प्रतिमा अथवा दयादानादिके शुभ परिणामोंसे व्यवहारश्रद्धा-ज्ञान नहीं होता वे उसके उपाय नहीं हैं। व्यवहारश्रद्धा-ज्ञान कैसे होता है तथा सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान कैसे प्रगट होता है वह यहां पर समझाया है।

(४६) सम्यक्त्वकी महिमा

श्रावक क्या करे ?

हे श्रावक ! संसारके दुःखोंका क्षय करनेके लिये परम शुद्ध सम्यक्त्वको धारण करके और उसे मेरु पर्वत समान निष्कंप रखकर उसीको ध्यानमें ध्याते रहो ! [मोक्षपाहुड–८६]

सम्यक्त्वसे ही सिद्धि

अधिक क्या कहा जाय ? भूतकालमें जो महात्मा सिद्ध हुए हैं और भविष्य कालमें होंगे वह सब इस सम्यक्त्वका ही माहात्म्य है–ऐसा जानो । [मोक्षपाहुड–८८]

शुद्ध सम्यग्दृष्टिको धन्य है !

सिद्धि कर्ता—ऐसे सम्यक्त्वको जिसने स्वप्नमें भी मलिन नहीं किया है उस पुरुषको धन्य है, वह सुकृतार्थ है, वही वीर है, और वही पण्डित है । [मोक्षपाहुड–८९]

सम्यक्त्वके प्रतापसे पवित्रता

श्री गणधर देवोंने सम्यग्दर्शन सम्पन्न चंडालको भी देवसमान कहा है । भस्ममें छुपी हुई अग्निकी चिनगारीकी भांति वह आत्मा चांडाल देहमें विद्यमान होने पर भी सम्यग्दर्शनके प्रतापसे वह पवित्र होगया है इससे वह देव है । [रत्नकरण्ड श्रावकाचार २८]

सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी श्रेष्ठ है

जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है वह मोक्षमार्गमें स्थित है, परन्तु मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्गी नहीं है; इसलिये मिथ्यादृष्टि मुनिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ भी श्रेष्ठ है । [रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३३]

जीव को कल्याणकारी कौन ?

तीनकाल और तीन लोकमें भी प्राणियोंको सम्यक्त्वके समान

अन्य कोई श्रेयरूप नहीं है और मिथ्यादर्शनके समान अन्य कोई अहित-रूप नहीं है। [रत्नकरण्ड श्रावकाचार ३४]

सर्व गुणोंकी शोभा सम्यग्दर्शन से है

जिसप्रकार नगरकी शोभा दरवाजोंसे है, मुखकी शोभा आँखोंसे है, और वृक्षकी स्थिरता मूलसे है उसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यकी शोभा सम्यग्दर्शनसे है। [भगवती आराधना पृष्ठ ७४०]

शांत भाव, ज्ञान, चारित्र और तप–यह सब यदि सम्यग्दर्शन रहित हों तो पुरुषको पत्थरकी भांति बोझ समान है, परन्तु यदि उनके साथ सम्यग्दर्शन हो तो वे महामणि समान पूज्य हैं।

[आत्मानुशासन १५]

लक्ष चौरासी योनिमां भमियो काल अनंत;
पण समकित तें नव लह्युं, ए जाणो निर्भ्रांत।

[योगसार २५]

यह जीव अनादिकालसे चौरासी लाख योनियोंमें भटक रहा है, लेकिन वह कभी सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं हुआ,—इसप्रकार हे जीव! तू निःसंदेह जान।

चार गति दुःखथी डरे, तो तज सौ परभाव;
शुद्धातम चिंतन करी, ले शिवसुखनो लाभ।

[योगसार ५]

हे जीव! यदि तू चार गतिके भ्रमणसे डरता हो तो परभावोंका त्याग कर। और निर्मल आत्माका ध्यान कर। जिससे तुझे शिवसुख की प्राप्ति हो।

निजरूप जो नथी जाणतो, करे पुण्य बस पुण्य;
भमे तो य संसारमां शिवसुख कदी न थाय।

[योगसार १५]

हे जीव! यदि तू आत्माको न जाने और मात्र पुण्य-पुण्य ही करता रहेगा तो भी तू सिद्धि सुखको प्राप्त नहीं कर सकेगा। किन्तु पुनः पुनः संसारमें परिभ्रमण करेगा।

निज दर्शन बस श्रेष्ठ है, अन्य न किंचित् मान;
हे योगी! शिव हेतु अे निश्चयथी तुं जाण।

[योगसार-१६]

हे योगी! एक परम आत्म दर्शन ही मोक्षका कारण है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मोक्षका कारण नहीं है—ऐसा तू निश्चयसे समझ!

गृह कार्य करते हुए, हेयाहेयका ज्ञान;
ध्यावे सदा जिनेश पद, शीघ्र लहे निर्वाण।

[योगसार-१८]

गृह-व्यवहारमें रहने पर भी जो भव्य जीव हेय-उपादेयको समझता है और जिन भगवानको निरंतर ध्याता है वह शीघ्र निर्वाणको प्राप्त होता है।

जिनवर ने शुद्धात्ममां, किंचित् भेद न जाण;
मोक्षार्थे हे योगीजन! निश्चयथी ए मान।

[योगसार-२०]

मोक्ष प्राप्त करनेके लिये हे योगी! शुद्धात्मा और जिन भगवानमें किंचित् भी भेद न समझो!—इसप्रकार निश्चयसे मानो!

ज्यां लगी एक न जाणियो परम पुनीत शुद्ध भाव;
मूढ तणा व्रत-तप सहु, शिव हेतु न कहाय।

[योगसार-२९]

जब तक एक परम शुद्ध पवित्र भावका ज्ञान नहीं होता तब तक

मूढ लोगोंके जो व्रत, तप, संयम और मूल गुण हैं वे मोक्षका कारण नहीं कहलाते।

धन्य अहो भगवंत बुध, जे त्यागे पर भाव;
लोकालोक प्रकाशकर, जाणे विमल स्वभाव ॥६४॥
विरला जाणे तत्त्वने, वली सांभले कोई,
विरला ध्यावे तत्त्वने, विरला धारे कोई ॥६६॥

[योगसार]

अहो! उन भगवान ज्ञानियोंको धन्य है कि जो परभावका त्याग करते हैं और लोकालोक प्रकाशक—ऐसे आत्माको जानते हैं।

विरले ज्ञानीजन ही तत्त्वको जानते हैं, विरले जीव ही तत्त्वका श्रवण करते हैं, विरले जीव ही तत्त्वका ध्यान करते हैं और विरले जीव ही तत्त्वको अंतरमें धारण करते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीवने दुर्गति गमन न थाय;
कदी जाय तो दोष नहिं, पूर्व कर्म क्षय थाय।

[योगसार-८८]

सम्यग्दृष्टि जीव दुर्गतिमें नहीं जाते। (पूर्वबद्ध आयुके कारण) कदाचित् जायें, तथापि वह उनके सम्यक्त्वका दोष नहीं है, परन्तु उल्टा पूर्व कर्मोंका क्षय ही करते हैं।

आत्मस्वरूपे जे रमे, तजी सकल व्यवहार;
सम्यग्दृष्टि जीव ते, शीघ्र करे भवपार।

[योगसार-८९]

जो सर्व व्यवहारको छोड़कर आत्मस्वरूपमें रमणता करते हैं वे सम्यग्दृष्टि जीव हैं और वे शीघ्र ही संसार-सागरसे पार हो जाते हैं।

जे सिद्ध्या ने सिद्धशे, सिद्ध थता भगवान;

ते आतमदर्शन थकी, एम जाण निर्भ्रांत।

[योगसार-१०७]

जो सिद्ध होगये हैं, भविष्यमें होंगे, और वर्तमानमें होरहे हैं—वे सब निश्चयसे आत्मदर्शन (सम्यग्दर्शन) द्वारा ही सिद्ध होते हैं—ऐसा निःशंकतया जानो!

श्री जिनेन्द्रदेव-कथित मुक्तिमार्ग

सम्यग्दर्शन-सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र-इन तीन स्वरूप है; उसीसे संवर-निर्जरारूप क्रिया होती है। [तत्त्वानुशासन गा० ८, २४]

सर्व दुःखोंकी परम-औषधि

जो प्राणी कषायके आतापसे तप्त हैं, इन्द्रियविषयरूपी रोगसे मूर्च्छित हैं और इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोगसे खेद खिन्न हैं—उन सब के लिये सम्यक्त्व परम हितकारी औषधि है। [सारसमुच्चय-३८]

सम्यक्त्वी सर्वत्र सुखी

सम्यग्दर्शन सहित जीवका नरकवास भी श्रेष्ठ है, परन्तु सम्यग्दर्शन रहित जीवका स्वर्गमें रहना भी शोभा नहीं देता, क्योंकि आत्मभान बिना स्वर्गमें भी वह दुःखी है। जहाँ आत्मज्ञान है वहीं सच्चा सुख है। [सारसमुच्चय-३९]

निर्वाण और परिभ्रमण

जो जीव सम्यग्दर्शनसे युक्त है, उस जीवको निश्चित ही निर्वाण का संगम होता है। और मिथ्यादृष्टि जीवको सदैव संसारमें परिभ्रमण होता है। [सारसमुच्चय-४१]

कौन भवदुःखको नाश करता है?

सम्यक्त्व भावकी शुद्धि द्वारा जो जीव विषयोंके संगसे रहित है और कषायोंका विजयी है, वही जीव भवभयके दुःखोंको नष्ट कर देता है।

[सारसमुच्चय-५०]

तीन लोकका सार

केवल एक आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, इसके अतिरिक्त अन्य सब व्यवहार है, इसलिये हे योगी! एक आत्मा ही ध्यान करने योग्य है, वही तीन लोकमें सार भूत है। [परमात्मप्रकाशः—१—९६]

सम्यक्त्वकी दुर्लभता

काल अनादि है, जीव भी अनादि है और भवसमुद्र भी अनादि है; परन्तु अनादि कालसे भव समुद्रमें गोते खाते हुए इस जीवने दो वस्तुएँ कभी प्राप्त नहीं कीं—एक तो श्री जिनवर स्वामी और दूसरा सम्यक्त्व।

[परमात्म प्रकाश–२-१४३]

ज्ञान–चारित्रकी शोभा सम्यक्त्वसे ही है

विशेष ज्ञान या चारित्र न हो, तथापि यदि अकेला सम्यग्दर्शन ही हो तो भी वह प्रशंसनीय है; परन्तु मिथ्यादर्शनरूपी विषसे दूषित हुए ज्ञान या चारित्र प्रशंसनीय नहीं है। [ज्ञानार्णव अ० ६ गा० ५५]

भवक्लेश हलका करनेकी औषधि

सूत्रज्ञ आचार्यदेवों ने कहा है कि अति अल्प यम-नियम-तपादि हों, तथापि यदि वे सम्यग्दर्शन सहित हों तो भव समुद्रके क्लेशका भार हलका करनेके लिये वह औषधि है। [ज्ञानार्णव अ० ६ गा० ५६]

सम्यग्दृष्टि मुक्त है

श्री आचार्य देव कहते हैं कि—जिसे दर्शनकी विशुद्धि होगई है वह पवित्र आत्मा मुक्त ही है—ऐसा हम मानते हैं; क्योंकि दर्शन शुद्धिको ही मोक्षका मुख्य कारण कहा गया है। [ज्ञानार्णव अ० ६ गा० ५७]

सम्यग्दर्शनके बिना मुक्ति नहीं है

जो ज्ञान और चारित्रके पालनमें प्रसिद्ध हुए हैं ऐसे जीव भी इस जगतमें सम्यग्दर्शनके बिना मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते।

[ज्ञानार्णव अ० ६ गा० ५८]

भेदविज्ञानसे ही सिद्धि

यह अपना शुद्ध चैतन्य स्वभाव भेदज्ञानके विना कभी कहीं कोई भी तपस्वी या शास्त्रज्ञ प्राप्त नहीं कर सके हैं। भेद ज्ञानसे ही शुद्ध चैतन्य स्वभावकी प्राप्ति होती है। [तत्त्वज्ञान तरंगिणी ८.११]

भेद विज्ञानसे कर्म क्षय

जिसप्रकार अग्नि घासके ढेरको क्षणमात्रमें सुलगा देती है, उसी प्रकार भेद विज्ञानी महात्मा चैतन्य स्वरूपके प्रतिघातक ऐसे कर्मों के समूहको क्षणमात्रमें नष्ट कर डालते हैं। [तत्त्वज्ञान तरंगिणी ८.१२]

मोक्षका कारण—भेद विज्ञान

संवर तथा निर्जरा साक्षात् अपने आत्माके ज्ञानसे होते हैं, और आत्मज्ञान भेदज्ञानसे होता है; इसलिये मोक्षार्थीको वह भेदज्ञान भावना करने योग्य है। [तत्त्वज्ञान तरंगिणी ८.१४]

सम्यग्दर्शन

स्वकीय शुद्ध चिद्रूपमें रुचि वह निश्चयसे सम्यग्दर्शन है—ऐसा तत्त्व ज्ञानियोंने कहा है। यह सम्यग्दर्शन कर्मोंरूपी ईंधनको सुलगानेके लिये अग्नि समान है। [तत्त्वज्ञान तरंगिणी १२-८]

सम्यक्त्व का प्रभाव
(पशु और मानव)

नरत्वेऽपि पशुयन्ते मिथ्यात्वग्रस्तचेतः स ।
पशुत्वेऽपि नरायन्ते सम्यक्त्वव्यक्तचेतनाः ॥

[सागर धर्मामृत-गाथा ४]

जिसका चित्त मिथ्यात्वसे व्याप्त है—ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव, मनुष्यत्व होनेपर भी पशुसमान अविवेकी आचरण करता होनेसे पशु समान है, और सम्यक्त्व द्वारा जिसकी चैतन्य सपत्ति व्यक्त होगई है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पशुत्व होनेपर भी मनुष्य समान विवेकी आचरण करता होनेसे मनुष्य है।

भावार्थः—तत्त्वोंके विपरीत श्रद्धानरूप मिथ्यात्व-सहित जीव भले ही बाह्य शरीरसे मनुष्य हो तथापि अंतरमें वह हित-अहितके विवेकसे रहित होनेके कारण भावसे तो पशु है। और जिसे तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यक्त्व द्वारा चैतन्यकी स्वानुभूति रूपी संपत्ति प्रगट होगई है ऐसा जीव भले ही बाह्य शरीरसे पशु हो तथापि, अंतरमें हित-अहितका विचार करनेमें चतुर होनेसे मनुष्य समान है।

देखो, सम्यक्त्वके सद्भावसे पशु भी मानव कहलाते हैं, और उसके अभावसे मानव भी पशु कहलाता है—ऐसा सम्यक्त्वका प्रभाव है।

यद्यपि समस्त जीवोंकी अपेक्षासे मनुष्य सबसे अधिक विचारवान माना जाता है, परंतु उसका ज्ञान भी यदि मिथ्यात्व सहित हो तो वह हित-अहितका विचार नहीं कर सकता, इसलिये मिथ्यात्वके प्रभाव से वह मनुष्य भी विवेक रहित पशु समान हो जाता है, तब फिर दूसरे प्राणियों की तो बात ही क्या की जाय?

—और पशु मुख्यतः तो हित-अहितके विवेक रहित ही होते हैं, परन्तु कदाचित् किसी पशुका आत्मा भी यदि सम्यक्त्व सहित हो तो उसका ज्ञान हेय-उपादेय तत्त्वोंका ज्ञाता होजाता है, तब फिर जो सम्यक्त्व सहित मनुष्य हो उसकी महिमाकी तो बात ही क्या की जाय?

—ऐसा महिमावंत सम्यग्दर्शन आत्माका स्वभाव है।

× × × ×

परम पुरुषपद वह मोक्ष है। ऐसे परम पुरुषपदकी प्राप्तिके उपाय में जिसका आत्मा विचर रहा है वही वास्तवमें पुरुष है। सम्यग्दृष्टि-पशु का आत्मा परम पुरुषपदरूप मोक्षके मार्गमें स्थित होनेसे वह पुरुष है। और मिथ्यादृष्टि-मानवका आत्मा परम पुरुषपदके मार्गमें स्थित न होनेसे वह पुरुष नहीं किन्तु पशु है।

—❀ समाप्त ❀—

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्धि
७	१२-१३	लक्ष्यकी……..कराऊं	लक्ष्यरूप चैतन्य भगवान को परनिमित्त की अपेक्षासे पह-चान कराऊं
१०	१२	ऐसी	ऐसा
१२	८	से न	सेवन
१३	२४	सर्वज्ञके	सर्वके
१५	१३	भाइज्जइ	झाइज्जइ
१५	२२	भावनास	भावनासे
१६	२४	भणातेन	भणितेन
१६	१८	मन्न्यता	मान्यता
२५	२४	को के	के
३२	१३	रगाकी	रागकी
३६	२४	भावन	भावना
५५	३	कमका	कर्मका
१२७	१५	परार्थ	पदार्थ
१६५	१०	कष्ट	नष्ट
,,	२३	ज्ञान	ज्ञात
१७०	१०	पूव	पूर्वं
१७२	८	छोड़कर	छोड़कर अपनी
१७६	१७	रुई	हुई
१८२	१	सम्यक्‌दृष्टि के मिथ्या	सम्यग्दृष्टिपने के जूठे
,,	६	सम्यग्दर्शन को	सम्यग्दर्शन
१८४	१४	जानत	जानते
२३६	६	होता है	अर्हन्त और सिद्धमें मोक्ष-तत्त्वका समावेश होता है
१६३	१२	दशन	दर्शन
२३४	१६	जीव	जीव

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

द्वारा प्रकाशित

ग्रंथों की सूची

यह महान आध्यात्मिक ग्रन्थाधिराज है, जिसमें ज्ञानी अज्ञानी जीवों का स्वरूप, भेद विज्ञान, नव तत्व, कर्ता-कर्म, सर्व विशुद्ध ज्ञान, अनेकांत, ४७ शक्ति, मोक्षमार्ग का स्वरूप, साध्य साधक आदि का सुस्पष्ट वर्णन है। उस पर श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत सर्वोत्तम टीका है। अत्यन्त अप्रतिबुद्ध जीवों को भी जिसमें समझाया गया है। हिन्दी अनुवाद दूसरी आवृत्ति, प्रेस में छप रहा है।

यह शास्त्र भी महान ज्ञान निधि है, जिसमें सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र अधिकार द्वारा वस्तु तत्व का विज्ञान विस्तार सहित बतलाया है, यह भी जिनागम में सुप्रसिद्ध शास्त्र है। श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका सहित हिन्दी अनुवाद, दूसरी आवृत्ति, प्रेस में छप रहा है।

समयसार प्रवचन भाग १

[पृष्ठ ४८८ ❀ मूल्य ४–७५]

समयसारजी शास्त्र की गाथा १ से १२ ऊपर सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का अपूर्व प्रवचन है। निश्चय–व्यवहार की संधि पूर्वक यथार्थ मोक्षमार्ग की प्ररूपणा उत्तम ढंग से की गई है। यह अच्छी तरह संशोधित दूसरी आवृत्ति है। थोक लेने पर २५% कमीशन दिया जावेगा।

समयसार प्रवचन भाग २

पृष्ठ ५२० ❀ मूल्य ५–२५

समयसारजी शास्त्र की गाथा १३ से ३३ तक के प्रवचन इसमें दिये गये हैं।

समयसार प्रवचन भाग ३

पृष्ठ ५०० ❀ मूल्य ४–५०

समयसारजी शास्त्र की गाथा ३४ से ६८ तक के प्रवचन इसमें दिये गये हैं। समयसारजी मूल ग्रन्थ तथा सं० टीका का अर्थ समझने के लिये ये तीनों भाग अवश्य पढ़ना चाहिये।

जिसमें अध्याय एक से पांच तक के ऊपर पू० कानजी स्वामी के प्रवचनों का संग्रह है। प्रथम धर्म की शुरुआत कैसे करें, यह समझने के लिये अत्यन्त सुगम पढ़ने योग्य है।
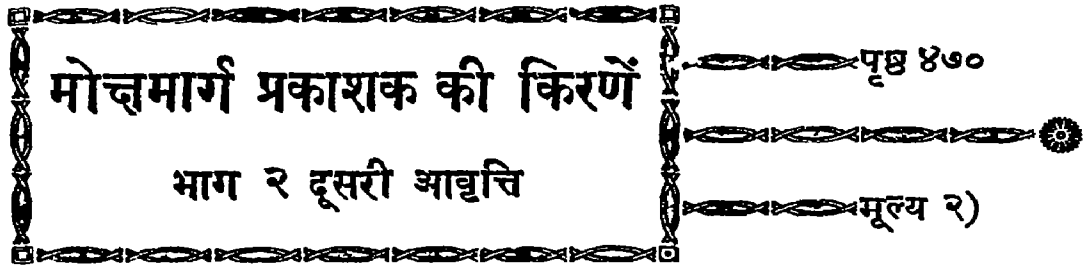
जिसमें अध्याय सात के ऊपर पू० कानजी स्वामी के प्रवचनोंका सग्रह है; निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी का क्या स्वरूप है, तथा उसकी प्रवृत्ति किस प्रकार की है। नव तत्त्व के सम्बन्ध में किस प्रकार की भूल अज्ञानी करते हैं तथा उसे सम्यग्ज्ञानादि की प्रवृत्ति में किस प्रकार की अयथार्थता रह जाती है, उसका विशद विवेचन है। सूक्ष्म और स्थूल गलत मान्यतायें आत्म हित में बड़ी बाधक हैं इसलिये उसे जानकर आत्म हित रूप सच्चे प्रयोजन के लिये यह ग्रन्थ एकाग्रचित्तसे पढ़ने योग्य है।

इसमें सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों का और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि का विस्तृत निरूपण सुगम और स्पष्ट शैली से किया गया है, सम्यक् अनेकांत पूर्वक नयार्थ भी दिये गये हैं, जिज्ञासुओं के समझने के लिये विस्तृत प्रश्नोत्तर भी नय-प्रमाण द्वारा सुसंगत शास्त्राधार सहित दिये गये हैं। अच्छी तरह सशोधित और कुछ प्रकरण में खास प्रयोजनभूत विवेचन भी है। यह शास्त्र महत्व पूर्ण होने से तत्त्वज्ञान के प्रेमियों को बार बार अवश्य पढ़ने योग्य है।
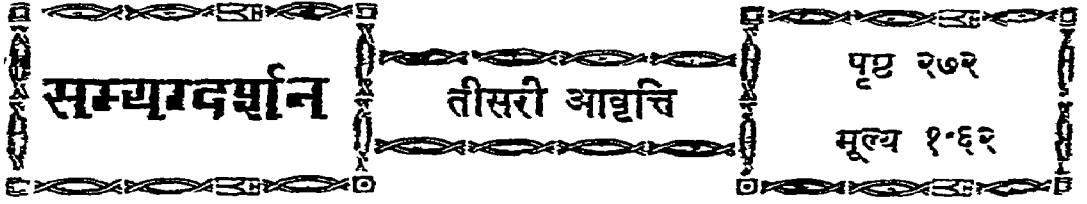
जिसमें अति सुन्दर वैज्ञानिक ढंग से तत्त्वज्ञान भरा है। सुख शांति का राह (उपाय) सम्यग्दर्शन से शुरू होता है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझे बिना संसार का परिभ्रमण कभी नहीं मिटता। अपूर्व दुर्लभ वस्तु आत्म साक्षात्कार निर्विकल्प अनुभव कैसे हो उसका बहुत सुन्दर ढंग से वर्णन है। सर्वज्ञ वीतराग कथित छहों द्रव्य को युक्ति दृष्टांत द्वारा सिद्ध करके स्पष्टता से बुद्धिगम्य बनाया है। सुशिक्षित जिज्ञासुओं में भी खास पढ़ने के लिये बाँटने योग्य है। (सम्यग्दर्शन भाग २ गुजराती भाषा में है)।

ज्ञानस्वभाव–ज्ञेय स्वभाव

[पृष्ठ ३९० ❀ मूल्य २–५०] [सिर्फ १५ पुस्तक शेष है]

इसमें क्रमबद्ध पर्याय तथा पुरुषार्थ के स्वरूप का विस्तार पूर्वक स्पष्टीकरण है। सम्यक् अनेकांत सहित सम्यक् नियतवाद, जिसमे पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म ये पच समवाय आदि आजाते हैं उसका विवेचन है, प्रवचनसार गाथा ९९ ऊपर के प्रवचनों का सार और ४७ नयों में से नियत, अनियत, काल, अकाल नय का वर्णन भी है।

मुक्ति का मार्ग

पृष्ठ १०३ ❀ मूल्य ०–५० [चौथी आवृत्ति]

सच्चे सुख रूप मोक्षमार्ग में प्रवेश करने के लिये प्रथम किस २ बात का ज्ञान जरूरी है उसका मुख्य रूप से वर्णन है। थोक खरीद कर प्रचार कीजिये।

भेदविज्ञानसार (प्रवचन)

पृष्ठ २७२ ❀ मूल्य २)

इसमें समयसारजी सर्वविशुद्ध ज्ञान अधिकार मे से गाथा ३९० से ४०४ तक के ऊपर खास सुगम व सुन्दर प्रवचनों का संग्रह है।

मूल में भूल

पृष्ठ १४० ❀ मूल्य ०—७५ [दूसरी आवृत्ति]

भैया भगवतीदासजी और कविवर बनारसीदासजी कृत निमित्त-उपादान के दोहों पर सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रवचन। जिसमें उपादानरूप निज शक्ति के अनुसार शुद्धरूप या अशुद्धरूप सभी परिणमन अपनी अपनी स्वतन्त्रता से होते है, अन्य तो निमित्रमात्र-व्यवहारमात्र कारण हैं, ऐसा न मानकर निमित्त के अनुसार कार्य मानना—मूलमें भूल है—यह स्पष्ट किया है।

निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है ?

पृष्ठ १८ दूसरी आवृत्ति मूल्य ०—१५

इस पुस्तिका में निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध का वर्णन है।

जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला

भाग १-२-३ प्रत्येक का मूल्य ०—६५ [सेठी ग्रन्थमाला से प्रकाशित]
(पृष्ठ सं० भाग १-१२९, भाग २-१३७, भाग ३-१३८)

जिसमें शास्त्राधारपूर्वक उत्तम प्रकार से जैन सिद्धान्त का सत्यस्वरूप समझने के लिये प्रश्नोत्तर दिये गये हैं। द्रव्य, गुण, पर्याय, अभाव, कर्ता—कर्मादि छह कारक, उपादान निमित्त तथा निमित्त नैमित्तिक, सात तत्त्व, प्रमाण-नय-निक्षेप, अनेकान्त और स्याद्वाद, मोक्षमार्ग, जीव के असाधारणभाव, गुणस्थानक्रम इत्यादि खास प्रयोजनभूत बातों का वर्णन स्पष्टता से किया है। काफी प्रचार हो रहा है, प्रथम भाग तीसरी बार छपा है।

जैन तीर्थ क्षेत्र पूजा पाठ संग्रह

पृष्ठ २६० ❀ मूल्य १–५०

जिसमें सभी सिद्धक्षेत्रों की प्राचीन बड़ी २ पूजा तथा सिद्ध क्षेत्र का परिचय दिया गया है। कहाँ से कहाँ जाना इसका वर्णन भी इसमें है।

स्तोत्रत्रयी (सटीक)

पृष्ठ ७८ मूल्य ०–५०

जिसमें कल्याणमंदिर स्तोत्र, भक्तामर और चतुर्विशति स्तोत्र तथा उनके अर्थ है। साथ ही आध्यात्मिक तत्त्वमय भावार्थ है।

(पाटनी ग्रन्थमाला से)

आध्यात्मिक पाठ संग्रह

पृष्ठ सं० ७६३ मूल्य ३–००

पाटनी ग्रंथमाला से प्रकाशित यह एक उत्तम ग्रन्थ है जिसमें समयसार नाटक, परमार्थवचनिका, स्वरूपसंबोधन, इष्टोपदेश, परमानन्द स्तोत्र, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, समयसार कलश, प्रवचनसार मूल गाथा के पद्यानुवाद तथा श्री दौलतरामजी, द्यानतरायजी आदि कवियों की सुन्दर रचनाऐं हैं; वैराग्य और भक्ति का प्रकरण भी है।

शासन प्रभाव

पृष्ठ सं० २४ ❀ मूल्य ०–१२

जिसमें सुन्दर चित्र सहित पूज्य कानजी स्वामी की जीवनी तथा जैनधर्म के सिद्धान्तों का और आपके द्वारा पवित्र प्रभावना के कार्यों का संक्षेप में वर्णन है।

लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका

पृष्ठ १०५ ❀ मूल्य ०—१६ [तीसरी आवृत्ति]

शास्त्राधार सहित और संक्षेप में खास प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान की जानकारी के लिये उत्तम मार्गदर्शक प्रवेशिका है।

जैन बाल—पोथी [सचित्र]

पृष्ठ ३२ ❀ मूल्य ०—२५

जिसमें ४८ सुन्दर चित्रों के माध्यम से मूल प्रयोजनभूत तत्त्व—ज्ञान समझाया गया है। इसे बालक बड़े प्रेम से पढ़ते है। अनेक भाषाओं में छप चुकी है। कई बार पांच हजार प्रतियें छप चुकी हैं। खास तौर से बालकों के लिये धर्म में रुचि पैदा करने के लिये उपयोगी है। धार्मिक अवसरों पर बांटना चाहिये।

वैराग्य पाठ संग्रह

पृ० ३३५ ❀ मूल्य १—२५ [पाटनी ग्रन्थमाला से]

इसमें श्री दौलतरामजी आदि के तथा ज्ञानदर्पण, ब्रह्मविलास, बनारसीदास, समयसार नाटक के अच्छे २ काव्य हैं।

भक्ति पाठ संग्रह

पृष्ठ १४५ ❀ मूल्य १—०० [पाटनी ग्रन्थमाला से]

जिसमें श्री समंतभद्राचार्य आदि से लेकर प्राचीन जैन कवियों की उत्तमोत्तम कृतियों का संग्रह है।

पंचमेरु और नन्दीश्वर पूजन विधान

पृष्ठ स० १७१ ❀ मूल्य ०—७५

जिसमें निर्वाण कल्याणक तथा रत्नत्रयादि पूजन भी है। पंचमेरु और नन्दीश्वर विधान आदि बड़ी पूजायें हैं।

ग्रंथ सूची

समयसार	छप रहा है
प्रवचनसार	छप रहा है
नियमसार	५-५०
पंचास्तिकाय संग्रह	४-५०
दशलक्षण धर्म (प्रवचन)	०-५०
छहढाला	०-८१
समयसार प्रवचन भाग १	४-७५
समयसार प्रवचन भाग २	५-२५
समयसार प्रवचन भाग ३	४-५०
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें भाग १	१-००
मोक्षमार्ग प्रकाशक की किरणें भाग २	२-००
मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्रजी)	५.००
सम्यग्दर्शन	१-६२
ज्ञानस्वभाव-ज्ञेयस्वभाव	२-५०
मुक्ति का मार्ग	०-५०
भेदविज्ञानसार	२-००
मूल में भूल	०-७५
निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है ?	०-१५
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३ प्रत्येक	०-६५
जैन तीर्थ क्षेत्र पूजा पाठ संग्रह-तीर्थ परिचय	१-५०
स्तोत्रत्रयी	०-५०

आध्यात्मिक पाठ संग्रह	३-००
शासन प्रभाव	०-१२
लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	०-१६
जैन बाल पोथी (सचित्र)	०-२५
वैराग्य पाठ संग्रह	१-२५
भक्ति पाठ संग्रह	१-००
पंचमेरु और नन्दीश्वर पूजन विधान	०-७५
आत्मधर्म (मासिक पत्र)	३-००
आत्मधर्म (पुरानी फाइलें) वर्ष १, ३, ५, ६, ७, ८, १० प्रत्येक का मूल्य	३-७५
अनुभवप्रकाश	०-५०
समयसार हिन्दी पद्यानुवाद	छप रहा है
अपूर्व अवसर काव्य पर प्रवचन	छप रहा है

सभी ग्रंथों पर डाक खर्च अलग लगेगा।

मिलने का पता—

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)